जीवन के चलचित्र

उपाध्याय श्री अमर मुनि

[अनेक ग्रन्थों के रचयिता]

प्रकाशक
रतनलाल जैन,
मन्त्री, श्री सन्मति-ज्ञान-पीठ,
लोहामंडी, आगरा।

वीर संवत्—२४७६ (चैत्र,)
विक्रम संवत्—२००६ (चैत्र)
ईस्वी संवत्—१९४९ (एप्रिल)

मूल्य दो रुपया

मुद्रक
श्री हरकिशन कपूर,
आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस,
आगरा।

दो शब्द

पूज्यवर उपाध्याय श्री अमरमुनिजी रचित 'जीवन के चलचित्र' नामक पुस्तक पाठकों के समक्ष रखते हुए मुझे विशेष आनन्द हो रहा है। मुनि महाराज भावों के बड़े सफल चित्रकार हैं। उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे अनेक शब्द-चित्र अंकित किये हैं, जिनसे मानवता का बहुत हित-साधन हो सकता है। मुनिजी की लेखन शैली की विशेषता और उसके द्वारा कथाओं का व्यावहारिक जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करना दोनों ही असाधारण बातें हैं। मैं तो समझता हूँ, साहित्य पर साधारण जनता का भी उतना ही ममत्व और अधिकार है जितना सुशिक्षित विद्वानों का। जीवनोपयोगी प्रश्नों और समस्याओं को साहित्यिकता के नाम पर शब्दाडम्बर अथवा भाषा के जगड्वाल में छिपाना उन्हें सर्वसाधारण की दृष्टि से ओझल कर देना है। प्रस्तुत पुस्तक में पाठकों तथा श्रोताओं की सुविधा एवम् सुरुचि का पूरा ध्यान रखा गया है। जहाँ इस पुस्तक से उनका मनोरंजन होगा वहाँ उन्हें शिक्षा भी यथेष्ट मिलेगी। सन्मति ज्ञान-पीठ यह भेंट पाठकों के सामने रखते हुए अपने को गौरवान्वित समझता है।

'रतन-निवास'
आगरा
महावीर-जयन्ती
चैत्र-शु ११ सं २ ८

रतनलाल जैन
प्रधान मंत्री
सन्मति-ज्ञान-पीठ

श्रद्धा पुष्प

भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध आँखों की अपेक्षा कानों से अधिक है। अवाम् युग की अधिकांश जनता कथा-वार्ता उपदेश-व्याख्यान कविता-कहानियाँ कहावत-कथानक और गीत-संगीत को सुन कर ही परम्परागत प्राप्त भारत-संस्कृति का प्रचार और प्रसार करती रही है। इसी रूप में यह संस्कृति अब तक सुरक्षित भी है। जनपदों में जो गीत-संगीत और कहावत-कहानियाँ प्रचलित हैं वे सब भारतीय भावनाओं और प्राचीन सभ्यता संस्कृति की द्योतक हैं। अनेक सीधे-सौम्य और सरल शब्दों में संक्षिप्त रूप से जो भव्य भाव भरे हुए हैं, वे गम्भीर चिन्तन और विस्तृत विवेचन द्वारा ही जाने जा सकते हैं। जितनी ही गहराई से इन तथ्यों का मनन किया जायगा उतना ही आनन्द और उपदेश प्राप्त होगा।

सुने-सुनाये ज्ञान की ही महिमा है कि आज इस देश के अपठित और निरक्षर व्यक्ति भी ज्ञान-सम्पन्न दिखाई देते हैं। वे सदाचार नीति धर्म दर्शन इतिहास-सम्बन्धी प्रायः सभी बातों को जानते हैं जिन्हें दूसरे देशों की शिक्षित जनता भी अच्छी तरह नहीं जान पाती। निःसन्देह हमारे प्राचीन पूज्य पुरुषाओं ने ज्ञान-विस्तार करने में सदैव सुरुचिपूर्ण सुबोध साधनों का अवलम्बन लिया और कथा-कहानियों द्वारा धर्म के मर्म को समझाने की यथेष्ट कोशिश की। गम्भीर ज्ञान-गरिमा का विवेचन करते हुए भी दृष्टान्तों की उपयोगिता को कभी विस्मृत नहीं किया। वस्तुतः साहित्य वही है जो शरीर को स्वस्थ मन को विशुद्ध और आत्मा को उच्च बना कर

विश्व कल्याण की ओर प्रेरित करता है। जिस साहित्य में जीवन या समाज को ऊँचा उठाने की शक्ति नहीं, उसे साहित्य कहना साहित्य शब्द का उपहास करना है। कल्पना-प्रसूत विस्तृत व्योम में निरुद्देश्य रूप से उन्मुक्ततापूर्वक विचरण करना साहित्य की सीमा में नहीं आता।

सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् और विचारक पूज्य श्री अमरमुनिजी उपाध्याय ने अनेक उपयोगी ग्रन्थ रचकर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है। वे गम्भीर ज्ञान सम्पन्न उच्च कोटि के तपस्वी सन्त हैं। उनकी लेखनी और वाणी से निःसृत विमल विचार-धारा का अमृत रसपान कर भावुक भक्त-समुदाय को अपार आनन्द प्राप्त होता है। इन्हीं मुनि महाराज ने इस पुस्तक में कुछ लोकोक्तियों और लोक कथाओं को संगृहीत कर उनमें अपनी अलौकिक लेखनी द्वारा प्राण संचार किया है। लोक में प्रचलित सीधी सादी उक्तियाँ मानव-जीवन के लिये किस प्रकार कल्याण कारिणी सिद्ध हो सकती हैं, इसी तत्व को पूज्य उपाध्यायजी ने दृष्टि-पथ में रखा है। मेरा विश्वास है कि जो व्यक्ति इन कहानियों को पढ-सुनकर हृदयङ्गम करेंगे वे जीवन सम्बन्धिनी कितनी ही गूढ गुत्थियों को सुलझाने में अनायास ही सफल तथा समर्थ होंगे। उपदेश की कड़वी कोयनेन को माधुर्य-मधु में पाक कर सर्वसाधारण के समक्ष रखने में मुनि महोदय बड़े सिद्धहस्त हैं। जिस प्रकार उनकी विमल वाणी से फूल झड़ते हैं उसी प्रकार ललित लेखनी से रस-बिन्दु टपकते रहते हैं। पाठक और श्रोता दोनों ही बड़ी सुरुचि से इन कलित कहानियों का रसपान कर कृतार्थ हो सकते हैं। कोई भी कहानी सन्देश शून्य या उद्देश्य हीन नहीं है। इन कहानियों को शब्द-समूह की सजीव प्रतिमा कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

पुस्तक का नाम भी बड़ा आकर्षक है—'जीवन के चलचित्र'। इन चलचित्रों में अपने की सचाई अतीत की गहराई और लोक की सुनी-सुनाई बातों का तात्त्विक और सात्त्विक दृष्टि से विवेचन किया गया है यही इनकी विशेषता है। प्रत्येक चित्र स्वाभाविक चित्रण-कला का सुन्दर प्रतीक है।

प्रत्येक चित्र भव्य भावना या भावुकता के मनमोहक रंगों की रंगीनी पाकर खिल उठा है। इसमें मानवता की विकास-भावना के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता। चित्रकार अपने कौशल में पूर्णरूप से सफल हुए हैं, अवश्य वे हमारी बधाई के पात्र हैं, और उनकी इस रुचिर रचना का जितना अभिनन्दन किया जाय थोड़ा है।

आगरा
शङ्कर-सदन
वैशाख कृ० १२ [illegible]

हरिशङ्कर शर्मा

पुनश्च—

प्रस्तुत पुस्तक मे कुछ कहानियाँ, श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय, श्री कन्हैयालालजी मिश्र प्रभाकर, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, श्री महात्मा भगवानदीनजी, तथा प० श्रीरामजी शर्मा आदि की हैं, जो 'ज्ञानोदय' 'जैन-जगत' एव 'विशाल-भारत' आदि पत्रों से ली गई हैं।

सपादक मुनिश्री जी के हृदय-रोग-ग्रस्त हो जाने एव दूर होने के कारण, प्रकाशन की शीघ्रता में, हम उनसे ठीक तरह सपर्क स्थापित नहीं कर सके, अतएव विद्वान लेखकों का यथा-स्थान उल्लेख नहीं किया जा सका। अब मुनिश्री की सूचना के अनुसार उक्त भूल का परिमार्जन किया जाता है।

मत्री,

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा.

पाठ विषय	पृष्ठ-संख्या
धर्म-ग्रन्थों की मथाई में से	
१—अमृतभागी सन्त	११
२—कौन बड़ा ?	१२
३—आचार्य शंकर और चाण्डाल	१३
४—मुनि और मौन	१४
५—स्वर्ग किसके लिए ?	१५
६—क्षमामूर्ति महावीर	१७
७—ईसा की क्षमा	१८
८—आह न उठाइए	१९
९—अहिंसा या हिंसा ?	२०
१०—हिंसा या अहिंसा ?	२१
११—सिर का मोल	२३
१२—सत्य अनन्त है	२४
१३—युधिष्ठिर और सच	२५
१४—असली धन	२७
१५—हनुमान की आदर्श भक्ति	२८
१६—आत्म-ज्ञान की परिभाषा	२९
१७—पैगम्बर की दया	३१
१८—प्रतिभा का चमत्कार	३२
१९—तिब्बत-नरेश का राष्ट्र-प्रेम	३३

पाठ विषय पृष्ठ-संख्या

पाठ विषय	पृष्ठ-संख्या

पाठ	विषय	पृष्ठ-संख्या

पाठ विषय	पृष्ठ-संख्या

जीवन के चलचित्र

उपाध्याय श्री अमर मुनि

—— ० ——

धर्म-ग्रन्थों की सचाई में से

अमृतयोगी सन्त

एक सन्त अपने आप में मगन कहीं चले जा रहे थे। मार्ग में एक चरवाहे ने उन से कहा— महाराज! इस पथ में तो एक भयंकर सर्प रहता है। उसकी विषैली फुफकार से मनुष्य की तो कौन कहे, पशु-पक्षी भी जीवित नहीं रह सकते। अतएव आप दूसरे पथ से जाइए।

सन्त ने जैसे उसकी बात सुनी ही नहीं। वह चुप-चाप उसी मार्ग से चलते रहे, और सीधे सर्प के द्वार पर आकर खड़े हो गए। आज उनके अन्तर्मन में विष को अमृत बनाने की एक विलक्षण कामना जाग उठी थी।

थोड़ी देर के पश्चात् सर्प विषैली वायु के बादल उगलता हुआ बाँबी से निकला। वह आश्चर्य में था कि 'यह कौन है, जो मेरे सिर पर ही आकर खड़ा हो गया है। क्या इसे मृत्यु का भय नहीं है?

सर्प ने क्रोध में आकर सन्त के पैरों में मुँह मारा, किन्तु सन्त फिर भी शान्त व आत्मसमभाव की अमृत लहरों में तैर रहे थे। कुछ देर विष और अमृत का यह द्वन्द्व युद्ध चलता रहा। आखिर अमृत ने विष पर विजय प्राप्त की।

सर्प को आत्म-बोध मिला। वह अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करता हुआ बिल में घुस गया। उस दिन से साँप ने किसी को काटा नहीं, किसी को मारा नहीं। वह सताया गया, फिर भी शान्त ही रहा और अमृतभाव की उपासना में लगा रहा।

यह सन्त भगवान महावीर थे। इनका मिशन था, विष के बदले में भी अमृत बाँटना। जिसके अन्दर जहर न हो, उसके लिए दुनिया में कहीं भी जहर नहीं है।

यह कथानक विराट् आत्मशक्ति का एक छोटा-सा निदर्शन है।

को ऽ रुक् ?

उपनिषद् में एक कथा आती है, जिस में एक जिज्ञासु किसी तत्त्ववेत्ता ऋषि से पूछता है—"को ऽ रुक् ? को ऽ रुक् ? नीरोगी कौन है ? नीरोगी कौन है ?"

विचारक ऋषि ने अभक्ष्य, अशुद्ध तथा अधिक खाने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए कहा—"हितभुक्, मितभुक्।"

ऋषि के उत्तर का भावार्थ यह है कि जो पथ्य खाने वाला और कम खाने वाला है, वह नीरोगी है, स्वस्थ है। हिन्दी का देहाती कवि घाघ भी कहता है —

"रहै निरोगी जो कम खाय,
बिगरै काम न, जो गम खाय।"

आचार्य शंकर और चाण्डाल

एक दिन प्रातः काल आचार्य शंकर गंगा-स्नान कर अपने आश्रम की ओर लौट रहे थे, तो उन्होंने मार्ग में सामने से एक चाण्डाल को अपने तीन-चार कुत्तों के साथ आते देखा। आचार्य ने उस अछूत चाण्डाल से जरा दूर हट जाने का आग्रह किया परन्तु उसने आचार्य की आज्ञा मानने से इन्कार किया और पूछा— 'हे स्वामिन्! आप किस को अपवित्र मानते हैं? मेरे इस नश्वर जड़ शरीर को अथवा अमर आत्मा को? किससे दूर हट जाने का आदेश देते हैं? जरा साफ बता दीजिए। मैं आपकी बातें ठीक-ठीक समझ नहीं पाता। आप तो अद्वैतवादी महात्मा हैं न? फिर छुआछूत का भेद-भाव आप के दिल में कैसे पैदा होता है?"

एक नीच चाण्डाल के मुँह से ये तर्क-सिद्ध बातें सुन कर आचार्य को बड़ा विस्मय हुआ। वे थोड़ी देर मन-ही-मन उस की बातों पर गंभीरता से विचार करने लगे। आखिर उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई। वे विनम्र भाव से उस चाण्डाल के पैरों पर गिर पड़े और क्षमा माँगी।

लोगों का विश्वास है कि वह चाण्डाल स्वयं भगवान् शिव जी थे जो शंकराचार्य की परीक्षा लेने के इरादे से एक पतित अछूत के रूप में आये थे। चाहे जो हो इस घटना से एक बात स्पष्ट मालूम हो जाती है और वह यह कि एक हरिजन ने भी शंकराचार्य को अद्वैतवाद के व्यावहारिक आदर्शों का सच्चा स्वरूप सिखा दिया था जिस के बिना उनका वेदान्त मत अधूरा रह जाता।

मुनि और मौन

एक बार कुछ भले घराने के भिक्षु वर्षावास के लिए एक आश्रम में ठहरे। उन्होंने सोचा "क्या उपाय किया जाए कि हम सब विवाद रहित हो विहार करें"। तब उन्होंने अपने-अपने रहने के लिए नियम बनाए। जो भिक्षा माँगकर पहले आए, वह आसन बिछाए, पीने और धोने का पानी रखे। बाद में जो आए, वह जो-कुछ बचा हो, खाए। आसन आदि समेटे। चौका साफ करे। पानी के बरतनों को खाली देखे तो भर दे। न भर सकता हो तो इशारे से दूसरे को कहे पर कोई किसी से बोले नहीं।

इस तरह मौन रहकर उन भिक्षुओं ने चौमासा बिताया। चौमासा बिताने के बाद वे सब बुद्ध के दर्शन को गए। बुद्ध ने कुशल क्षेम पूछा। उन्होंने अपनी सब कहानी कही, जैसे कि रहने के नियम बनाकर उन्होंने मौन रहकर चौमासा बिताया था।

भगवान बुद्ध ने उन की कहानी सुनकर कहा— "इन मोघ पुरुषों ने पशुओं की तरह ही एक साथ सहवास किया है, फिर भी वे समझते हैं कि हमने अच्छी तरह वर्षावास किया।" इन्होंने भेड़ों की तरह एक साथ सहवास किया, फिर भी ये समझते हैं कि इन्होंने अच्छी तरह सहवास किया है। भगवान् ने कहा है —"न मोनेन मुनी होति"—मौन रहने से मुनि नहीं होता। "यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति"—जो दोनों लोकों का मनन करता है, वही मुनि होता है।

विनय पिटक—१८६

स्वर्ग किसके लिए?

धर्मराज युधिष्ठिर जीवन की अन्तिम महायात्रा के लिए हिमालय में विचरण कर रहे थे। द्रौपदी और शेष पाण्डव हिमराशि में गल चुके थे। एक मात्र साथी रहा था मैदान से साथ-साथ चला आने वाला कुत्ता।

महाराज युधिष्ठिर और कुत्ता दोनों बढ़े जा रहे थे हिमालय के ऊँचे हिम-शिखरों की ओर। सहसा इन्द्र का भेजा मातलि रथ लेकर उपस्थित हुआ।

"महाराज! देवराज इन्द्र आपको शीघ्र ही स्वर्ग में बुला रहे हैं कृपया रथ पर सवार हो जाएँ। मातलि ने प्रार्थना की मुद्रा में कहा।

"साथी! आओ अब स्वर्ग चलें। तू रथ पर पहले चढ़। तेरा अधिकार प्रथम है। युधिष्ठिर ने कुत्ते को सम्बोधित करते हुए कहा।

'धर्मराज! यह क्या करते हैं? कुत्ते को यहीं छोड़ दीजिए। कुत्ता स्वर्ग में नहीं जा सकता। मातलि ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा।

'अरे! यह भी तो ईश्वर का पुत्र है। जानते हो कितनी दूर से आशा और प्रेम के पाश में बँधा यह हमारे साथ-साथ चल कर आया है? भला यह मँझधार में यहाँ अकेला कैसे छोड़ा जा सकता है?

धर्म-ग्रन्थों की सचाई में से

"धर्मराज! कुत्ता फिर भी कुत्ता ही है। पधारिए, रथ पर बैठ कर स्वर्ग चलें। क्या करूँ, कुत्ता स्वर्ग में नहीं जा सकता।"

"तो मातलि! मुझे तुम्हारा स्वर्ग नहीं चाहिये। अपने परम देवता इन्द्र से कह देना कि युधिष्ठिर स्वर्ग के द्वार पर आये हुए कुत्ते को इसलिए छोड़कर नहीं आया क्योंकि कुत्ते का अपमान किया गया है। यदि स्वर्ग में भी इतना अन्याय है, तो मेरी धरती ही क्या बुरी थी? युधिष्ठिर अपने साथी को छोड़ कर, फिर भले वह कुत्ता ही हो, स्वर्ग जाना पसन्द नहीं करता। साथी के साथ मेरे लिए नरक भी स्वर्ग है। और साथी के बिना स्वर्ग भी नरक!"

धर्मराज युधिष्ठिर के इतना कहते ही कुत्ता एक देवता बन जाता है, और वह युधिष्ठिर के चरणों में प्रणाम करके कहता है —

"धर्मराज! मैं धर्म हूँ। कुत्ता बन कर तुम्हारे पीछे-पीछे तुम्हारा परीक्षा लेने आया था। मैं यह देख रहा था कि आपकी स्वर्ग की तृष्णा अपने व्यक्तिगत सुख के लिए है, या सिद्धान्तों की विजय के लिये? आप अपने सर्वोदय के सिद्धान्त में विजयी हुए है। आज आपका स्पर्श करके मैं पवित्र हो गया हूँ।"

वस्तुत स्वर्ग उन्हीं के लिए है, जो अपने पड़ौसी के हित के लिए उसे ठुकराने की क्षमता रखते है।

क्षमामूर्ति महावीर

भारत के एक महान् सन्त आज से लगभग दो हजार पाँचसौ इक्कीस वर्ष पहले नदी के तट पर ध्यान लगाए खड़े थे। उनके चारों ओर हरा भरा जंगल था और शीतल सुगन्धित बयार मन्थर गति से बह रही थी। सन्त ध्यान में लीन थे नेत्र बन्द किए हुए अपने आप में अपने को खोजते-से।

अचानक उनके सामने एक ग्वाला आकर खड़ा होगया घबराया और कुछ चिन्तित-सा। वह बोला—"महाराज! आपने मेरे बैल तो नहीं देखे? इसी जंगल में चर रहे थे।"

सन्त तो ध्यान-मग्न थे। भला ग्वाले की बात कैसे सुनते और कैसे उसका उत्तर देते? उनको मौन देख ग्वाला अपने बैल ढूँढता हुआ आगे चला गया। थोड़ी देर बाद वह फिर वहीं आ पहुँचा तो देखता क्या है कि बैल सन्त के आस-पास चर रहे हैं, और सन्त उसी तरह नेत्र बंद किए खड़े हैं।

अब तो ग्वाले का क्रोध भड़क उठा। वह चीखकर बोला "बस बस मैं समझ गया! तू महात्मा नहीं पाखण्डी है। तूने ही चुराने की नीयत से बैल छिपा रक्खे थे। अच्छा अब मैं तुझे तेरी करनी का कैसा अच्छा मजा चखाता हूँ।"

यह कह कर ग्वाला सन्त पर तड़ातड़ लाठियाँ ढेले और पत्थर बरसाने लगा। परन्तु सन्त ज्यों के त्यों शान्त भाव से खड़े रहे न कुछ हिले-डुले और न कुछ बोले-चाले। अब तो

ग्वाले के आश्चर्य की सीमा न रही। वह एक दम सन्त के चरणों पर गिर पड़ा और दीन स्वर में बोला—"महाराज! मेरा अपराध क्षमा कीजिए। मैं मूर्ख हूँ, अज्ञानी हूँ।"

सन्त के हृदय के कण-कण पर प्रेम की गंगा बह रही थी। अपराधी पर भी इतना अधिक वात्सल्य भाव! उनके अन्तर्मन ने कहा—'वत्स, तुम्हारा कल्याण हो।'

यह क्षमाशील कौन थे? यह थे भगवान् महावीर स्वामी, जो ज्ञान पाने से पहले शून्य वन भूमि में आत्म-साधना कर रहे थे, अपने जीवन को माँज रहे थे।

ईसा की क्षमा

ईसा से एक आदमी कटु वचन बोल रहा था और वे उस से नम्र और मधुरता से बातें कर रहे थे।

एक दूसरे आदमी ने देखा तो कहा—"आप इस दुष्ट से ऐसी नरमी का बर्ताव क्यों कर रहे हैं?"

ईसा ने हँस कर कहा—"वस्तु में से वैसा रस तो टपकेगा, जैसा कि उस में होगा।"

जड़ न उखाड़िए

परम्परागत अनुश्रुति है कि एक बार भगवान् बुद्ध अपने संघ सहित कौशाम्बी में गए। वहाँ एक जमींदार ने उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रित किया। भोजन के बाद वह बुद्ध सहित संघ के सब लोगों को अपने बाग की सैर कराने ले गया। बाग बड़ा सुन्दर था परन्तु उस के बीचों-बीच एक बड़ा-सा स्थान था जिस पर एक भी पेड़ न था। संघ के लोगों ने जमींदार से पूछा— बात क्या है ? इस स्थान पर वृक्ष क्यों नहीं ?

जमींदार ने नम्रतापूर्वक कहा— महाश्रमणगण ! बात यह थी कि जिन दिनों यह बाग लगाया जा रहा था उन दिनों मैंने एक लड़के को इस बात पर नियुक्त किया था कि वह वृक्षों को सींचे। पहले तो वह सब वृक्षों को एक समान पानी देता रहा बाद में उसे ध्यान आया कि इस से क्या लाभ ? जिस पौधे की जड़ जितनी गहरी हो उसे उतना ही अधिक पानी देना चाहिए और जिसकी जड़ छोटी हो उसे उतना ही कम ! उसने यही करना शुरू किया। वह पहले पौधों की जड़ उखाड़ कर उसकी लंबाई देखता और बाद में उन्हें पुनः गाड़ कर उसी अनुपात से पानी देता। परिणाम यह हुआ कि सभी पौधे सूख गए।

मनुष्य को अति तर्क के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। किसी को कुछ देना हो तो सहज भाव से अपनी शक्ति-अनुसार दे डालिए। लंबी बहस के द्वारा उसकी जड़ उखाड़ कर देखने का प्रयत्न ठीक नहीं है। किसी का गुप्त भेद जान कर क्या लेना है ? ऐसा करने से उपकार का बाग सूख जाता है।

अहिंसा या हिंसा ?

एक चोर एक भिक्षु को बहुत तंग करता था। भिक्षु बेचारा बहुत असमर्थ था, करता भी क्या ? चोर अपनी हरकत से बाज नहीं आता था। एक दिन चोर ने साधु को बहुत तग किया। साधु ने भी उस से तग आकर एक रज्जु-यन्त्र बना रखा था। साधु की वस्तुएँ लेते समय चोर का हाथ उस रज्जु-यन्त्र पर पड़ा और वह उस मे अपने आप ही बँध गया।

चोर के बँध जाने पर भिक्षु ने उसकी पीठ पर खासा अच्छा प्रहार किया, और कहा

"बुद्ध सरणं गच्छामि।"

फिर दूसरा प्रहार किया और कहा—

"धम्म सरणं गच्छामि।"

फिर तीसरा प्रहार किया, और कहा—

"सघ सरणं गच्छामि।"

तीन प्रहारों से चोर तिलमिला गया और कहा कि मुझे अब छोड दो, जो तुम कहोगे, वही करूँगा। भिक्षु ने उसे छोड दिया।

तब चोर ने भिक्षु से कहा कि यह तो बड़ा कुशल था कि कृपालु बुद्ध ने तीन ही शरण का विधान किया था। यदि कहीं चार शरण का विधान होता तो तुम मुझे मार ही डालते।

—दिव्यावदान [चीनी ग्रन्थ]

हिंसा या अहिंसा ?

मालव देश के कुछ म्लेच्छ शबर लोग जो लूटमार का काम करते थे एक बार किसी गाँव पर चढ़ आए। कुछ आर्यिकाओं और एक क्षुल्लक साधु को उठा ले गए। जंगल में जा कर उन्होंने इन को एक लुटेरे को सौंप दिया और वे सब पास के किसी गाँव से दूसरे लोगों का अपहरण करने चले गए।

थोड़ी देर बाद पहरेदार लुटेरे को प्यास लगी तो उसने कहा—'तुम यहाँ चुपचाप बैठे रहना मैं भीतर बावड़ी में जाकर पानी पी आता हूँ। वह पानी पीने बावड़ी में उतर गया। गरमी की शाम भी ढलने लगा।

क्षुल्लक ने सोचा क्या हम सब मिलकर भी इस अकेले आदमी के लिए पर्याप्त नहीं हैं? यदि यह अवसर चूक गए तो फिर इन साध्वियों का क्या होगा? क्या इन सब को अपने धर्म से—सतीत्व से—हाथ न धोना पड़ेगा?

क्षुल्लक ने साध्वियों को चोर पर आक्रमण करने का इशारा किया। सबने आस-पास से बड़े-बड़े पत्थर इकट्ठे कर लिए। क्षुल्लक ने एक बड़ा पत्थर अचानक ही चोर के ऊपर फेंक कर मारा। उसी समय सब साध्वियों ने भी मिल कर एक साथ चोर पर पत्थर बरसाने शुरू कर दिए। अन्ततः चोर मर गया और इन सब को उसके पंजे से छुटकारा मिला।

यह कथा जैन-साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ व्यवहार भाष्य की है, जो जैन धर्म के अहिंसा सम्बन्धी दृष्टिकोण को नये रूप में उपस्थित करती है। जो वृद्ध क्षुल्लक साधु ने किया, वह उस समय उसका कर्त्तव्य था। यदि नहीं, तो फिर आप क्या सुझाव देते हैं ? बाहर की क्षणिक अहिंसा या हिंसा के फेर मे नारी-को सदा के लिए गुडों के हाथ बर्बाद कर देना, क्या बड़ा धर्म है, आदर्श है ?

सिर का मोल

सम्राट् अशोक भिक्षुओं की वन्दना किया करते थे। उनके मन्त्री यश को यह बात अच्छी न लगी। उसने अशोक से कहा—"महाराज इन बुद्ध-मत के साधुओं में सब जाति के लोग होते हैं। अपने अभिषिक्त सिर का इनके आगे झुकाना ठीक नहीं है।" अशोक ने यश को उस समय कुछ उत्तर नहीं दिया और थोड़े दिन बाद बकरे-भेड़ आदि मेध्य प्राणियों के सिर मँगाकर उनको बेचने के लिए अपने लोगों को भेजा। यश को मृत मनुष्य का सिर देकर बेच लाने को कहा। बकरे आदि के सिर बिक गए। कुछ पैसा भी मिला। पर मनुष्य का सिर किसी ने भी नहीं लिया। तब अशोक ने यश से कहा कि इस मनुष्य के सिर को बिना दाम लिए ही किसी को दे दो। पर उस सिर को बिना दाम के भी किसी ने नहीं लिया। लेने की बात तो दूर, जहाँ यश सिर ले जाता लोग घृणा करते। उसे कोई पास भी खड़ा न होने देता। बाद में यश ने अशोक से कहा कि मुफ्त में भी इस सिर का लेने वाला कोई नहीं है।

सम्राट् अशोक ने पूछा— "इसे लोग मुफ्त भी क्यों नहीं लेते?" यश ने कहा—"महाराज इस सिर से लोग घृणा करते हैं।" अशोक ने फिर पूछा— "क्या इसी सिर से लोग घृणा करते हैं, या सब मनुष्यों के सिर से घृणा करते हैं?" यश ने कहा— महाराज किसी भी आदमी का सिर काट कर ले जाया जाए, लोग उससे घृणा करेंगे।

धर्म-ग्रन्थों की सच्चाई में से

यह कथा जैन-साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ व्यवहार भाष्य की है, जो जैन धर्म के अहिंसा सम्बन्धी दृष्टिकोण को नये रूप में उपस्थित करती है। जो कुछ क्षुल्लक साधु ने किया, वह उस समय उसका कर्त्तव्य था। यदि नहीं, तो फिर आप क्या सुझाव देते हैं? बाहर की क्षणिक अहिंसा या हिंसा के फेर में नारी-जीवन को सदा के लिए गुंडों के हाथ बर्बाद कर देना, क्या बड़ा धर्म है, आदर्श है?

सिर का मोल

सम्राट् अशोक भिक्षुओं की वन्दना किया करते थे। उनके मन्त्री यश को यह बात अच्छी न लगी। उसने अशोक से कहा— 'महाराज इन बुद्ध-मत के साधुओं में सब जाति के लोग होते हैं। अपने अभिषिक्त सिर को इनके आगे झुकाना ठीक नहीं है।" अशोक ने यश को उस समय कुछ उत्तर नहीं दिया और थोड़े दिन बाद बकरे-भेड़ आदि मेध्य प्राणियों के सिर मँगाकर उनको बेचने के लिए अपने लोगों को भेजा। यश को मृत मनुष्य का सिर देकर बेच आने को कहा। बकरे आदि के सिर बिक गए। कुछ पैसा भी मिला। पर मनुष्य का सिर किसी ने भी नहीं लिया। तब अशोक ने यश से कहा कि इस मनुष्य के सिर को बिना दाम लिए ही किसी को दे दो। पर उस सिर को बिना दाम के भी किसी ने नहीं लिया। लेने की बात तो दूर, जहाँ यश सिर ले जाता लोग घृणा करते। उसे कोई पास भी खड़ा न होने देता। बाद में यश ने अशोक से कहा कि मुफ्त मे भी इस सिर का लेने वाला कोई नहीं है।

सम्राट् अशोक ने पूछा— "इसे लोग मुफ्त भी क्यों नहीं लेते?" यश ने कहा— 'महाराज इस सिर से लोग घृणा करते हैं।' अशोक ने फिर पूछा—"क्या इसी सिर से लोग घृणा करते हैं, या सब मनुष्यों के सिर से घृणा करते हैं?" यश ने कहा— महाराज किसी भी आदमी का सिर काट कर ले जाया जाए, लोग उससे घृणा करेंगे।

जो ये चार भाई मरे पड़े हैं, उनमें से एक को उठा लीजिए, मैं उसे जीवन दान दे दूंगा।"

यक्ष ने पूछा—"आप किसे उठायेंगे ?" धर्मराज ने कहा—"नकुल को।" यक्ष को बड़ा आश्चर्य हुआ कि "यह अर्जुन और भीम जैसे समय पर काम आने वाले महा पराक्रमी बन्धुओं को छोड़ कर नकुल को क्यों बचाना चाहता है ? नकुल बेचारा क्या सहयोग दे सकता है ?"

धर्मराज ने उत्तर दिया—"नकुल मेरा सब से छोटा भाई है, और छोटी माता का लड़का है। उसे जीवन मिलने से मुझे सर्वाधिक आनन्द होगा क्योंकि जिस प्रकार मेरे अस्तित्व से मेरी माता की स्मृति सुरक्षित है, उसी प्रकार नकुल के जीवित होने से मेरी छोटी माता की स्मृति भी सुरक्षित रहेगी। अन्यथा उसका स्मृति-चिन्ह क्या शेष रहेगा ?"

युधिष्ठिर की इस प्रकार विराट् धर्मबुद्धि देखकर यक्ष अत्यन्त प्रसन्न हुआ, और अकेले नकुल को नहीं, अपितु चारों भाइयों को जीवन-दान दे दिया।

इस कथा का भावार्थ यह है कि छोटे भाइयों की चिन्ता करने से सब का काम बन जाता है। हमें अपने हृदय में बड़ों की अपेक्षा छोटों को अधिक स्थान देना चाहिए।

युधिष्ठिर और यक्ष

एक बार धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदी और अपने चार भाइयों के साथ वनवास में घूम रहे थे और घूमते-घूमते विराट् नगरी के पास वन में आ पहुँचे थे। दोपहर का समय था प्यास लगी। पानी के लिए घूमते रहे, परन्तु नहीं मिला। आखिर युधिष्ठिर आदि सब थक कर बैठ गए और नकुल को पानी लाने भेजा। वह बेचारा चलता-चलता एक जल से भरे हुए सुन्दर तालाब पर पहुँच गया। ज्यों ही पानी भरने लगा एक ओर की आवाज आई। तालाब के रक्षक यक्ष ने कहा— 'बोलो तुम कौन हो? यदि मेरे प्रश्नों का समाधान किए बिना हठात् पानी लेने का प्रयत्न करोगे तो समाप्त हो जाओगे।

नकुल ने नहीं माना। इसलिए वह यक्ष की शक्ति से प्राणहीन-सा हो गया तत्काल मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा। बहुत देर तक नकुल की प्रतीक्षा की किन्तु जब वह न लौटा तो सहदेव को भेजा। उसका भी वही हाल हुआ। अर्जुन और भीम भी गए किन्तु उनकी भी वही स्थिति हुई। अन्त में धर्मराज युधिष्ठिर पहुँचे। यक्ष ने उनसे भी यह कहा कि— 'यदि प्रश्न का उत्तर न दोगे तो तुम्हारा भी वही हाल होगा जो तुम्हारे चार भाइयों का हुआ है।

धर्मराज ने सभी प्रश्नों का नम्रतापूर्वक उत्तर दिया। इस पर यक्ष ने प्रसन्न होकर कहा— मैं आपके समाधान से बहुत प्रसन्न हूँ। आप यथेष्ट पानी ले जा सकते हैं और आपके

धर्म ग्रन्थों की सच्चाई में से

जो ये चार भाई मरे पड़े हैं, उनमें से एक को उठा लीजिए, मैं उसे जीवन दान दे दूंगा।"

यक्ष ने पूछा—"आप किसे उठायेंगे ?" धर्मराज ने कहा—"नकुल को।" यक्ष को बड़ा आश्चर्य हुआ कि "यह अर्जुन और भीम जैसे समय पर काम आने वाले महा पराक्रमी बन्धुओं को छोड़ कर नकुल को क्यों बचाना चाहता है ? नकुल बेचारा क्या सहयोग दे सकता है ?"

धर्मराज ने उत्तर दिया—"नकुल मेरा सब से छोटा भाई है, और छोटी माता का लड़का है। उसे जीवन मिलने से मुझे सर्वाधिक आनन्द होगा क्योंकि जिस प्रकार मेरे अस्तित्व से मेरी माता की स्मृति सुरक्षित है, उसी प्रकार नकुल के जीवित होने से मेरी छोटी माता की स्मृति भी सुरक्षित रहेगी। अन्यथा उसका स्मृति-चिन्ह क्या शेष रहेगा ?"

युधिष्ठिर की इस प्रकार विराट् धर्मबुद्धि देखकर यक्ष अत्यन्त प्रसन्न हुआ, और अकेले नकुल को नहीं, अपितु चारों भाइयों को जीवन-दान दे दिया।

इस कथा का भावार्थ यह है कि छोटे भाइयों की चिन्ता करने से सब का काम बन जाता है। हमें अपने हृदय में बड़ों की अपेक्षा छोटों को अधिक स्थान देना चाहिए।

असली धन

भगवान् बुद्ध एक वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित बैठे हुए थे। सहसा जोर-जोर से रोने चिल्लाने की आवाज कानों में पड़ी। भगवान् बुद्ध ने नेत्र खोले। देखा एक आदमी बदहवास चिल्लाता हुआ उनकी ओर भागा आ रहा है। पास आने पर भगवान् ने पूछा— 'भद्र ! इतने विकल क्यों हो ?"

'भगवन् ! मैं बर्बाद होगया ! वह देखिए, डाकू मेरे परिवार को लूट रहे हैं। लाखों के रत्न आभूषण छीन लिए हैं।" —आगन्तुक ने आर्त मुद्रा में हाथ जोड़ते हुए कहा।

बुद्ध शीघ्रता से डाकुओं के पास पहुँचे। उन्हें उपदेश दिया। डाकू बुद्ध के उपदेश से इतने प्रभावित हुए कि लूटा हुआ सब धन धनिक को लौटा दिया और भविष्य में डाका डालने का परित्याग कर दिया।

बुद्ध ने अब धनिक से कहा—"तुम इसी धन के लिए इतने विकल हो रहे थे। यह धन तो आभास है, सत्य नहीं। यह एक दिन कमाया जाता है, और खोने के बाद एक दिन फिर कमाया जा सकता है। परन्तु तुम्हारा जो वास्तविक सच्चा धन है, वह दिन-रात प्रतिक्षण लुटा जा रहा है, तुम उसके लिए तनिक भी विकल नहीं होते !'

"देव ! मेरा वह कौन-सा धन है जो दिन-रात प्रतिक्षण लुट रहा है, परन्तु जिसका मुझे पता भी नहीं ?"

"वत्स! वह तेरा आत्म-धन है। सत्य और अहिंसा आदि निज गुण ही वस्तुत मनुष्य की असली सपत्ति है। वह एक वार लुट जाने के वाद दुवारा प्राप्त होनी सहज नहीं है। विषय-वासनाओं के द्वारा वह सम्पत्ति प्रतिक्षण लूटी जा रही है और तुझे उसका तनक भी पश्चात्ताप नहीं।"

धनिक अन्तर मे जाग उठा। कहते हैं, उसने अपनी सब सम्पत्ति परोपकार के पवित्र पथ पर सहर्ष समापत कर दी।

हनुमान की आदर्श भक्ति

एक वार हनुमानजी से किसी ने पूछा—'आप इतने वडे वलवान् भीमकाय हैं, फिर भी आपने रावण का नाश क्यों न कर दिया?

हनुमानजी ने कहा—'वह राक्षसाधम मेरे सामने कुछ भी चीज न था, परन्तु यदि मै रावण को मार डालता, तो राम की कीर्ति नष्ट हो जाती।'

आत्म-घात की परिभाषा

महाबली अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे गाण्डीव धनुष की निन्दा करेगा मैं उसकी हत्या करके ही अन्न पीऊँगा। पर मैं सब लोगों को यह मालूम था पर शोक का आवेग प्रबल होता है युधिष्ठिर ही महाभारत-युद्ध में एक दिन कह बैठे कि धिक्कार है अर्जुन तेरे गाण्डीव को जो यह अभिमन्यु की रक्षा न कर सका।

अर्जुन ने कहा—"यह तो जो हुआ है सो ठीक है, पर अब आप जीवित नहीं रह सकते और मैं आपकी हत्या करके ही अन्न पीऊँगा।

अर्जुन की बात सुनी तो सब सन्न क्योंकि सभी उसकी गंभीरता से परिचित थे। मामला बिगड़ता देख कर कृष्ण बीच में आ बैठे और बोले—"ठीक है तुम्हारी प्रतिज्ञा की पूर्ति होनी ही चाहिए, क्योंकि जिसकी प्रतिज्ञा अपूर्ण रहे, वह कैसा क्षत्रिय? आइए, धर्मराज यहाँ बैठिए और अर्जुन का अपना काम करने दीजिए।

धर्मराज सामने आ बैठे। अब मामला और भी संगीन दिखाई दिया। पर, तभी नीति-शिरोमणि कृष्ण ने कहा—"अर्जुन तुम्हारी प्रतिज्ञा हत्या करने की है, सिर काटने की तो नहीं। और शास्त्रों में तो कहा है कि किसी के सामने सज्जन को कड़वे शब्दों में भर्त्सना करना भी हत्या है। तुम इसी रूप में धर्मराज की हत्या कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकते हो।"

प्रतिज्ञा पूरी हुई, लोगों का बोझ उतरा, पर तभी भीम ने एक नई फुलझड़ी छोड़ दी। उसने कहा—"हम सब भाइयों की प्रतिज्ञा है कि यदि हम भाइयों में से किसी एक की मृत्यु हो गई, तो बाकी भी आत्महत्या कर लेंगे। अब क्योंकि धर्मराज की मृत्यु होगई है, इसलिए हम सबको भी चितारोहण करना चाहिए।" वातावरण फिर ज्यों का त्यों गभीर होगया। कृष्ण ने सोचकर कहा—"परिणाम कुछ भी हो, प्रतिज्ञा की पूर्ति तो होनी ही चाहिए, पर आपकी प्रतिज्ञा जीवन का अन्त करने की नहीं, आत्महत्या करने की है। शास्त्रों म अपनी प्रशसा आप करने को आत्मघात ही माना है। आप लोग भी अपने गुणों का स्वय बखान करके यह प्रतिज्ञा-पूर्ति करें।' सबने अपनी-अपनी डींग हाँकी और उठ खड़े हुए।

पैगम्बर की दया

एक बार पैगम्बर साहब खुदा की याद में मस्त थे। उन्हें देखकर पास ही काम करने वाला एक श्रद्धालु किसान उनके दर्शन के लिए वहाँ आया। बंदगी अदा करने के बाद भेंट स्वरूप उसने दो अंडे उनके सामने रक्खे। अंडों को देखकर पैगम्बर साहब को बड़ी वेदना हुई। और वह उससे कहने लगे—

'तुझे ये कहाँ मिले ?

"एक पेड़ के घोंसले में साहब !"

"वहाँ इनकी माँ नहीं थी ?

'जी साहब नर-मादा दोनों ही थे।

'जब तूने इनको उठाए तो उन्होंने क्या किया ?"

"चोंच कर रहे थे और चारों ओर चक्कर काट रहे थे।"

"तेरे कितने बच्चे हैं ?"

"जी साहब मेरे तीन लड़के हैं।

तेरे पास से उन्हें कोई उठा ले जाए तो कैसा लगेगा ?

"मुझे पीड़ा होगी साहब मैं पीड़ा और शोक से बड़ा उदास हो जाऊँगा।"

कोई उन्हें आराम से तेरे घर वापस पहुँचा दे तो ?

'मुझे बड़ी खुशी होगी और मैं ईश्वर को धन्यवाद दूँगा।"

"ये अंडे अगर तू वापस पहुँचाए तो क्या होगा ?

'पक्षियों को बड़ी खुशी होगी। वे आनन्द से नाच उठेंगे। ईश्वर के गुण गाएंगे।

यह सुन कर पैगम्बर को सलाम करके वह उठा और अंडे जहाँ से लाया था वहाँ ले जाकर सुरक्षित रख दिए।

प्रतिभा का चमत्कार

एक वार देवता-गण यह निश्चय करने बैठे कि हम मे सर्वोच्च स्थान किस का है ? निर्णय हुआ कि जो सब से पहले ब्रह्माण्ड की सात परिक्रमाएँ कर आए, उसे ही देवताओं मे प्रथम स्थान दिया जाय।

अब चल पड़े देवता परिक्रमाएँ लगाने के लिए। कोई गरुड़ पर चढ़ दौड़ा तो कोई मयूर पर। परन्तु चूहे पर सवारी करने वाले भारी भरकम लबोदर गणेशजी उदास होकर बैठे रहे क्यों कि उन के लिए तो कोई अवसर (मौक़ा) ही नहीं था।

फिर भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार मालूम करने के लिए कुछ देर अपना सिर खुजलाया। बस फिर क्या था, प्रतिभा का स्रोत फूट पड़ा। गणेशजी की प्रसन्नता का पार न रहा। उन्होंने धीरे से भूमि पर 'राम' नाम लिखा और क्षण-भर मे उसकी सात परिक्रमाएँ लगाकर बैठ गए।

निर्णायक पचों को निर्णय देना पड़ा कि गणेशजी की विजय हुई है। अत देवपूजा में सर्व प्रथम स्थान उन्हें ही मिलना चाहिए। क्यों कि उन्होंने सर्वव्यापक राम की परिक्रमा करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर ली है।

श्रेष्ठतर प्रतिभा का यह सम्मान देवता-गण भला कभी भूल सकते हैं ?

तिब्बत-नरेश का राष्ट्र प्रेम

दसवीं शताब्दी की बात है। अत्यन्त महान और अत्यन्त तपस्वी तिब्बत के राजा यशीहोद् बड़े ही राष्ट्र-भक्त तथा संस्कृति-प्रेमी नरेश थे। वे अपने पिछड़े हुए देश का उद्धार चाहते थे और इसके लिए मानवता के महान् कलाकार श्री आचार्य दीपंकर विद्वान को भारत के विक्रमशिला विद्यापीठ से अपने देश में बुलाना चाहते थे।

उन्होंने प्रतिज्ञा की कि आचार्य दीपंकर को बुलाकर उनके हाथों तिब्बत का उद्धार कराऊँगा भले ही इसके लिए मुझे कुछ भी कष्ट उठाना पड़े।

इस दृढ़ निश्चय के बाद आचार्यश्री को बुलाने के लिए विद्वानों का एक दल भारत भेजा और स्वयं सोने की खोज में निकल पड़े। क्योंकि तिब्बत के राजकोष में जितना सोना था आचार्य दीपंकर के स्वागत में तथा उनके द्वारा होने वाले शिक्षा प्रचार में उससे अधिक सोना खर्च होने का अनुमान था।

उन दिनों नेपाल के समीप राजा गारलांग के राज्य में सोने की एक खान निकली थी। तिब्बत नरेश उधर ही चल पड़े। गारलांग बौद्ध-धर्म का कट्टर दुश्मन था और साथ ही उसे तिब्बत नरेश से चिढ़ भी थी। अतः उसने धोखे से तिब्बत नरेश को बंदी बनाकर घोषणा की कि यदि मुझे यशीहोद् के बराबर सोना मिलेगा तो मैं इन्हें मुक्त करूँगा अन्यथा प्राण-दण्ड दूँगा।

इस पर तिब्बत-नरेश के बेटे और भतीजे जी-जान लगाकर स्वर्ण-सग्रह करने लगे, पर तिब्बत-नरेश को यह बात पसद न आई। उन्होंने अपने बेटे और भतीजे को ऐसा करने से रोका और कहा—'मेरी मुक्ति के लिए जो स्वर्ण-सग्रह कर रहे हो, उसे आचार्य दीपकर के स्वागतार्थ रख छोडो। मेरी मुक्ति के लिए तुम लोग चेष्टा मत करो, अन्यथा मुझे दु ख होगा। मेरे गरीब देश का सोना, इस तुच्छ देह की मुक्ति मे खर्च न आकर सम्पूर्ण देश की अज्ञानता से मुक्ति में खर्च आना चाहिए।'

मृत्यु के कुछ काल पूर्व तिब्बत-नरेश ने अपने भतीजे से कहा था—"पुत्र, तुम रोना मत। यह बडे सौभाग्य एव आनन्द की बात है कि आज मैं धर्म और देश के नाम पर बलिदान हो रहा हूँ। ऐसा सुयोग बडे सौभाग्यशाली को ही मिलता है। किन्तु मेरी अन्तिम अभिलाषा है कि तुम आचार्य दीपकर को अवश्य बुलाना। उनके आने से तिब्बत मे नई जागृति फैलेगी। आशा है, तुम मेरी यह अभिलाषा अवश्य पूरी करोगे।"

आचार्य दीपकर साठ वर्ष की वृद्धावस्था मे भी तिब्बत पहुँचे, तिब्बत नरेश के आत्मबलिदान ने उन्हें मुग्ध कर दिया था।

किसी भी समाज या राष्ट्र को सुसस्कृत एव सुशिक्षित बनाने के लिए तिब्बत-नरेश जैसे आत्मभोग देने वाले वीरों की आवश्यकता होती है।

संत तुलसीदास का वैराग्य

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी पत्नी रत्नावली के रूप यौवन एवं स्नेह पर इतने आसक्त थे कि एक क्षण का विरह भी उन्हें कल्प-समान लगने लगता था। कई बार इनका साथी सहज की चिन्ता के लिए आया और निराश लौट गया।

एक बार वह ऐसा समय आ पहुँचा जब गोस्वामीजी गृह वस्तुएं लेने को बाजार गए हुए थे। बस रत्नावली उनसे बिना पूछे भाई के साथ पिता के घर चली गई। घर वापस आने पर गोस्वामीजी रत्नावली को घर में न देख अत्यन्त विकल हुए। पड़ोसियों से सब समाचार मालूम हुए तो उन्हीं कदमों से ससुराल की ओर चल पड़े।

रत्नावली पिता के घर पहुँची ही थी। अभी उसने अच्छी तरह मिल-भेंट भी न पाई थी कि पति देव को घर में प्रवेश करते देख सहसा लज्जा से अवसन्न हो गई। क्रोधावेश में मुँझलाकर उसने कहा—"जैसा प्रेम आपको हाड़-माँस के मेरे इस नश्वर शरीर से है वैसा प्रेम यदि भगवान राम के चरण-कमलों में होता तो क्या ही अच्छा होता जन्म-मरण के सब बन्धन कट जाते। संसार में एक राम ही अविनाशी है, और सब कुछ नश्वर है।

स्त्री के समयोपयोगी वातावरण ने तुलसी के मोहान्धकार को सहसा छिन्न भिन्न कर दिया। वे साधना के पथ पर चल पड़े। सन्त तुलसीदास क्या थे और अन्त में क्या होगए। एक छोटे-से निमित्त ने जीवन की दिशा ही पलट दी।

प्रभु-सेवक कौन ?

भक्त आबूबन अपने युग के बड़े ही सहृदय और सच्चे पुरुष थे। वे सब को समान दृष्टि से देखते और सब की सेवा का सस्नेह लाभ लेते। एक दिन की बात है कि रात को सोते हुए आधी रात के समय जब एकाएक उनकी आँखें खुलीं तो उन्होंने देखा कि सारा घर प्रकाश से जगमगा रहा है और एक देवदूत सुनहरी पुस्तक मे कुछ लिख रहा है।

"आप इस पुस्तक मे क्या लिख रहे हैं ?"–आबूबन ने पूछा।

"जो लोग ईश्वर को हृदय से प्यार करते हैं, मैं, उन लोगों के नाम इस पुस्तक में लिखता हूँ।"—देवदूत ने धीरे से उत्तर दिया।

"क्या मेरा नाम भी लिखा है ?"

"नहीं।"

"नहीं लिखा तो कोई हर्ज नहीं। परन्तु इतना लिख लीजिए कि—आबूबन सब मनुष्यों को हृदय से प्यार करता है।"

यह सुनकर देवदूत अदृश्य हो गया। अगली रात को जब वह पुन लौट कर आया और वह पुस्तक आबूबन की आँखों के सामने की तो आबूबन ने देखा—जितने भी ईश्वर-भक्तों के नाम उस पुस्तक में लिखे थे, उनमे सबसे पहले आबूबन का ही नाम लिखा था।

उक्त कथा का सदेश है—"जन-सेवक ही सच्चा प्रभु-सेवक है। जनता से प्यार किए बिना प्रभु का प्यार नहीं मिलता।

लक्ष्मी ने पति चुना

भागवत में समुद्र-मन्थन की बड़ी रोचक कथा है। देवों और असुरों ने मिलकर जब अमृत के लिए समुद्र-मन्थन किया तो पहले-पहल समुद्र में से विष निकला जिसके कारण सब के सब भय से संत्रस्त हो उठे। परन्तु दयालु शंकर ने वह सब हालाहल पी लिया फलत: सब प्रजा की रक्षा हो सकी। इसके बाद कामधेनु गाय निकली फिर उच्चैःश्रवा घोड़ा निकला। फिर ऐरावत हाथी आया। फिर कौस्तुभमणि निकली। और लक्ष्मी का आविर्भाव भी इसी शुभ प्रसंग पर हुआ।

लक्ष्मी से विवाह करने के लिए सब के सब देवता और असुर आतुर हो उठे। जब सब ने अपने-अपने विवाह प्रस्ताव उपस्थित किये तो लक्ष्मी ने विचार किया कि मैं किसे वरण करूँ? मुझे तो सर्वथा निर्दोष गुण और शील वाला वर चाहिये। दुर्वासा जैसे तपस्वी में क्रोध है इसलिए वह मेरे योग्य नहीं। बृहस्पति ज्ञानी हैं, तो अनासक्त नहीं। ब्रह्मा महान हैं, पर उसने काम पर विजय नहीं प्राप्त की। इन्द्र ऐश्वर्यशाली तो है, पर उसका ऐश्वर्य दूसरों के आश्रय पर है। परशुराम धार्मिक है पर प्रेम से रहित है। शिवि में त्याग है, पर अन्य गुण उसमें नहीं। कार्तवीर्य वीर है, पर मृत्यु से ग्रस्त है। सनकादि ऋषि अनासक्त हैं, पर अकर्मण्य हैं। मार्कण्डेय की आयु लम्बी है, पर वह शील रहित है। दूसरी ओर कुछ लोग शीलवान हैं तो दीर्घायु नहीं। शंकर में सब गुण हैं, पर उनकी वेषभूषा मंगल

मय नहीं। विष्णु मे सब गुण हैं और वेषभूषा भी मगलमय है, पर उन्हें मेरी क्या गरज पडी है? अन्त मे विष्णु की इस निस्पृहता ने लक्ष्मी को आकर्षित किया और उन्हीं के उसने वरमाला डाली।

धन की प्रतीक लक्ष्मी ने अपने लिए स्वामी चुनने में जिस विवेक का परिचय दिया, वह प्रत्येक धनेच्छुक के लिए एक शिक्षा-प्रद पाठ है।

गालियाँ किसकी ?

एक दिन एक अभद्र युवक जान-बूझ कर महात्मा बुद्ध को गन्दी-गन्दी गालियाँ सुनाने लगा। बुद्ध शांत भाव से सब कुछ सुनते और सहते रहे। अन्त में वह जब थक गया, तो वे स्नेह पूर्वक बोले—"वत्स, यह बताओ कि यदि कोई व्यक्ति किसी की भेंट को स्वीकार न करे तो वह वस्तु किस की मानी जायगी।'

उस युवक ने उत्तर दिया—'जिस की थी, उसी की। तब भगवान ने पुन कहा—"तुम अपने अपशब्दों का कोष अपने ही पास रखो। मुझे उस की आवश्यकता नहीं है। प्रतिध्वनि जिस प्रकार ध्वनि का अनुगमन करती है, और छाया पदार्थ के साथ चलती है उसी प्रकार दु ख अपराधी के साथ लगा रहता है, जिसका अन्त करण पवित्र है, उसको तुम दुर्वचनों से दूषित नहीं बना सकते।

असाधु का वाणी वाण निष्फल हो गया। महात्मा की साधुता और शिक्षा से प्रभावित होकर उस ने उनके आगे अपना सिर झुका दिया।

वासवदत्ता

वासवदत्ता (एक वेश्या) का सौंदर्य पूर्ण चन्द्र से भी अधिक पूर्ण था। उसकी देह कमल से भी अधिक कोमल थी। उस की वाणी वीणा का तिरस्कार करती थी। स्वर्ग की अप्सराएं एक बार उसके सामने हतप्रभ हो जाती थी।

एक बौद्ध श्रमण वासवदत्ता की सुविशाल अट्टालिका के द्वार पर भिक्षा के लिये आ खड़ा हुआ। वासवदत्ता की दृष्टि उस युवक भिक्षु पर पड़ी तो उसने उसे एक बार देखा, सौ बार देखा, बस देखती ही रही।

भिक्षु उपगुप्त दुनिया की नजर में एक भिखारी था किन्तु अन्तर्जगत् की आध्यात्मिक दृष्टि से वह राज-राजेश्वर था। मन से बढ़ कर श्रेष्ठ और सुविस्तृत राज्य कोई नहीं है। उपगुप्त ने अपने इसी मन के ऊपर विजय प्राप्त की थी। वह राज राजेश्वर था और समस्त इन्द्रियाँ उसकी प्रजा थी। उसकी आँखें अचंचल और शान्त थी। एक दिव्य तेजोमय सात्विक आभा से उसका प्रशान्त मुख-मण्डल भासमान था।

वासवदत्ता ने आँखों में स्नेह-सुधा बरसाते हुए कहा—"भिक्षु! भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाओ। मैं तुम्हें भिक्षा में अपने हृदय का दान करूँगी।

उपगुप्त ने पूछा—"इसका क्या अर्थ?"

वासवदत्ता ने उत्तर में कहा—"इसका अर्थ यही है कि यह तुम्हारी सुकुमार देह भिक्षा-वृत्ति के लिए नहीं है। यह

मय नहीं। विष्णु में सब गुण हैं और वेषभूषा भी मंगलमय है, पर उन्हें मेरी क्या गरज पड़ी है? अन्त में विष्णु की इस निस्पृहता ने लक्ष्मी को आकर्षित किया और उन्हीं के उसने वरमाला डाली।

धन की प्रतीक लक्ष्मी ने अपने लिए स्वामी चुनने में जिस विवेक का परिचय दिया, वह प्रत्येक धनेच्छुक के लिए एक शिक्षा-प्रद पाठ है।

गालियाँ किसकी?

एक दिन एक अभद्र युवक जान-बूझ कर महात्मा बुद्ध को गन्दी-गन्दी गालियाँ सुनाने लगा। बुद्ध शांत भाव से सब कुछ सुनते और सहते रहे। अन्त मे वह जब थक गया, तो वे स्नेह पूर्वक बोले—"वत्स, यह बताओ कि यदि कोई व्यक्ति किसी की भेंट को स्वीकार न करे तो वह वस्तु किस की मानी जायगी।'

उस युवक ने उत्तर दिया—'जिस की थी, उसी की। तब भगवान ने पुन कहा—"तुम अपने अपशब्दों का कोष अपने ही पास रखो। मुझे उस की आवश्यकता नहीं है। प्रतिध्वनि जिस प्रकार ध्वनि का अनुगमन करती है, और छाया पदार्थ के साथ चलती है उसी प्रकार दु.ख अपराधी के साथ लगा रहता है, जिसका अन्त करण पवित्र है, उसको तुम दुर्वचनों से दूषित नहीं बना सकते।

असाधु का वाणी वाण निष्फल हो गया। महात्मा की साधुता और शिक्षा से प्रभावित होकर उस ने उनके आगे अपना सिर झुका दिया।

रोगी भी उसके स्पर्श से बचने का प्रयत्न कर रहा था। वह एक स्थान पर मूर्छित होकर गिर पड़ी।

इसी समय उसके मस्तक पर एक दया से भरा हाथ रक्खा गया चन्दन-सा शीतल। वासवदत्ता ने मूर्छा-भंग होने पर पूछा—"कौन है ?" उत्तर मिला— मैं उपगुप्त हूँ।" वासवदत्ता ने दीर्घ श्वास छोड़ कर कहा— और आओ, तुम अब किस लिए आए ? मेरे पास अब तुम्हारे लिए क्या रहा है ? क्या तुम मेरा उपहास करने आए हो ?

उपगुप्त ने दया-स्निग्ध स्वर में कहा— बहन ! शान्ति रक्खो, धैर्य धारण करो। मैंने तुमसे कहा था—'अभी समय नहीं है फिर कभी आऊँगा। सो, अब मैं अपने ठीक समय पर आ पहुँचा हूँ। देखो बहन ! संसार का यह सब रूप धन, ऐश्वर्य भाग क्षण-भंगुर है। इसका क्या हर्ष और क्या शोक ? अनन्त आत्म-सौन्दर्य की साधना के लिए तैयार हो जाओ। मैं तुम्हें शान्ति के राज्य में ले जाने के लिए आया हूँ।

भिक्षु उपगुप्त वासवदत्ता को अपने आश्रम में ले गया। उसकी मन लगाकर परिचर्या की सेवा की। पाप-ताप से दग्ध वासवदत्ता ने पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त की गंगा में स्नान किया, प्रव्रज्या ग्रहण की और अपने शेष जीवन में शान्ति लाभ प्राप्त किया।

———

अनुपम सौन्दर्य-सुमन संसार सुख के स्पर्श से सर्वथा दूर संयम यंत्रणा के वनपथ में मुरझाने के लिए नहीं है। आओ, भिक्षु! मेरे स्वर्ग सदन में आओ। मैं विश्व की स्वामिनी, आज तुम्हारी दासी बनूँगी।"

उपगुप्त के वासना प्रभाव से मुक्त मुख-मण्डल पर हँसी की एक हलकी-सी प्रसन्न रेखा दिखलाई दी। वह कुछ क्षण मौन रह कर बोला—"अभी तो समय नहीं है। हाँ, फिर किसी दिन उपयुक्त समय पर आऊँगा" उपगुप्त द्रुत गति से संघाराम की ओर चला गया।

× × × ×

आज वासवदत्ता को किसी धनिक प्रेमी की हत्या में प्राण-दण्ड तो नहीं, परन्तु कुरूप करने का कठोर दण्ड मिला है। उसके चन्द्र वदन की आँखें निकाल ली गई, नाक-कान काट दिए गए। उसकी मृणाल-सी कोमल भुजाएँ छिन्न-भिन्न कर दी गई। उसकी धन संपत्ति सब छीन ली गई। राजा की आज्ञा से जल्लाद ने वासवदत्ता को कुरूप और कुत्सित कर राज-पथ में छोड़ दिया। एक मनुष्य फूटा ढोल बजाता हुआ उसके साथ था, जो उच्च स्वर से समस्त प्रजा को उसके पाप की कथा सुनाता था।

कितना भयानक और बीभत्स दृश्य था वह। उसके घावों से रक्त और पाव बह रहा था, जिस पर मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं, हाथों से हीन होने के कारण अभागिनी उनको उड़ा भी नहीं सकती थी। आज उसकी सुन्दरता के प्रेमी उससे घृणा कर रहे थे, दूर ही से देखकर भाग रहे थे। सब लोग उस पर थूक रहे थे। पथ का एक भिक्षुक, लूला-लंगड़ा, कुष्ट

अपने पैरों पर

एक बार की बात है कि स्वर्ग का राजा इन्द्र भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ। महा श्रमण महावीर उन दिनों भगवान् न हुए थे अनन्त सत्य की खोज में कठोर साधना कर रहे थे।

इन्द्र ने हाथ जोड़कर प्रभु-चरणों में प्रार्थना की—"प्रभु! अज्ञानी लोग आप को समझ नहीं पा रहे हैं। वे आपको समझने में कभी-कभी बड़ी भयंकर भूल करते हैं। यही कारण है कि आप को प्रायः हर स्थान पर कुछ-न-कुछ अपमान, तिरस्कार और ताड़न तर्जन सहना पड़ता है। अतः आज्ञा दीजिए, सेवक निरन्तर आप की सेवा में रहेगा और यथावसर इस प्रकार की असद् घटनाओं का उचित प्रतिकार करेगा।

भगवान् महावीर ने कहा— 'वत्स! मुझे अपने पैरों चलने दो। साधना का मार्ग अपने पैरों से ही तय किया जा सकता है, दूसरे पैरों से नहीं। यदि कुछ सेवा करने की कामना है तो उन की सेवा करो, जो सेवा चाहते हैं। मुझे सेवा की आवश्यकता नहीं है।

—— - ——

मर कर भी अमर

भारतीय इतिहास की यह हजारों वर्ष पहले की घटना है। द्वारका का वैभव समाप्त हो चुका था, यादव जाति विलासिता की आग मे जल चुकी थी। जीवन-भर जन-सेवा के क्षेत्र मे सतत उद्योग करते-करते श्री कृष्ण भी जीवन के किनारे पर पहुँच रहे थे।

इसी समय की बात है कि श्री कृष्ण थके हुए जगल मे किसी पेड़ के सहारे पैर पर पैर रख कर लेटने की मुद्रा मे आराम कर रहे थे। इतने मे एक व्याध यानी शिकारी, उस जंगल म आ पहुचा। रात्रि का समय था, कुछ-कुछ अंधेरा हो चला था। अत उसे लगा कि कोई हिरन पेड़ के सहारे बैठा है। शिकारी जो ठहरा, बस उसने लक्ष्य साध कर तीर छोड़ ही तो दिया।

तीर श्री कृष्ण के पाँव मे लगा, खून की धारा बहने लगी। शिकारी अपना शिकार पकडने के इरादे से नजदीक आया। परन्तु सामने प्रत्यक्ष नरश्रेष्ठ को जख्मी पाया तो उसे बडा दुःख हुआ। अपने हाथों से इतना बड़ा पाप हुआ, यह सोचकर वह रोने लगा।

श्री कृष्ण थोडे ही समय मे ससार से चल बसे। परन्तु मर ने से पहले उस व्याध से कहा—"हे व्याध! डरना नहीं। मृत्यु के लिये कुछ न कुछ निमित्त लगता ही है। बस, मेरी मृत्यु के लिये तू निमित्त बन गया"। ऐसा कह कर श्रीकृष्ण ने उसे आशीर्वाद दिया।

क्या ऐसी स्थिति मे इतना धैर्य रखा जा सकता है? हाँ जो रख सकता है, वही महा पुरुष होता है।

अपने पैरों पर

एक बार की बात है कि स्वर्ग का राजा इन्द्र भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ। महा श्रमण महावीर उन दिनों भगवान् न हुए थे अनन्त सत्य की शोध में कठोर साधना कर रहे थे।

इन्द्र ने हाथ जोड़कर प्रभु-चरणों में प्रार्थना की— 'प्रभु! अज्ञानी लोग आप को समझ नहीं पा रहे हैं। वे आपको समझने में कभी-कभी बड़ी भयंकर भूल करते हैं। यही कारण है कि आप को प्राय हर स्थान पर कुछ-न-कुछ अपमान तिरस्कार और ताड़न तर्जन सहना पड़ता है। अतः आज्ञा दीजिए, सेवक निरन्तर आप की सेवा में रहेगा और यथावसर इस प्रकार की अभद्र घटनाओं का उचित प्रतिकार करेगा।

भगवान् महावीर ने कहा— वत्स! मुझे अपने पैरों चलने दो। साधना का मार्ग अपने पैरों से ही तय किया जा सकता है, दूसरे पैरों से नहीं। यदि तुम्हें सेवा करने की कामना है तो उन की सेवा करो, जो सेवा चाहते हैं। मुझे सेवा की आवश्यकता नहीं है।

ज्ञान अनन्त है

कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि ऋषि भरद्वाज ने जीवन-भर तपस्या की। प्रसन्न होकर इन्द्र प्रकट हुए और भरद्वाज से पूछा—"यदि तुम्हें एक जन्म और मिले, तो तुम उस जन्म में क्या करोगे?"

भरद्वाज ने उत्तर दिया—"मैं इस जन्म के समान ही तपस्या करता हुआ उस जन्म में भी वेदाध्ययन करूँगा।"

देवाधिपति इन्द्र ने पुनः प्रश्न किया—"यदि तुम्हें पुनः एक जन्म और मिले तो क्या करोगे?"

भरद्वाज ने इस बार भी दृढ़ता पूर्वक उत्तर दिया—"मैं उस जन्म में भी तप करता हुआ वेदों का स्वाध्याय करूँगा।"

इस उत्तर के साथ ही भरद्वाज के सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने उन तीनों में से एक मुट्ठी-भर कर कहा—"भरद्वाज! अब तक वेदों को पढ़ कर जो कुछ ज्ञान तुमने प्राप्त किया है और दूसरे जन्मों में भी जो कुछ ज्ञान पाओगे, वह सब इन पर्वतों की तुलना में मुट्ठी के समान है। वेद तो अनन्त हैं। "अनन्ता वै वेदाः।'

यह कहानी सत्य-ज्ञान की अनंतता पर कितना सुन्दर प्रकाश डालती है?

द्रौपदी का मातृहृदय

कुरुक्षेत्र के मैदान में अठारह दिन चलने वाला महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। दुर्योधन भीम के द्वारा आहत हो कर जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था। पाण्डव शिविर में बहुत रात गए तक विजयोत्सव मनाये जाने के बाद सब के सब छोटे-बड़े सोये पड़े थे। इसी समय अर्धरात्रि में अश्वत्थामा ने आक्रमण किया और द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मौत के घाट उतार कर भाग खड़ा हुआ।

विजय हार में बदल गई। उल्लास ने रुदन का रूप ले लिया। सब ओर हाहाकार की दारुण पुकार पृथ्वी तथा आकाश के टुकड़े-टुकड़े करने लगी। द्रौपदी की अन्तर्वेदना की तो कुछ सीमा ही न थी। वह तो बार-बार मूर्छित हो होकर भूतल पर मछली के समान छटपटा रही थी।

भीम और अर्जुन दौड़े। भागते हुए अश्वत्थामा को सूने जंगल में से पकड़ लाए। श्री कृष्ण ने द्रौपदी से कहा —"यह रहा तुम्हारा अपराधी! बताओ तुम इसे क्या दण्ड देना चाहती हो। अर्जुन की तलवार एक ही झटके में इसके सिर और धड़ का दो टूक फैसला करने के लिए तैयार है।

द्रौपदी ने रोते-रोते कहा— प्रभु! इसे छोड़ दो। मारो मत। पुत्र-शोक बड़ा भयंकर होता है नाथ! मैं तो रो ही रही हूँ। व्यर्थ ही इसकी दुखिया माँ को भी क्यों रुलाते हो?

अश्वत्थामा छोड़ दिया गया श्री कृष्ण ने कहा— 'द्रौपदी! सच्ची विजय तू ने प्राप्त की है। तू ने वह किया है जो हम नहीं कर सके। तू ने मातृहृदय को खूब परखा। तेरा आँखों में छिपा फूल-सा कोमल दयालु हृदय प्रतिहिंसा के कुहासे से घिरे विश्व को करुणा का अजर-अमर प्रकाश देगा।

क्षमा की विजय

एक रात महर्षि विश्वामित्र ने सोचा—"वशिष्ठ मुझ से शत्रुता रखता है। वह मुझे हर बात में नीचा दिखाना चाहता है। जब तक वह रहेगा, मेरी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ सकती। क्यों कि वह तप में मेरे से बहुत आगे बढ़ा हुआ है।"

यह क्या सोचा, क्रोध की ज्वाला मन के कण-कण में भड़क उठी। हाथ में खड्ग लिया, और वशिष्ठजी की कुटिया के पीछे दुबकी लगा कर खड़े हो गए। अब एक मात्र यही प्रतीक्षा थी कि—"वशिष्ठजी कब कुटिया से बाहर आएँ कि मारूँ।"

उधर अरुन्धती वशिष्ठजी से वार्तालाप कर रही थी। अरुन्धती ने कहा—"यह पूर्ण चन्द्र की चाँदनी जैसी उज्ज्वल और मन को आह्लाद करने वाली है, काश, ऐसी ही किसी मनुष्य की कीर्ति होती?"

वशिष्ठजी ने कहा—"हाँ, आज कल तो विश्वामित्र-जी की कीर्ति ही ऐसी है। उन जैसा सदाचारी, यशस्वी संत आज दूसरा कौन है? कोई भी तो नहीं।"

यह सुनना था कि विश्वामित्र जी तो पानी-पानी हो गए। उन्हें क्या पता था कि जिसे वे अपना शत्रु समझते हैं, प्रतिष्ठा प्राप्ति में बाधक का रोड़ा समझते हैं, वह परोक्ष में उनकी कितने सरल भाव से कितनी बड़ी प्रशंसा कर रहा है?

परोक्षप्रशंसा ने विश्वामित्र के हृदय को पिघला दिया। वे तलवार को फेंक कर महर्षि वशिष्ठ के चरण कमलों में आ गिरे।

अंबपाली का निमंत्रण

एक बार तथागत बुद्ध विहार-चर्या करते हुए वैशाली पहुँचे और वहाँ की सुप्रसिद्ध वेश्या आम्रपाली (अंबपाली) के आम्रवन में विराजे। जब अंबपाली ने यह समाचार सुना तो वह आनन्द-विभोर होगई। उसके हृदय के कण-कण में हर्ष का अमृत रस छलकने लगा।

वह रत्न-जटित स्वर्ण-रथ पर सवार होकर तुरन्त ही भगवान् के दर्शन करने चली। दासियों का पैदल झुंड उसके पीछे था। उसके पीछे अश्वारोही दल और उसके बाद हाथियों पर भगवान् तथा भिक्षु-संघ की पूजा-सामग्री। सबके पीछे बहुत से वाहन कर्मचारी और पौर गण।

आज अंबपाली एक साधारण श्वेत वस्त्र का परिधान धारण किए शान्त भाव से बैठी है। एक भी आभूषण उसके शरीर पर नहीं है। आज उसके आस पास वासना नहीं अपितु वैराग्य-भावना महक रही है। ज्यों ही आम्रवन के पास पहुँची त्यों ही उसने सवारी रोकने की आज्ञा दी और पैदल ही भगवान् के चरणों तक पहुँची।

तथागत बुद्ध पद्मासन से शान्त मुद्रा में एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे थे। हजारों शिष्य सामने दूर तक बैठे हुए, भगवान् के श्री मुख से निकले प्रत्येक शब्द को हृदय पटल पर अंकित कर रहे थे। आनन्द ने निवेदन किया—"भन्ते! अंबपाली दर्शनार्थ आई है।" तथागत ने मृदु हास्य के साथ

अपने करुणामृतवर्षी नेत्र ऊपर उठाए। अम्रपाली ने भूमि पर नतमस्तक होकर वन्दना की। भगवान् का उपदेश श्रवण करने के पश्चात् उसने उनसे अगले दिन के भोजन की प्रार्थना की—"भगवन्! इस अपदार्थ का आतिथ्य स्वीकार हो। इन चरण कमलों की देवदुर्लभ रज-कण तुच्छ दासी की कुटिया को भी प्रदान हो।"

अम्रपाली की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। इतने में ही लिच्छवि राजकुमारों ने भगवान् की पदधूलि अपने स्वर्ण मुकुटों पर लगाते हुए कहा—"महाप्रभु! हमारी तुच्छ राजधानी इन चरणों के पधारने से कृतकृत्य हुई। किन्तु भगवान्! यह वेश्या की वाड़ी है, श्री चरणों के योग्य नहीं। प्रभु के लिए राज-महल प्रस्तुत है और वहां हम सब आपकी सेवा के लिए हृदय से उत्सुक हैं। भगवान् ने हँस कर कहा—"तथागत के लिए वेश्या और राजा में क्या अन्तर है? तथागत समदृष्टि है।"

धर्मोपदेश श्रवण करने के बाद जन-समूह वैशाली की ओर लौट रहा है। आज आम्रपाली के हर्ष की सीमा नहीं है। वह आनन्द के अतिरेक में बिना कुछ देखे-सुने अपना रथ वैशाली के राज पथ पर भगाये जा रही है।

लिच्छवि राजकुमारों ने आश्चर्य से पूछा—"अम्रपाली! यह क्या बात है? तू आज हम लिच्छवियों के बराबर अपना रथ कैसे हाँक रही है?"

उसने उत्तर दिया—"आर्यपुत्रो! मैंने भगवान् बुद्ध को संघसहित कल के भोजन का निमंत्रण दिया है, जो सस्नेह स्वीकार कर लिया गया है।"

अंबपाली ! हम तुझे सौ हजार (एक लाख) स्वर्ण-मुद्रा देंगे तू भगवान् का कल का भोजन हमारे यहाँ होने दे।

"आर्यपुत्रो ! यह नहीं हो सकता।"

'अच्छा तो तू सौ गाँव ले ले, और यह निमंत्रण हमें दे दे।"

"आर्यपुत्रो ! यह सर्वथा असंभव है।

'आधा राज्य ले और यह निमंत्रण हमें बेच दे।"

'आर्यपुत्रो ! आप एक तुच्छ भूखण्ड के स्वामी हैं। पर यदि आप समस्त भूमण्डल के चक्रवर्ती भी होते और यदि वह अपना समस्त साम्राज्य भी मुझे देते तो भी मैं इस निमंत्रण को तुम्हें नहीं बेच सकती थी। यह निमंत्रण बेचने या अदला बदली करने की चीज नहीं है।"

राजकुमार हताश एवं पराजित हो गए।

यह था अंबपाली का साधनापूत मनोविज्ञ जीवन तथा बुद्ध के प्रति अनुपम श्रद्धा भाव। भोजन के अनन्तर उसने अपने उपवन का भी बुद्ध-संघ के लिए समर्पित कर दिया और अन्त में वह स्वयं भी अपने काम-भाग से अनुरक्त जीवन से विरक्त हो भिक्षुणी हो गई।

चलती चक्की

सन्त कबीर अपने यौवन के मध्यकाल मे सद्गुरु के पास रह रहे थे और आत्म-ज्ञान का रहस्य पाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। ससार की मोह-माया से उदासीन, अपने-आप मे सिमटे हुए।

एक बार उन्होंने देखा कि चक्की चल रही है और जो भी गेहूँ के दाने उसमे डाले जाते हैं, सब पिस कर आटा बनते जाते हैं, कोई भी तो अखण्ड नहीं रह पाता। कबीर का मुँह उदास हो गया, आँखें सजल हो उठीं!

अन्तर्मन मे चिन्तन की एक तूफ़ानी लहर उठ खड़ी हुई—"ससार की चक्की का चक्र भी कितनी तीव्र गति से घूम रहा है। बेचारे अबोध प्राणी किस बुरी तरह दले जा रहे हैं। यहाँ कौन ऐसा अछूता है, जो मौत की चक्की मे पिस जाने से बचा रह सकता हो? कोई नहीं!"

पास खड़े गुरुदेव को स्थिति समझने मे देर नहीं लगी। कहा जाता है—गुरुदेव ने चक्की के पाट को जरा ऊपर हटाया और कीले के पास अखण्ड रह जाने वाले गेहूँ के दानों को दिखा कर कहा—"संसार का या मौत का चक्र चल रहा है तो भले चले, हमें क्या डर है? जो सत्य प्रभु के अमर केन्द्र मे स्थित है, उसे दुनिया की कोई भी ताक़त पीस नहीं सकती।"

———

आधा हाथ काट डालो

एक बाल्य मस्त दरजी के पास मठ के महन्त कुरता सिलाने के लिए आए। दरजी ने नाप ले लिया और कुरता सीने लगा। वह अपनी धुन में मस्त था, ऐसा हुआ कि कुरते की एक बाँह आध हाथ के करीब छोटी रह गई।

महन्त ने यह देखा तो बिगड़ पड़े। 'नालायक! यह क्या किया? यता यह कुरता अब कैसे फिट हो?"

दरजी ने कहा— "क्या हो गया? फिट होने की कौनसी बात है—अपना आधा हाथ काट डालो।"

अब तो महन्तजी का पारा और भी ऊँची डिग्री पर चढ़ गया। 'तू पागल तो नहीं है? कुरते की अधूरी बाँह फिट होने के लिए क्या मैं अपना हाथ काट डालूँ?"

दरजी ने धर्मगुरु की आँख खोलते हुए कहा—"और आप करते ही क्या हैं? शिष्यों को सदा ही बाह्य क्रियाकाण्ड रूप साम्प्रदायिक धर्म में फिट करने के लिए आत्मा के अखंड शाश्वत धर्म को ध्वस्त करने का उपदेश देते रहते हो, क्या यह पागलपन नहीं है? हाथ काटने से तो एक जन्म का शरीर ही खंडित होता है। परन्तु साम्प्रदायिक धर्म के लिए अखण्ड धर्म की काट छाँट करने से चिरन्तन सत्य का नाश हो जाता है।

अज्ञानी को ज्ञान से जीतो

गुरु नानक का वचन है—"अन्तर तीरथ ज्ञानका, सोधता नाहीं मूढ़।" अर्थात् मूढ लोग बाहरी तीर्थों को महत्त्व देते हैं, अपने हृदय के असली तीर्थ को नहीं खोजते। एक बार उन्हें ऐसे ही मूढ़ों का सामना करना पड़ा। देशाटन करते हुए वे मक्का शरीफ़ पहुँचे और काबे के सामने थक कर विश्राम करने के लिए लेट गए। सयोग से उनके पैर काबे की ओर थे। उसी समय वहाँ कुछ अन्ध भक्त लोग आए। उन्होंने गुरु नानक को ठोकरों से जगाकर कहा—"काफ़िर, तू पवित्र स्थान का अपमान करता है, खुदा के घर के सामने पैर फैलाता है?" उनके दुर्व्यवहार से ज्ञानी गुरु नानक तनक भी अशान्त या भयभीत नहीं हुए। उन्होंने लेटे ही लेटे कहा—"भाई, नाराज़ मत हो। जिधर परमेश्वर न हो, तुम लोग उसी ओर मेरे पैर कर दो। मुझे उसमे कोई आपत्ति नहीं होगी।"

गुरु नानक के तर्क से अज्ञानियों का जोश ठण्डा हो गया। तब उन्हें होश आया और उन्होंने अतिथि का यथायोग्य सत्कार किया।

अतीत की गहराई में से

विरोधी पर विजय कैसे ?

एक बार सम्राट् कुमार पाल की राज-सभा में बड़े-बड़े विद्वान् यथास्थान सिंहासनों पर बैठे हुए थे और एक गंभीर दार्शनिक चर्चा चल रही थी। इतने में आचार्य हेमचन्द्र भी चर्चा में भाग लेने के लिये उपस्थित हुए।

आचार्यश्री को आते देख कर एक ईर्ष्यालु पण्डित ने मजाक उड़ाते हुए कहा—अच्छा हेम ग्वाला भी कंधे पर कमली और हाथ में दण्ड लिए आ गया।

"आगतो हेमगोपालो दण्डकम्बलमुद्वहन्।"

आचार्य हेमचन्द्र बड़ी ही गंभीर प्रकृति के सन्त थे। भरी सभा में अपमान होने पर उद्विग्न न हुए। उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—आपने ठीक कहा है। अनेकान्तवादी जैन दर्शन के विराट मार्ग में एकान्तवादी षड्दर्शन रूप पशुओं को चराने वाला मैं ग्वाला ही तो हूँ, इसमें असत्य क्या है!

'षड्-दर्शन-पशुग्रामं चारयन् जैनवाटके।"

एक मधुर मुस्कराहट के साथ की गई गहरी चोट ने विरोधी को चरणों में ला गिराया। सारी सभा में आचार्यश्री का जय-जयकार गूंज उठा।

जो मिले उसी से सीखिए

मनु बहन गांधीजी से गीता पढ़ती थी। परन्तु उसका उच्चारण अशुद्ध रहता था। गांधीजी ने पूछा—उच्चारण इतना अशुद्ध क्यों रहता है? मनु बहन ने झिझकते स्वर में उत्तर दिया—और विषयों में भले हजारों गुरु हों लेकिन गीता का गुरु आप के सिवा दूसरा न हो। इसलिये मैं अपने आप ही सच्चे झूठे उच्चारण और अर्थ करती रहती हूँ। दूसरे किसी की मदद लेकर आगे नहीं बढ़ी।"

इस बात से गांधीजी को बहुत दुःख हुआ। वे कहने लगे। 'तुम्हारी इस इच्छा में झूठा मोह छिपा है। अच्छी चीज सीखने में हजारों क्या लाखों गुरु भी हम क्यों न करें? अच्छी बात को एक छोटे बच्चे के पास से भी हम क्यों न सीखें? अच्छी चीज सीखने में लज्जा कैसी? किसी बड़े से अच्छी बात सीखने की प्रतीक्षा में पास के किसी दूसरे साथी से कुछ न सीखना भी एक प्रकार का पाप है।

चरखे का संगीत

एक बार रात को रेडियो पर बहुत ही सुन्दर कार्यक्रम आने वाला था। सब लोग सुनने की उत्कंठा में थे। गांधीजी की पोती मनु बहन ने आग्रह करते हुए कहा—'बापू, आज तो आप भी रेडियो का कार्य क्रम सुनिए।'

बापू ने कहा—'उसमें क्या सुनना? इन रेडियो के भजनों को सुनने की अपेक्षा तो हम अपने चरखे का संगीत ही क्यों न सुनें?'

चार मुए तो क्या हुआ, जीवित कई हजार

सिक्ख-पंथ के दशम गुरु गोविन्दसिंह जी के चार पुत्र थे। उनके दो बड़े पुत्र चमकौर के युद्ध में लड़ते हुए मारे गए। और दो छोटे पुत्र, पकड़े जाकर सरहिन्द में मुसलमानों द्वारा दीवार में चुन दिये गए। उन्हें मुसलमान बन जाने को कहा किन्तु वे अपने धर्म पर दृढ़ रहे और हंसते-हंसते धर्म पर बलिदान हो गए।

गुरु गोविन्दसिंह फिर भी निराश न हुए। उनके हृदय में अब भी धर्म रक्षा के लिए बलिदान होने की तरंगें उठ रही थी। जब वे घर पर आए, तो बच्चों की माता ने रोते हुए पूछा—'मेरे पुत्र कहाँ हैं? आप उन्हें कहाँ मौत के मुंह में छोड़ आए?' इस पर गुरु गोविंदसिंह ने गंभीर भाव से जो उत्तर दिया वह देश भक्ति के क्षेत्र में अपना सानी नहीं रखता। उन्होंने कहा —

"इस भारत के सीस पर, वारे दीने चार;
चार मुए तो क्या हुआ जीवित कई हजार।"

———

मैं भी सो सकता हूँ

पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सन् १६२१ में, गावों का एक लंबा राष्ट्रीय भ्रमण कर रहे थे। जहाँ भी जाते, जनता के जीवन में एकाकार हो जाते थे। उसी समय की बात है कि—नेहरू जी एक छोटे से गाँव में, एक किसान के अतिथि हुए। भोजन के लिए मिली मकई की रूखी रोटी और साग। नेहरू जी ने वही बड़े आनन्द से खाया।

रात को सोते समय प्रश्न हुआ—अब सोने का क्या इन्तजाम है? किसान बेचारा घर में से एक खाट उठा लाया। प्रश्न हुआ—"इस पर कौन सोता है?"

"बहू सोती है।"

"आज वह किस पर सोएगी?"

"स्त्री है, जमीन पर सो रहेगी।"

"(तमक कर) वाह! स्त्री जमीन पर सो सकती है, तो मैं भी सो सकता हूँ।"

तय कर लेने के बाद जवाहरलालजी के कदम उठने में क्या देर? किसान के बरामदे में क तरफ पयाल बिछा हुआ था, उसी पर ओवरकोट बिछाकर और एक कंबल, जो मोटर में साथ आया था, ओढ कर आप सो गए। किसान के दुख-सुख में शरीक होकर जवाहरलालजी ने तो जैसे उस के घर पर कब्जा ही कर लिया था। इतने बड़े मेहमान की ऐसी सादगी देखकर उस रात गाँव के किसानों के घर-घर में यही चर्चा रही।

चतुर मंत्री

गुर्जर नरेश भीमदेव का सन्धि-वैग्रहिक राजदूत मंत्री डामर बड़ा ही बुद्धिमान व्यक्ति था। एक बार भीम ने उसे मालव-सम्राडाधिपति भोज के पास किसी विशेष कार्य सिद्धि के हेतु भेजना चाहा और उस सम्बन्ध में अपनी ओर से बहुत देर तक लम्बे चौड़े परामर्श देता रहा। वार्तालाप के अन्त में डामर वस्त्र झाड़ कर खड़ा हो गया। भीम ने पूछा—"यह क्या?" डामर ने उत्तर दिया—"आपका सिखाया हुआ सब कुछ यहीं झाड़ जाता हूँ, क्योंकि वहाँ जाकर तो मुझे स्वयं ही अवसरोचित बोलना होगा।"

डामर के इस कथन में भीम को अहङ्कार की गन्ध आई। अतः उसने उसकी बुद्धि की परीक्षा के लिए श्मशान मार्ग से राख मँगाकर सोने के डिब्बे में बन्द की और वह डिब्बा डामर को देकर कहा कि—'यह भेंट ज्यों की त्यों भोज को दे देना।'

डामर ने सभा में जाकर वह भेंट राजा भोज को अर्पित की। भोज ने ज्यों ही डिब्बा खोला तो उसे राख से भरा पाया। भोज ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा—"अरे यह कैसी भेंट?" चतुर डामर ने तत्काल उत्तर दिया—"सम्राट् हमारे महाराजा ने एक बहुत बड़ा शान्ति-यज्ञ किया है, यह उसी का पवित्र भस्म है।"

राजा भोज ने यह सुना तो बड़े ही प्रसन्न भाव से भस्म को अपने मस्तक पर लगाया और दूसरे सभासदों को भी थोड़ी थोड़ी दी। बदले में बहुत बड़ी भेंट लेकर डामर भीम देव के पास पहुँचा। भीम देव अपने राजदूत की प्रतिभा का विलक्षण चमत्कार देख कर हर्ष से फूला नहीं समाया।

मैं भी सो सकता हूँ

पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सन् १६२१ मे, गावों का एक लम्बा राष्ट्रीय भ्रमण कर रहे थे। जहाँ भी जाते, जनता के जीवन मे एकाकार हो जाते थे। उसी समय की बात है कि—नेहरू जी एक छोटे से गॉव मे, एक किसान के अतिथि हुए। भोजन के लिए मिली मकई की रूखी रोटी और साग। नेहरू जी ने वही बड़े आनन्द से खाया।

रात को सोते समय प्रश्न हुआ—अब सोने का क्या इन्तजाम है? किसान बेचारा घर मे से एक खाट उठा लाया। प्रश्न हुआ—"इस पर कौन सोता है?"

"बहू सोती है।"

"आज वह किस पर सोएगी?"

'स्त्री है, जमीन पर सो रहेगी।"

"(तमक कर) वाह! स्त्री जमीन पर सो सकती है, तो मैं भी सो सकता हूँ।"

तय कर लेने के बाद जवाहरलालजी के कदम उठने मे क्या देर? किसान के बरामदे मे क तरफ पयाल बिछा हुआ था, उसी पर ओवरकोट बिछाकर और एक कबल, जो मोटर मे साथ आया था, ओढ कर आप सो गए। किसान के दुख-सुख मे शरीक होकर जवाहरलालजी ने तो जैसे उस के घर पर कब्जा ही कर लिया था। इतने बड़े मेहमान की ऐसी सादगी देखकर उस रात गॉव के किसानों के घर-घर में यही चर्चा रही।

खरीदार आश्चर्य में था। उसने अपनी बातचीत को जल्दी ही समाप्त कर देने के विचार से फिर पूछा—

"अच्छा अब इसकी कम से कम कीमत बता दीजिए तो मैं ले लूँ।"

"डेढ़ डालर।

"डेढ़ डालर! वाह, अभी तो तुम सवा डालर ही कह रहे थे।"

"हाँ मैंने यह कीमत उस समय कही थी। पर अब तो डेढ़ डालर ही होगा। ज्यों-ज्यों आप देर करते जायेंगे, पूछ-पूछ कर हमारा समय बर्बाद करते जायेंगे त्यों-त्यों किताब की कीमत पर समय का मूल्य भी बढ़ता जायगा।"

ग्राहक ने जेब से पैसे निकाल कर दे दिए और किताब लेकर चुपचाप घर का रास्ता नापा। उसे आज समय को धन के रूप में परिवर्तित कर देने वाले स्वामी से एक उत्तम शिक्षा मिल गई थी! ठीक है, समय सब से बड़ा धन है।

समय का मूल्य

अंग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक स्वेट मार्डेन ने लिखा है कि मि० बेंजमिन फ्रेंकलिन समय के बड़े ही कदरदान थे। उनकी पुस्तकों की एक दूकान थी। कहा जाता है—एक बार एक ग्राहक आया, और बड़ी देर तक दूकान के सामने चक्कर काटता रहा।

आखिर उसने पूछा—"इस पुस्तक की क्या कीमत है ?"

क्लर्क ने उत्तर दिया—"एक डालर।"

"एक डालर ! क्या इससे कम नहीं ?"

"नहीं।"

ग्राहक ने थोड़ी देर इधर-उधर देखने के बाद क्लर्क से पूछा—

"क्या मि० फ्रेंकलिन भीतर हैं ?"

"हां, अभी काम मे लगे हैं।"

"मैं जरा उनसे मिलना चाहता हूँ।"

आखिर मि० फ्रेंकलिन बाहर आए तो खरीदार ने पूछा—

"मि० फ्रेंकलिन, आप इस पुस्तक की कम से कम क्या कीमत लेंगे ?"

"सवा डालर।"

"सवा डालर ! अभी तो आपका क्लर्क एक डालर कहता था।"

"ठीक है, लेकिन अपना काम छोड़ कर आने मे मेरा समय भी तो खर्च हुआ न ? वह कहाँ जाएगा ?"

बुरा भागे या भला

श्री घनश्यामदास बिड़ला ने एक बार गांधी जी से कहा—'महात्मा जी, आप के इर्द गिर्द के लोगों में कितनेक बुरे आदमी भी आ गए हैं।'

इस पर गांधी जी ने हँसते हुए कहा— तो इसका मुझे क्या डर है? मुझे कोई धोखा नहीं दे सकता। जो मुझे धोखा देने में अपने को दक्ष समझते हैं वे स्वयं अपने आप को धोखा देते हैं। मैं तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूँ किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा? जो बुरे हैं, वे स्वयं मुझे त्याग देंगे।

हुआ भी ऐसा ही। कितने ही लोग गांधी जी के साथ हुए, कुछ देर चले अपनी दुर्बलताओं से अन्त में इधर उधर भटक गए। किन्तु गांधी जी अपने पथ पर बढ़ते ही गए। बुरे लोगों से बचने की धुन में भागते फिरने की आवश्यकता नहीं। धुन में भलाई चाहिए, या तो बुरे भले बन जायेंगे या वे खुद भाग जायेंगे।

फल भोगना चाहिए।' यह कहते हुए बादशाह ने अपनी तलवार धोबिन को दी और उसके सामने गर्दन झुका कर कहा—"तुझे नूरजहाँ ने विधवा बनाया है, इसलिए तू मेरा सिर काट कर इसको भी विधवा कर दे। जो जैसा करे, उसे वैसा ही मिलना चाहिये। इस मामले का सही फैसला यही हो सकता है।"

बादशाह के इस अनोखे न्याय को सुनकर सब लोग दंग रह गए। बिचारी धोबिन हाथ जोड कर चरणों मे गिर पड़ी। जब धोबिन ने तलवार फेंक दी, तो बादशाह ने उसे अच्छी पेंसन देकर विदा किया।

नेपोलियन की गुण-ग्राहकता

सत्पुरुष का यह एक मुख्य लक्षण है कि वह अपने विरोधी की भी योग्यता का सत्कार करता है, और व्यक्तिगत राग द्वेष या मत भेद के कारण किसी के साथ अन्याय नहीं करता। नेपोलियन ने एक बार अपने एक प्रतिकूलवादी आलोचक को राज्य के उच्च पद पर नियुक्त किया। लोगों ने उसे सुझाया कि वह तो आप के विषय में अच्छे विचार नहीं रखता। पर नेपोलियल ने कहा—"यदि वह अपना काम योग्यता पूर्वक करता है, तो मुझे चिन्ता नहीं है कि मेरे विषय मे उसकी व्यक्तिगत धारणा क्या है। मुझे तो उसके काम से मतलब है।"

जहाँगीर का न्याय

दिल्ली के मुगल बादशाह जहाँगीर की बेगम नूरजहाँ एक दिन अपनी सहेलियों और बाँदियों के साथ किले के सबसे ऊँचे महल की छत पर टहल रही थी। इतने में उसने यमुना नदी के तट पर कुछ पक्षी उड़ते देखे। झट बन्दूक ले कर निशाना बाँधा। परन्तु बन्दूक की गोली से पक्षी तो एक भी न मरा, हाँ एक धोबी जो कपड़े समेट रहा था अवश्य मारा गया।

धोबी की स्त्री रोती-कलपती महल के पास आई और उसने न्याय की जंजीर खींची। बादशाह ने उसे दूसरे दिन दरबार में आने की आज्ञा दी।

दूसरे दिन ठीक समय पर दरबार लगा। बादशाह सिंहासन पर आसीन हुए। धोबिन के मामले का फैसला सुनने के लिए लोगों की खासी अच्छी भीड़ जमा थी। नूरजहाँ भी चिक की आड़ में बैठी मुकदमे का हाल देख रही थी।

धोबिन ने कहा—"जहाँपनाह! कल शाम को यमुना के किनारे जब मेरा पति धुले कपड़े इकट्ठा कर रहा था तब आपकी मलका ने उसको गोली से मार दिया। मैं अब अनाथ हूँ, आप से न्याय चाहती हूँ।" बादशाह ने चिक की ओर मुँह करके नूरजहाँ से पूछा—"क्या यह धोबिन सच कहती है?" नूरजहाँ ने कहा—"हाँ जहाँपनाह।"

इस पर बादशाह ने कहा कि "न्याय के सामने राजा और प्रजा सब बराबर हैं। नूरजहाँ ने अपराध किया है, उसे इसका

सात सौ बच्चे !

महिला विद्यापीठ प्रयाग में एक मद्रासी सज्जन अपनी पुत्री को भरती कराने आए। उन्होंने विद्यापीठ की अध्यक्षा श्री महादेवी वर्मा से पूछा "देवी जी आपके कोई सन्तान भी है ?"

"हॉ हॉ, मेरे तो सात सौ बच्चे हैं", देवी जी ने हँसते हुए कहा।

मद्रासी सज्जन की आँखों मे विस्मय भर गया कि यह क्या ? देवीजी ने स्पष्टीकरण किया, "ये सब विद्यार्थी मेरे बच्चे ही तो हैं !"

उदार हृदय फ्रेडेरिक महान्

जर्मनी मे प्रशिया के फ्रेडेरिक महान् को तानाशाह गिना जाता था। एक बार उसने देखा कि एक दीवार के पास लोगों की खासी अच्छी भीड जमा है।

निकट पहुँचने पर उसे ज्ञात हुआ कि दीवार के ऊपरी हिस्से मे एक पर्चा लगाया गया है, जिस में उस की कटु आलोचना की गई है, किन्तु अधिक ऊँचाई पर होने के कारण पर्चा ठीक पढने में नहीं आ रहा है।

महान फ्रेडेरिक ने अपने पास के सेवकों को आज्ञा दी कि वे पर्चे को जरा नीचे लगा दे, ताकि लोग उसे अच्छी तरह पढ सकें। आज्ञा के अनुसार पर्चा नीचे लगादिया गया।

यह है बड़ों का बडप्पन।

बुरा भागे या भला

श्री घनश्यामदास बिड़ला ने एक बार गांधी जी से कहा— "महात्मा जी, आप के इर्द गिर्द के लोगों में कितनेक बुरे आदमी भी आ गए हैं।"

इस पर गांधी जी ने हँसते हुए कहा— तो इसका मुझे क्या डर है? मुझे कोई धोखा नहीं दे सकता। जो मुझे धोखा देने में अपने को दक्ष समझते हैं वे स्वयं अपने आप को धोखा देते हैं। मैं तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूँ, किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा? जो बुरे हैं वे स्वयं मुझे त्याग देंगे।

हुआ भी ऐसा ही। कितने ही लोग गांधी जी के साथ हुए, कुछ देर चले, अपनी दुर्बलताओं से अन्त में इधर उधर भटक गए। किन्तु गांधी जी अपने पथ पर बढ़ते ही गए। बुरे लोगों से बचने की धुन में भागते फिरने की आवश्यकता नहीं। खुद में सचाई चाहिए, या तो बुरे भले बन जायेंगे या वे खुद भाग जायेंगे।

फल भोगना चाहिए।' यह कहते हुए बादशाह ने अपनी तलवार धोबिन को दी और उसके सामने गर्दन झुका कर कहा—"तुझे नूरजहाँ ने विधवा बनाया है, इसलिए तू मेरा सिर काट कर इसको भी विधवा कर दे। जो जैसा करे, उसे वैसा ही मिलना चाहिये। इस मामले का सही फैसला यही हो सकता है।"

बादशाह के इस अनोखे न्याय को सुनकर सब लोग दंग रह गए। बिचारी धोबिन हाथ जोड कर चरणों में गिर पडी। जब धोबिन ने तलवार फेंक दी, तो बादशाह ने उसे अच्छी पेंसन देकर बिदा किया।

नेपोलियन की गुण-ग्राहकता

सत्पुरुष का यह एक मुख्य लक्षण है कि वह अपने विरोधी की भी योग्यता का सत्कार करता है, और व्यक्तिगत राग द्वेष या मत भेद के कारण किसी के साथ अन्याय नहीं करता। नेपोलियन ने एक बार अपने एक प्रतिकूलवादी आलोचक को राज्य के उच्च पद पर नियुक्त किया। लोगों ने उसे सुझाया कि वह तो आप के विषय में अच्छे विचार नहीं रखता। पर नेपोलियन ने कहा—"यदि वह अपना काम योग्यता पूर्वक करता है, तो मुझे चिन्ता नहीं है कि मेरे विषय में उसकी व्यक्तिगत धारणा क्या है। मुझे तो उसके काम से मतलब है।"

कुत्ते की जगह प्रेसीडेन्ट ✓

एक बार मिस्टर और मिसेज कूलिज दोनों ही व्हाइट हाउस से बाहर गए थे। व्हाइट-हाउस में नया रंग रोगन चल रहा था। अचानक तार मिला कि प्रेसीडेण्ट कूलिज समय से पूर्व ही प्रवास से लौट रहे हैं।

उस समय व्हाइट-हाउस में सब अस्त-व्यस्त पड़ा था। जल्दी जल्दी व्यवस्था की गई। नौकरों ने लाइब्रेरी की पुस्तकें समेट कर रखी। लेकिन प्रेसीडेण्ट का एक कुत्ता कूद फांद कर फिर अस्त-व्यस्त कर गया। नौकर को क्रोध आ गया। उसने एक बड़ी पुस्तक उठा कर भागते हुए कुत्ते पर फेंकी। कुत्ता तो नदारद था। लेकिन परदे के पीछे से एक दबी सी आह निकली और थोड़ी देर में देखा प्रेसीडेण्ट साहब माथा घिसते हुए बाहर निकले। नौकरों को उन्होंने केवल यही कहा— "बहुत गरमी है यहां?" न डांटा न फटकारा न नौकरी से अलहदा किया।

सभ्यतापूर्ण व्यवहार का ध्यान प्रेसीडेण्ट को अपने नौकरों से बरताव करते हुए भी रखना पड़ता है।

सत्य को हँसी का डर नहीं

एक बार किसी विशेष प्रसंग पर चर्चा करते हुए श्री घन-श्यामदास बिड़ला ने गांधीजी से पूछा कि "आपने ऐसा कौन-सा काम किया है, जिसे साहस की दृष्टि से आप अपने जीवन में ऊँचे से ऊँचा स्थान दे सकें ?"

"इस दृष्टि से तो मैंने कभी नहीं विचारा।" गांधीजी ने कहा, "किन्तु मैं समझता हूं बारदोली सत्याग्रह स्थगित करके मैंने बहुत बड़े साहस का परिचय दिया। चौबीस घंटे पहले सरकार को चुनौती देकर ललकार करना और फिर अचानक सत्याग्रह को स्थगित करना, यह अपने आपको बेहद हास्यास्पद बनाना था, किन्तु मैं तनिक भी न झिझका। जो सत्य था वही मेरा राजमार्ग था और इसके लिए मेरी अपनी हँसी होगी, इस विचार ने मुझे कभी भयभीत नहीं किया। मेरे जीवन के बड़े साहसिक कामों में यह एक था, ऐसा मैं मान सकता हूँ।"

गांधीजी के उत्तर का मर्म ऊपर से नहीं, गहराई में जाकर समझना चाहिए। आगे बढ़ना या पीछे हटना, गांधीजी की दृष्टि में इनका कोई मूल्य नहीं, मूल्य है एकमात्र सत्य का। सत्य के लिए कभी पीछे भी हटा जा सकता है, फिर भले कितनी ही क्यों न हँसी हो, मजाक हो।

—— ——

जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा

आमेर नरेश महाराजा मानसिंह युद्ध करने के लिए काबुल जा रहे थे। उनकी विराट सेना विजय पर विजय प्राप्त करती हुई आगे बढ़ रही थी। परन्तु ज्यों ही मार्ग में अटक (सिन्धु नदी) आया तो सब-की-सब सेना विचार मूढ़-सी तट पर खड़ी होगई। बात यह हुई कि सेना के राजपूत सिपाही अटक नदी को पार करने से हिचक रहे थे। उनको यह भ्रम था कि मुसलमानी देश में जाने से कहीं हमारा धर्म न जाता रहे।

महाराजा मानसिंह को जब यह पता लगा तो उन्होंने कहा—संसार की सब भूमि प्रभु गोपाल की है, भला इस में अटक अर्थात् रुकावट कैसी? जिस के मन में अटक है, वह ही अटकता है, और कोई नहीं। अटक पार कर विदेश में जाने से धर्म नहीं जाता। धर्म का सम्बन्ध आत्मा की सच्ची श्रद्धा से है, किसी भूमि-विशेष स नहीं।

> सबै भूमि गोपाल की या में अटक कहा!
> जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा!!

— —

शिवाजी की नैतिक पवित्रता

शिवाजी महाराज ने घनघोर युद्ध के बाद मुगल सेना से एक किला जीता। किलेदार भाग गया, किन्तु उसकी लड़की पकड़ी गई। लडकी बहुत सुन्दर थी। जब सेनापति ने लडकी को शिवाजी की सेवा मे उपस्थित किया तो वह डरी हुई थी कि—"मुझे अब दासी होना होगा। अब मैं अपने माता-पिता का मुंह कभी न देख सकूँगी। पता नहीं, मेरे साथ क्या व्यवहार होगा ?"

परन्तु शिवाजी ने लडकी को देखते ही भरे दरबार मे कहा—"अहा, कैसी सुन्दर लडकी है। यदि यह मेरी माँ होती तो मैं ऐसा कुरूप न होता।"

लडकी को बहुत कुछ धनराशि देकर कहा कि—"बेटी! लो, यह तुम्हारी शादी का दहेज है। इसे लेकर अपने पिता के पास जाओ, वह योग्य वर ढूंढ कर तुम्हारी शादी कर देंगे। जैसी तुम अपने पिता की पुत्री हो, वैसे ही मेरी भी हो।"

कर्तव्य-निष्ठा

एक बार की बात है—पेरिस में बड़ा ही भयंकर दंगा हुआ। मस्यू रेम्ब्रधर नामक पत्रकार दंगाइयों द्वारा फेंके जाने वाले पत्थरों की वर्षा में बैठा अपने पत्र के लिए विवरण लिख रहा था। दंगा काबू में न आया तो अन्त में विवश होकर फौज ने गोली चलाई।

पत्रकार को भी गोली लगी और वह घायल होकर गिर पड़ा। सहायता के लिए डाक्टर आया। पूछा—"क्या तुम भी घायल हो?" उत्तर मिला— हाँ इतना घायल कि लिख भी नहीं सकता।

डाक्टर ने कहा— जिस्म में क्या रखा है? अब तो तुम्हारे लिए सबसे मुख्य आराम करना है।" पत्रकार ने कहा—"आराम मुख्य नहीं है। मुख्य काम है अपने कर्तव्य की पूर्ति करना। सबके अपने-अपने काम होते हैं। मैं पत्रकार हूँ। मेरा काम घटना का वर्णन लिखना है। यह मेरी कलम लो और इस पृष्ठ पर नीचे लिखो—सायंकाल तीन बजकर बीस मिनट। फौज की गोली चलने से तीन घायल हुए और एक मरा।

डाक्टर ने पूछा— 'मरा कौन?" उत्तर मिला— 'मैं!' और इतना कहते-कहते उसके प्राण निकल गए।

प्रीत के टाँके

स्वामी सहजानन्दजी गुजरात के एक महान् वैष्णव सन्त हो गए हैं। आत्माराम नामक उनका एक दर्जी शिष्य था। उसने उन्हें भेंट करने के लिए एक बहुत सुन्दर अँगरखा सीया। भावनगर के नरेश ने जब इस अँगरखे को देखा, तो इतने प्रसन्न हुए कि ऐसा ही एक सुन्दर अँगरखा अपने लिए भी देने पर सौ रुपये सिलाई देने को तैयार हो गए।

इस पर दर्जी ने जो उत्तर दिया, वह इतिहास का एक अजर-अमर सन्देश है। उसने कहा—"महाराज! ऐसा दूसरा अँगरखा तो मुझ से नहीं सींते बनेगा। इस अँगरखे में तो प्रीत के टाँके पड़े हैं। ऐसे टाँके आपके अँगरखे में डालने के लिए मैं दूसरी प्रीत कहाँ से लाऊँ ?"

सच्ची कला का सर्जन इस प्रकार होता है। बिना प्रेम-रस के कला, कला नहीं, एक प्रकार का फूहड़पन है।

कर्तव्य-निष्ठा ✓

एक बार की बात है—पेरिस में बड़ा ही भयंकर दंगा हुआ। मेम्यू डम्बकार नामक पत्रकार दंगाइयों द्वारा फेंके जाने वाले पत्थरों की वर्षा में बैठा अपने पत्र के लिए विवरण लिख रहा था। दंगा काबू में न आया तो अन्त में विवश होकर फौज ने गोली चलाई।

पत्रकार को भी गोली लगी और वह घायल होकर गिर पड़ा। सहायता के लिए डाक्टर आया, पूछा—"क्या तुम भी घायल हो?" उत्तर मिला—"हाँ इतना घायल कि लिख भी नहीं सकता।"

डाक्टर ने कहा— लिखने में क्या रखा है? अब तो तुम्हारे लिए सबसे मुख्य आराम करना है। पत्रकार ने कहा—"आराम मुख्य नहीं है। मुख्य काम है अपने कर्तव्य की पूर्ति करना। सबके अपने-अपने काम होते हैं। मैं पत्रकार हूँ, मेरा काम घटना का वर्णन लिखना है। यह मेरी कलम लो और इस पृष्ठ पर नीचे लिखदो—सायंकाल तीन बजकर बीस मिनट। फौज की गोली चलने से तीन घायल हुए और एक मरा।

डाक्टर ने पूछा—'मरा कौन?' उत्तर मिला—"मैं।" और इतना कहते-कहते उसके प्राण निकल गए।

✓

क्या करें, का प्रश्न ही क्यों ?

गांधी जी ने लंबे उपवास शुरू कर रक्खे थे। उपवास में वे जिन्दा रहेंगे या मर जाएँगे, इसका किसको पता था ? सब ओर एक भय और आशंका का वातावरण घनीभूत हो रहा था। इस पर आश्रम के भाइयों ने उनसे पूछा—"आप यदि उपवास में चल बसे तो हम कौनसा काम करें ?"

गांधी जी ने जवाब दिया—"इस तरह का सवाल ही आपके सामने कैसे खड़ा हुआ ? मैंने आपके लिए काफी काम रख छोड़ा है। हिन्दुस्तान में खादी करनी है, खादी का शास्त्र बनाना है। जात-पाँत की बीमारी को दूर करना है। भूखे देश के लिए रोटियों का प्रबन्ध करना है। इतना बड़ा काम आपके लिए होते हुए भी आपको 'क्या करें ?' ऐसी चिन्ता क्यों होती है ?"

संसार में काम की कमी नहीं, काम करने वालों की कमी है। मनुष्य के जीवन में क्या करें का प्रश्न ही क्यों पैदा हो, जबकि उसके चारों ओर काम का क्षीर-सागर ठाठें मार रहा है।

क्या करें, का प्रश्न ही क्यों ?

गांधी जी ने लंबे उपवास शुरू कर रक्खे थे। उपवा॰
वे जिन्दा रहेंगे या मर जायेंगे, इसका किसको पता था ?
ओर एक भय और आशंका का वातावरण घनीभूत हो
था। इस पर आश्रम के भाइयों ने उनसे पूछा—"आ॰
उपवास मे चल बसे तो हम कौनसा काम करें ?"

गांधी जी ने जवाब दिया—"इस तरह का स॰
आपके सामने कैसे खड़ा हुआ ? मैंने आपके लिए का॰
रख छोड़ा है। हिन्दुस्तान मे खादी करनी है, खादी
बनाना है। जात-पॉत की बीमारी को दूर करना
देश के लिए रोटियों का प्रबन्ध करना है। इतना
आपके लिए होते हुए भी आपको 'क्या करें ?' ऐ॰
क्यों होती है ?"

ससार में काम की कमी नहीं, काम करने वा॰
है। मनुष्य के जीवन में क्या करें का प्रश्न ही॰
जबकि उसके चारों ओर काम का क्षीर-सागर ठाठें

गई थी।" "तेरे बाप ने भी कभी गाड़ी चलाई थी।" "मैं तो तेरा बाप जन्मा तब से गाड़ी चलाता हूँ।" 'अब का पक्का एक साल जेल में कटेगी तब होश आयेगा।' भीड़ जमा हो गई, ट्राफिक रुक गया। पुलिस आई तब दोनों हटे।

सत्कर्म में लज्जा कैसी !

स्वामी भवानीदयाल जी की पत्नी जगरानी जेल में बीमार हो गई। गांधी जी ने एक ठेलागाड़ी पर उन को लिटा दिया और फिर स्वयं ही वे ठेलागाड़ी को खींचने लगे। इस पर भवानीदयाल जी ने कहा—"हमारी मौजूदगी में आप का गाड़ी खींचना शोभा की बात नहीं है। गांधी जी ने स्वामी जी को फटकार बताते हुए तथा कठोर वाणी में कहा "मेरे शुभ काम में किसी को दखल देने का अधिकार नहीं है। जब मैं थक जाऊंगा तब तुम्हें बुला लूंगा। सत्कर्म करने में किसी को किसी तरह की लज्जा क्यों हो ?" बापू जी तो सारी मील अकेले ही ठेलागाड़ी खींचकर आश्रम तक ले गए।

एक चित्र के दो पहलू

यूरोप में यात्रा करते हुए एक बार घनश्यामदासजी बिड़ला की गाड़ी किसी दूसरी गाड़ी से टकरा गई। बिड़लाजी की गाड़ी के अंग्रेज ड्राइवर ने ब्रेक बाँध कर गाड़ी खड़ी की। दूसरे ने भी ऐसा ही किया। दोनों नीचे उतरे। चुप-चाप अपनी-अपनी गाड़ी का प्रत्येक ने निरीक्षण किया। फिर एक ने दूसरे से पूछा—

"Are you insured ?" क्या आपका बीमा हो गया ? उत्तर मिला—"yes—जी हाँ," फिर प्रश्न "Any damage"—गाड़ी को कुछ नुकसान तो नहीं हुआ ? "No" 'जी नहीं।'

इस वार्तालाप के अनन्तर दोनों ने एक दूसरे से इस दुर्घटना के लिए खेद प्रकट किया और दोनों अपने-अपने रास्ते चले गए। न आया किसी को क्रोध और न दी एक-दूसरे को गालियाँ।

अब जरा अपने देश वासियों का भी किस्सा सुनिये, बिड़लाजी के शब्दों मे ही। दो गाड़ियाँ भिड़ते-भिड़ते बाल-बाल बच गई। गाड़ीवानों ने ब्रेक बाँधा और गाड़ियाँ खड़ी कीं। गाड़ियाँ भिड़ी तो थीं ही नहीं, इसलिए नुकसान का तो सवाल ही क्या था, पर हमारे भारतीय वीर इस प्रकार टलने वाले थोड़े ही थे। श्री गणेश हुआ गालियों और अपशब्दों से—"क्या आँखें फूट

गई थी।" "तेरे बाप ने भी कभी गाड़ी चलाई थी।" "मैं तो तेरा बाप जन्मा तब से गाड़ी चलाता हूँ।" "अब का पता एक बार जेल में जाएगी तब होश आयेगा।" भीड़ जमा हो गई ट्राफिक रुक गया। पुलिस आई तब दोनों हटे।

सत्कर्म में लज्जा कैसी !

स्वामी भवानीदयाल जी की पत्नी जगरानी जेल में बीमार हो गई। गांधी जी ने एक ठेलागाड़ी पर उन को लिटा दिया और फिर स्वयं ही वे ठेलागाड़ी को खींचने लगे। इस पर भवानीदयाल जी ने कहा—'हमारी मौजूदगी में आप का गाड़ी खींचना शोभा की बात नहीं है।' गाँधी जी ने स्वामी जी को फटकार बताते हुए जरा कठोर वाणी से कहा "मेरे शुभ काम में किसी को दखल देने का अधिकार नहीं है। जब मैं थक जाऊंगा तब तुम्हें बुला लूंगा। सत्कर्म करने में किसी को किसी तरह की लज्जा क्यों हो?" बापू जी दो ढाई मील अकेले ही ठेलागाड़ी खींचकर आश्रम तक ले गए।

जन-हित ही सच्चा प्रभु-भजन है।

एक सज्जन ने गाँधीजी को लिखा कि—"अब आप ससार में थोडे ही दिनों के महमान हैं, इसलिए बेहतर यह है कि आप सारे काम-धाम को छोड़कर अपना अन्तिम समय भगवद्-भजन मे बिताएँ।

गाँधी जी ने इसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर लिख भेजा। वह उत्तर हर किसी साधक के लिये अंधकार में प्रकाश का काम देगा। उत्तर इस प्रकार है —

—"आपने लिखा सो ठीक है। पर हम अन्तिम समय को ही ईश्वर-भजन में बिताएँ और बाकी जीवन में बेफिक्र रहें, यह सारी भावना भूल भरी है—हमारी गर्दन तो हर क्षण काल के हाथों पड़ी है, इसलिए सारा का सारा जीवन ही अन्तिम घड़ी है, ऐसा मानना चाहिए। और मेरी बात तो यह है कि मेरा प्रतिक्षण ईश्वर भजन में ही व्यतीत होता है।"

लोक कल्याण के पथ पर चलने वाले यात्री का हर क्षण पर-हित में गुजरता है और वह सब प्रभु-भजन ही है। भजन का अर्थ केवल आँख मूंद कर बैठ जाना नहीं। मृत्यु पर विजय सत्कर्म ही दिला सकता है।

विकारों के लिए भी स्थान चाहिए

प्राचीन यूनान के एक धनी ने वहाँ के एक नामी विद्वान को अपना नव-निर्मित भव्य भवन देखने के लिए बुलाया। उसे साथ लेकर वह बड़ी देर तक एक-एक कमरे की शोभा और स्वच्छता दिखाता रहा। इसी बीच में उस विद्वान् को थूकने की इच्छा हुई परन्तु वहाँ कहीं इसके लिए उपयुक्त स्थान नहीं मिला। सभी दीवारों पर लिखा था कि यहाँ थूकना मना है। सम्मान्य अतिथि से नहीं रहा गया। उसने सोच-विचार कर एक ऐसी बात कही जिससे धनी को हँसी आ गई। ज्योंही उसने हँसने के लिए मुँह खोला विनोदप्रिय पंडित ने उसके मुँह में थूक दिया। धनी ने बिगड़ कर उससे इस अशिष्टता का कारण पूछा। विद्वान् ने कहा—"मुझे यही एक स्थान दिखाई पड़ा जहाँ यह नहीं लिखा था कि थूकना मना है।"

प्राय लोग इस बात को भूल जाते हैं कि संसार विकारमय है। स्वयं अग्नि भी जो सब विकारों को जला देती है, निर्धूम नहीं रहती। मानव-जीवन में भी विकार होते हैं। धुआँ निकालने के लिए जिस प्रकार छिद्र चाहिए, उसी प्रकार मनुष्य के स्वाभाविक शारीरिक एवं मानसिक विकारों को मर्यादित करने के लिए उपयुक्त स्थान या मार्ग चाहिए। घर में यदि छोटी-छोटी नालियाँ नहीं तो सारा घर ही गन्दगी से भर जायगा।

जन-हित ही सच्चा प्रभु-भजन है।

एक सज्जन ने गाँधीजी को लिखा कि—"अब आप संसार में थोड़े ही दिनों के मेहमान हैं, इसलिए बेहतर यह है कि आप सारे काम-धाम को छोड़कर अपना अन्तिम समय भगवद्-भजन में बिताएँ।

गाँधी जी ने इसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर लिख भेजा। वह उत्तर हर किसी साधक के लिये अंधकार में प्रकाश का काम देगा। उत्तर इस प्रकार है —

—"आपने लिखा सो ठीक है। पर हम अन्तिम समय को ही ईश्वर-भजन में बिताएँ और बाकी जीवन में बेफिक्र रहें, यह सारी भावना भूल भरी है—हमारी गर्दन तो हर क्षण काल के हाथों पड़ी है, इसलिए सारा का सारा जीवन ही अन्तिम घड़ी है, ऐसा मानना चाहिए। और मेरी बात तो यह है कि मेरा प्रतिक्षण ईश्वर भजन में ही व्यतीत होता है।"

लोक-कल्याण के पथ पर चलने वाले यात्री का हर क्षण पर-हित में गुजरता है और वह सब-प्रभु-भजन ही है। भजन का अर्थ केवल आँख मूद कर बैठ जाना नहीं। मृत्यु पर विजय सत्कर्म ही दिला सकता है।

यह सब किस लिए ?

गगन चुम्बी हिमगिरि के शिखरों के बीच तिब्बत में एक वृद्ध बौद्ध भिक्षु रहता था। साठ वर्ष की तपस्या द्वारा उसने शान्ति प्राप्त की थी पल-पल में 'बुद्धं शरणं गच्छामि' रट-रट कर उसने अपने अन्दर की पशु-वृत्ति को वश में कर लिया था। सनातन हिम का दर्शन कर के उसकी दृष्टि निर्मल हो गई थी। वह सुखी था शान्त था। आत्मसंयम जीवन का आनन्द उसने प्राप्त किया था। अनुकम्पा से द्रवीभूत होकर उसने सारे जगत् को अपने में समेट लिया था।

उसके पास इक्कीस वर्ष की एक आल्ट्रेक्सिन विमान-विहारिणी नव-युवती आई। बाल्यावस्था से ही उसने विज्ञान का तथा विज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति को अपना लिया था। गर्व के साथ वह वृद्ध साधु के पास आई। वह समझ रही थी, पापमग्न-सा यह वृद्ध साधु निकम्मा है। वृद्ध की ओर तिरस्कार पूर्वक निहारते हुए युवती ने अपना परिचय दिया —

"मैं इक्कीस वर्ष की तरुणी हूं। मैं विमान विहारिणी हूं। इस विषय में मेरा इतना योग्य और कोई नहीं।

वृद्ध ने पूछा —"तुमने क्या किया है ?"

तरुणी ने कहा—"मैं उन्नीस वर्ष की थी तब एक घण्टे में दो-सौ मील की गति से मेलबार्न से उड़ कर बम्बई आई थी। बीस वर्ष की हुई तब तीन-सौ मील प्रति घण्टे की चाल से

मज़ाक़ आखिर मज़ाक है !

इंग्लैण्ड के राजकुमार ड्यूक ऑव विंडसर, जब प्रिंस ऑव वेल्स थे तो अपने सहपाठियों के साथ रेल में साधारण बालकों की भाँति सफ़र करते थे। एक बार गाड़ी का कंडक्टर जब उनके डिब्बे के सामने से गुज़रा तो जेब में से एक मटर निकाल कर अंगुली से तान कर उन्होंने कंडक्टर के कान पर चुपके से दे मारा।

कंडक्टर ने मुड़कर पूछा,—"लड़को, यह मटर किसने मारी ?" किसी ने जवाब नहीं दिया तो कंडक्टर ने युवराज के चेहरे पर शरारत देख कर सोचा, यह लड़का शैतान मालूम होता है, और दो चार थप्पड़ जमा दिए। किसी जानकार ने कंडक्टर से कहा कि भावी सम्राट को पीटने के लिए उन्हें बधाई है।

बिचारा कंडक्टर इतना सुनते ही कुछ हतप्रभ-सा हो गया। परन्तु हँसोड़ शाहज़ादे ने मज़ाक़ को मज़ाक़ में उड़ा दिया और खिल-खिला कर हँस पड़ा। बात वहाँ की वहाँ आई गई हो गई।

परन्तु कथा-लेखक बिड़लाजी अन्त में पूछना चाहते हैं। कि यदि ऐसी घटना भारत में होती तो क्या होता ? इसका ज़रा विचार कर लेने की ज़रूरत है। क्योंकि भारतवासी अभी हँसी को हँसी नहीं समझते।

इसने मुझे पारस समझा

अकबर की सभा में जो नवरत्न थे उनमें खानखाना प्रमुख थे। वे जितने कुशल सैनिक और शासक थे उससे भी बढ़कर रामभक्त कवि थे।

एक बार वे पालकी में बैठ कहीं जा रहे थे। मार्ग में ऐसा हुआ कि उनके अंगरक्षकों के देखते देखते ही एक निर्धन व्यक्ति ने लोहे का एक भारी बाट उठाकर उन पर दे मारा।

खानखाना बच गए, पर अंगरक्षकों ने बेचारे उस निर्धन व्यक्ति को पकड़ लिया। निश्चय था कि वे उसे मार डालते पर उसी क्षण पालकी से निकल कर खानखाना ने उन्हें रोक दिया। अंगरक्षक बोले—"हुजूर! इसने आप पर वार किया है।"

"नहीं" खानखाना मुस्कराकर बोले—"इसने मुझे पारस पत्थर समझ कर ही तो लोहा फेंका है। जाओ इसे बाट के बराबर सोना दे दो।"

मेलबोर्न से लन्दन गई। और अब चार सौ मील प्रति घण्टे के वेग से समस्त संसार के आर-पार उड आई हूँ।"

शान्त और सयमी वृद्ध ने साठ वर्ष के भावनामय जीवन से प्रेरित होकर प्रश्न किया—"इतनी शीघ्रता किस लिए?"

तरुणी चुप थी। उसे कोई उत्तर नहीं मिल रहा था। आखिर इस दौड़-धूप का कोई उद्देश्य? यह पूर्व का प्रश्न है, जो पश्चिम से ठीक उत्तर की माँग कर रहा है। इतना उतावलापन किस लिए? एक दूसरे का विनाश करने के लिए? मानव का स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान छीन लेने के लिए? मानव को अपने श्रम से जो सुख सुविधा प्राप्त है, उसे हर लेने के लिए? मैं भी उस वृद्ध भिक्षु का प्रश्न पुन पूछ लेता हूँ—यह सब किस लिए?

शुभ काम स्वयं आशीर्वाद है

राजस्थान की एक सुप्रसिद्ध सेविका के सम्मान में एक विशाल अभिनन्दन समारोह का विराट आयोजन किया जा रहा था। उसकी सफलता के लिए गाधीजी से आशीर्वाद माँगा गया। गाधी जी ने लिखा—"शुद्ध सत्य तो यह है कि किसी भी शुभ काम में किसी के आशीर्वाद की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि शुभ काम स्वय ही आशीर्वाद रूप होता है। उसी में उसकी सफलता है।"

इसने मुझे पारस समझा

अकबर की सभा में जो नवरत्न थे उनमें खानखाना प्रमुख थे। वे जितने कुशल सैनिक और शासक थे उससे भी बढ़कर रामभक्त कवि थे।

एक बार वे पालकी में बैठ कहीं जा रहे थे। मार्ग में ऐसा हुआ कि उनके अंगरक्षकों के देखते देखते ही एक निर्धन व्यक्ति ने लोहे का एक भारी बाट उठाकर उन पर दे मारा।

खानखाना बच गए पर अंगरक्षकों ने बेचारे उस निर्धन व्यक्ति को पकड़ लिया। निश्चय था कि वे उसे मार डालते पर तभी झट पालकी से निकल कर खानखाना ने उन्हें रोक दिया। अंगरक्षक बोले—'हुजूर! इसने आप पर वार किया है।'

"नहीं" खानखाना मुस्कुराकर बोले—"इसने मुझे पारस पत्थर समझा तभी तो लोहा फेंका है। जाओ इसे बाट के बराबर सोना दे दो।"

मेलवोर्न से लदन गई। और अब चार सौ मील प्रति घण्टे के वेग से समस्त संसार के आर-पार उड़ आई हूँ।"

शान्त और सयमी वृद्ध ने साठ वर्ष के भावनामय जीवन से प्रेरित होकर प्रश्न किया—"इतनी शीघ्रता किस लिए?"

तरुणी चुप थी। उसे कोई उत्तर नहीं मिल रहा था। आखिर इस दौड़-धूप का कोई उद्देश्य? यह पूर्व का प्रश्न है, जो पश्चिम से ठीक उत्तर की माँग कर रहा है। इतना उतावलापन किस लिए? एक दूसरे का विनाश करने के लिए? मानव का स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान छीन लेने के लिए? मानव को अपने श्रम से जो सुख सुविधा प्राप्त हैं, उसे हर लेने के लिए? मैं भी उस वृद्ध भिक्षु का प्रश्न पुन पूछ लेता हूँ—यह सब किस लिए?

शुभ काम स्वयं आशीर्वाद है

राजस्थान की एक सुप्रसिद्ध सेविका के सम्मान में एक विशाल अभिनन्दन-समारोह का विराट आयोजन किया जा रहा था। उसकी सफलता के लिए गांधीजी से आशीर्वाद माँगा गया। गांधी जी ने लिखा—"शुद्ध सत्य तो यह है कि किसी भी शुभ काम में किसी के आशीर्वाद की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि शुभ काम स्वयं ही आशीर्वाद रूप होता है। उसी में उसकी सफलता है।"

इसने मुझे पारस समझा

अकबर की सभा में जो नवरत्न थे उनमें खानखाना प्रमुख थे। वे जितने कुशल सैनिक और शासक थे उससे भी बढ़कर रामभक्त कवि थे।

एक बार वे पालकी में बैठ कहीं जा रहे थे। मार्ग में ऐसा हुआ कि उनके अंगरक्षकों के देखते देखते ही एक निर्धन व्यक्ति ने लोहे का एक भारी बाट उठाकर उन पर दे मारा।

खानखाना बच गए, पर अंगरक्षकों ने बेचारे उस निर्धन व्यक्ति को पकड़ लिया। निश्चय था कि वे उसे मार डालते पर उसी क्षण पालकी से निकल कर खानखाना ने उन्हें रोक दिया। अंगरक्षक बोले—"हुजूर! इसने आप पर वार किया है।

"नहीं" खानखाना मुस्कराकर बोले—"इसने मुझे पारस पत्थर समझा तभी तो लोहा फेंका है। जाओ इसे बाट के बराबर सोना दे दो।"

मेलबोर्न से लंदन गई। और अब चार सौ मील प्रति घण्टे के वेग से समस्त संसार के आर-पार उड़ आई हूँ।"

शान्त और सयमी वृद्ध ने साठ वर्ष के भावनामय जीवन से प्रेरित होकर प्रश्न किया—"इतनी शीघ्रता किस लिए ?"

तरुणी चुप थी। उसे कोई उत्तर नहीं मिल रहा था। आखिर इस दौड़-धूप का कोई उद्देश्य ? यह पूर्व का प्रश्न है, जो पश्चिम से ठीक उत्तर की माँग कर रहा है। इतना उतावलापन किस लिए ? एक दूसरे का विनाश करने के लिए ? मानव का स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान छीन लेने के लिए ? मानव को अपने श्रम से जो सुख सुविधा प्राप्त है, उसे हर लेने के लिए ? मैं भी उस वृद्ध भिक्षु का प्रश्न पुन पूछ लेता हूँ—यह सब किस लिए ?

शुभ काम स्वयं आशीर्वाद है

राजस्थान की एक सुप्रसिद्ध सेविका के सम्मान में एक विशाल अभिनन्दन समारोह का विराट आयोजन किया जा रहा था। उसकी सफलता के लिए गाधीजी से आशीर्वाद माँगा गया। गाधी जी ने लिखा—"शुद्ध सत्य तो यह है कि किसी भी शुभ काम में किसी के आशीर्वाद की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि शुभ काम स्वय ही आशीर्वाद रूप होता है। उसी में उसकी सफलता है।"

इसने मुझे पारस समझा

अकबर की सभा में जो नवरत्न थे उनमें खानखाना प्रमुख थे। वे जितने कुशल सैनिक और शासक थे उससे भी बढ़कर रामभक्त कवि थे।

एक बार वे पालकी में बैठ कहीं जा रहे थे। मार्ग में ऐसा हुआ कि उनके अंगरक्षकों के देखते देखते ही एक निर्धन व्यक्ति ने लोहे का एक भारी बाट उठाकर उन पर दे मारा।

खानखाना बच गए, पर अंगरक्षकों ने बेचारे उस निर्धन व्यक्ति को पकड़ लिया। निश्चय था कि वे उसे मार डालते पर उसी समय पालकी से निकल कर खानखाना ने उन्हें रोक दिया। अंगरक्षक बोले—"हुजूर! इसने आप पर वार किया है।

"नहीं" खानखाना मुस्कराकर बोले—"इसने मुझे पारस पत्थर समझा तभी तो लोहा फेंका है। जाओ इसे बाट के बराबर सोना दे दो।"

मेलवोर्न से लदन गई। और अब चार सौ मील प्रति घण्टे के वेग से समस्त संसार के आर-पार उड़ आई हूँ।"

शान्त और सयमी वृद्ध ने साठ वर्ष के भावनामय जीवन से प्रेरित होकर प्रश्न किया—"इतनी शीघ्रता किस लिए?"

तरुणी चुप थी। उसे कोई उत्तर नहीं मिल रहा था। आखिर इस दौड़-धूप का कोई उद्देश्य? यह पूर्व का प्रश्न है, जो पश्चिम से ठीक उत्तर की माँग कर रहा है। इतना उतावला-पन किस लिए? एक दूसरे का विनाश करने के लिए? मानव का स्वातत्र्य और स्वाभिमान छीन लेने के लिए? मानव को अपने श्रम से जो सुख सुविधा प्राप्त है, उसे हर लेने के लिए? मैं भी उस वृद्ध भिक्षु का प्रश्न पुन पूछ लेता हूँ—यह सब किस लिए?

शुभ काम स्वयं आशीर्वाद है

राजस्थान की एक सुप्रसिद्ध सेविका के सम्मान में एक विशाल अभिनन्दन समारोह का विराट आयोजन किया जा रहा था। उसकी सफलता के लिए गांधीजी से आशीर्वाद माँगा गया। गांधी जी ने लिखा—"शुद्ध सत्य तो यह है कि किसी भी शुभ काम में किसी के आशीर्वाद की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि शुभ काम स्वयं ही आशीर्वाद रूप होता है। उसी में उसकी सफलता है।"

बादशाह महमूद और दो उल्लू

एक बार बादशाह महमूद अपने वजीर के साथ जंगल में जा रहा था कि उसे एक पेड़ पर दो उल्लू दिखाई दिए। उसने वजीर से पूछा—बतलाओ ये दोनों क्या बातें कर रहे हैं?

वजीर दयालु था। बादशाह की लूटमार से सैकड़ों उजाड़ हो गए थे उजड़ गए थे। साहसी वजीर ने सोचा यह अवसर है बादशाह को कुछ खरी और साफ बात सुनाने का। अतः उसने कुछ देर सोचकर कहा —

'हुजूर इन दो उल्लुओं में एक लड़की का बाप है और दूसरा लड़के का। लड़के का बाप कह रहा है कि मैं दहेज में दस उजाड़ गाँव दूँगा। लड़की का बाप कहता है कि क्या बड़ी बात है? अगर बादशाह महमूद बना रहा तो मैं दस क्या बीस उजाड़ गाँव आपको नजर कर दूँगा।

बादशाह सुनकर लज्जित हो गया। उस दिन से कहते हैं उसने अत्याचार करना छोड़ दिया।

———

नौकर सो रहा था

अमेरिका के राष्ट्रपति का एक निजी अधिकारी किसी विशेष कार्यवश रात को लग-भग दो बजे लौटा और भवन के किवाड़ खड़खडाने लगा। थोडी देर में देखता है कि स्वय राष्ट्रपति ने आकर किवाड़ खोले और पूछा—"कहो, सब ठीक है ?"

अधिकारी ने देर में आने के कारण क्षमा माँगी। इस पर राष्ट्रपति ने कहा—"इसमें कष्ट की क्या बात है ? यदि मैं न आता तो तुम्हें रात भर बाहर ही पड़ा रहना पडता। मेरे सिवा मकान में यहाँ आज कोई नहीं है। हाँ, मैं अपने नौकर को भेज सकता था, पर वह सो रहा था। उसको जगाना मैंने ठीक नहीं समझा।"

———

बादशाह महमूद और दो उल्लू

एक बार बादशाह महमूद अपने वज़ीर के साथ जंगल में जा रहा था कि उसे एक पेड़ पर दो उल्लू दिखाई दिए। उसने वज़ीर से पूछा—बतलाओ ये दोनों क्या बातें कर रहे हैं?

वज़ीर दयालु था। बादशाह की लूटमार से सैकड़ों तबाह हो गए थे उजड़ गए थे। साहसी वज़ीर ने सोचा यह अवसर है बादशाह को कुछ खरी और साफ बात सुनाने का। अब उसने कुछ देर सोचकर कहा —

'हुजूर इन दो उल्लुओं में एक लड़की का बाप है और दूसरा लड़के का। लड़के का बाप कह रहा है कि मैं दहेज में दस उजाड़ गाँव लूँगा। लड़की का बाप कहता है कि क्या बड़ी बात है? अगर बादशाह महमूद बना रहा तो मैं दस क्या बीस उजाड़ गाँव आपकी नजर कर दूँगा।

बादशाह सुनकर लज्जित हो गया। उस दिन से उसने है असन अत्याचार करना छोड़ दिया।

वीरवर जाम्बा !

वनराज चावड़ा राजा होने से पहले इधर-उधर डाके डाला करता था। एक बार की बात है कि वह अपने तीन साथियों के साथ घने जगल में से जा रहा था। वहाँ उन्हें जाम्बा नामक एक जैन व्यापारी मिला। वनराज ने कहा—"जो तेरे पास है, रखदे। यदि चूँचपड़ की तो देख ले, मौत के घाट उतार दिया जायगा।'

जाम्बा ने हँस कर कहा—"अच्छा, यह बात है। तो मैं तैयार हूँ।" यह कहते हुए जाम्बा ने अपना धनुष सँभाला और अपने पास के पाँच वाणों में से दो को एक ही झटके में तोड डाला।

वनराज ने चकित होकर पूछा—"अरे जीवन-मरण के इस विकट प्रसग पर तूने अपने दो वाण क्यों तोड डाले?" जाम्बा ने उत्तर में कहा—"तुम तीनों के लिए तीन वाण काफी हैं। दो फालतू थे, उनका क्या करता?"

वनराज ने कहा—"मालूम होता है, तुझे अपने अचूक लक्ष्य-वेध पर गर्व है। यदि तू ऐसा ही अचूक लक्ष्य-वेधी है तो उस दूर उड़ती चिडिया को बींधकर दिखा ताकि पता चले तू कितने गहरे पानी में है।"

इस पर जाम्बा ने कहा—"उस विचारी निरपराध चिड़िया को क्यों मारूँ? मेरे लक्ष्य-वेध की परीक्षा तो तुम जैसों के दुराचारी सीने पर होती है।"

वनराज चावड़ा जांबा की वीरता और साहस को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। तेज हवा के कारण तीव्र गति से काँपते हुए वृक्ष के नन्हें-से पत्ते को जब जांबा ने बींधा तो वनराज और उसके साथियों ने हर्ष-ध्वनि की।

तदनन्तर वनराज चावड़ा जब गुजरात का राजा हुआ तो उसने जांबा को बुलाकर अपना प्रधान-मंत्री तथा प्रधान सेनानायक बनाया।

राज्य तो यह खड्ग है

अमरसिंह राठौर जब जोधपुर से निकाल दिए गए तब क्या वह एक दम निराश और हताश होकर बैठ गए थे ? नहीं उन्होंने जीवन में किंकर्तव्य मूढ़ होना कभी जाना ही नहीं।

जोधपुर छोड़ते हुए उन्होंने उत्साहपूर्वक जो कहा था वह आज भी निराशा के अन्धकार में बिजली चमका देने वाला है।

उन्होंने तलवार को हाथ में तानते हुए कहा था—"हमारा राज्य तो यह खड्ग है। इसकी दोनों धारें राज्य की सीमा इसका सिरा सिंहासन और इसकी मूठ हमारा खजाना है। इसकी सहायता से एक मारवाड़ क्या सारी पृथ्वी का राज्य लिया जा सकता है।

मूर्ख आलोचक

एक बार लार्ड मार्थस नाटक देख रहे थे। उनके पास ही एक मूर्ख आलोचक भी बैठा था। जो बहुत उतावला और वाचाल प्रकृति का धनी था।

उसने लार्ड से सामने की ओर संकेत करते हुए कहा—"देखिए, वह सामने वाली औरत कितनी भद्दी है?"

उत्तर मिला—"हाँ, वह मेरी स्त्री है।"

उस मूर्ख ने कुछ लज्जित होकर अपनी झेंप मिटाते हुए फिर कहा—"वह नहीं साहब उसकी बगल वाली!"

लार्ड ने गंभीर भाव से कहा—"अच्छा वह, वह मेरी बहिन है।"

व्यर्थ ही इधर-उधर के लोगों पर नुक्ताचीनी करने वाले अविवेकी वाचाल, समय पर, इतने लज्जित होते हैं कि कुछ पूछो नहीं। मनुष्य को तौलकर बोलना चाहिए।

क्या गधा भी इतना सुन्दर हो सकता है ?

सुप्रसिद्ध कलाकार नन्दबाबू से एक नवागन्तुक छात्र ने पूछा—"वह किस विषय को लेकर चित्रांकन करे ?" नन्दबाबू तुरंत बोले "जो भी विषय तुम्हारे नयनों के सामने आए, उसी का अंकन कर सकते हो यथा—पुष्प पत्र गधा आदि।" नवागत छात्र गुरु जी की तरफ जरा विस्मय-दृष्टि से निहारने लगा। मानो वे कुछ परिहास कर रहे हों !

शिल्प गुरु ने उस के मनोगत भाव को भाँप लिया। शीघ्र ही अपनी जेब से एक सादा कागज और पेंसिल जो कि उन की जेब में सदा मौजूद रहते थे निकाल कर पास ही खेत में चरते हुए एक गधे का जीवित रेखांकन (स्केच) कर बताया। छात्र उस चित्रांकन को ध्यान से निहारता रहा। अंकन पूरा होते ही वह भावावेश में बोल उठा— 'गुरु जी क्या गधा भी इतना सुन्दर हो सकता है ?"

'निःसन्देह यदि किसी के पास अवलोकन की गहरी दृष्टि हो।' गुरु ने उत्तर दिया।

मूर्ख आलोचक

एक बार लार्ड मार्थस नाटक देख रहे थे। उनके पास ही एक मूर्ख आलोचक भी बैठा था। जो बहुत उतावला और वाचाल प्रकृति का धनी था।

उसने लार्ड से सामने की ओर संकेत करते हुए कहा—"देखिए, वह सामने वाली औरत कितनी भद्दी है?"

उत्तर मिला—"हाँ, वह मेरी स्त्री है।"

उस मूर्ख ने कुछ लज्जित होकर अपनी झेंप मिटाते हुए फिर कहा—"वह नहीं साहब उसकी बगल वाली!"

लार्ड ने गंभीर भाव से कहा—"अच्छा वह, वह मेरी बहिन है।"

व्यर्थ ही इधर उधर के लोगों पर नुक्ताचीनी करने वाले अविवेकी वाचाल, समय पर, इतने लज्जित होते हैं कि कुछ पूछो नहीं। मनुष्य को तौलकर बोलना चाहिए।

तीन बड़े डाक्टर !

आज से अढ़ाईसौ वर्ष पहले डाक्टर सिडेन-हम इंग्लैण्ड में एक बड़े मशहूर डाक्टर हो गए हैं। उनकी मरण-शैया के समीप सगे-सम्बन्धी, मित्र और शिष्यों का समूह जमा था। सब को अफसोस करते देखकर, वह बड़ी शान्ति से बोले "आप लोग इतना रंज क्यों कर रहे हैं? मुझे तो बड़ा सन्तोष है कि मैं अपने पीछे अपने से भी महान् तीन डाक्टर छोड़े जा रहा हूँ।"

उपस्थित सज्जनों ने आश्चर्य-मुद्रा से उनकी ओर देखा—"क्या कहते हैं आप! सिडेन-हम जैसा एक भी तो डाक्टर मिलना असम्भव है।" उन्हीं के शिष्यों में से एक ने आश्चर्य और विनय से पूछा—"वे तीनों नाम बताने की कृपा कीजिये।"

सिडेन हम ने उपस्थित जनों की ओर देखते हुए आहिस्ता से जवाब दिया —

उन तीन महान् चिकित्सकों के नाम हैं —

हवा, पानी, कसरत।

अपना-अपना भाग्य

महाराष्ट्र केसरी शिवाजी महाराज सज्जन गढ का किला बनवा रहे थे। एक दिन उनके मन मे इस बात का कुछ अभिमान सा हुआ, "मैं कितना बड़ा आदमी हूँ? मेरे द्वारा प्रतिदिन हजारों आदमियों का पालन पोषण होता है।

इसी अवसर पर अचानक ही श्री समर्थगुरु रामदास भी वहाँ आ पहुँचे। शिवाजी से बातें करते-करते श्री समर्थ ने पत्थर के एक टुकड़े की ओर सकेत कर के एक बेलदार से उसे तोड़ देने को कहा। जब वह पत्थर तोड़ा गया, तो उसके अन्दर से थोड़ा-सा पानी और एक जीता हुआ मेढक निकला। श्री समर्थ ने वह मेढक शिवाजी को दिखलाकर कहा—"राजन! तुम बहुत शक्तिशाली हो! तुम्हारे सिवा ससार के जीवों का पालन पोषण और कौन कर सकता है? मालूम होता है, पत्थर के अन्दर इस मेढक का पालन-पोषण भी तुम ही कर रहे थे।"

शिवाजी अपनी भूल समझ गए, और उन्होंने मन ही मन बहुत लज्जित होकर अपने मिथ्या अभिमान के लिए श्री समर्थ से क्षमा माँगा। योगी समर्थ का यह अद्भुत चमत्कार सन्देश देता है कि मनुष्य विनम्र भाव से सत् कर्म करे। प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का पाता है उस मे दाता का अभिमान कैसा? दाता निमित्त हो सकता है, किसी के भाग्य का कर्ता नहीं।

महाराणा प्रताप का स्वदेश प्रेम

मेवाड़ के गौरव महाराणा प्रतापसिंह, घास की झोंपड़ी में मरण शय्या पर पड़े थे। परन्तु उनका हृदय अब बेचैन था, उनकी आत्मा को शान्ति नहीं मिल रही थी।

इस पर सरदारों ने कहा—"महाराज! अब आप शान्ति से प्रभु-चरणों में पधारिए। आपने मेवाड़ के लिए बहुत कुछ कर दिया है, अब इसकी चिन्ता न करें।"

राणा ने कहा—"मेरे मन में और कोई चिन्ता नहीं है। मुझे यह ही चिन्ता है कि मेरे मरने पर मेवाड़ का क्या होगा? मैंने देखा था—एक बार अमरसिंह इस झोंपड़ी में घुसा तो उसके सिर में चोट लग गई थी और वह घर की हीन दशा पर कुढ़ कर बड़बड़ाता रहा था। उसका मन झोंपड़ी में नहीं, महल में है। अतः मुझे भय है कि सुखाभिलाषी अमरसिंह विरुद्ध स्थिति आने पर मेवाड़ की रक्षा न कर सकेगा।"

सरदारों ने कहा—"तो इसके लिए क्या उपाय किया जाय?" राणा ने कहा—"यदि तुम सब और अमरसिंह यह प्रतिज्ञा करें कि जब तक दिल्ली विजय न कर लेंगे तब तक न दिल्ली जायेंगे न थाल में खायेंगे न पलंग पर सोयेंगे और न मूँछों पर ताव देंगे तो मैं शान्ति से अपनी अन्तिम यात्रा कर सकूँगा।"

सिकन्दर और बुढ़िया

एक बार एक बुढिया सिकन्दर[1] महान् के दरबार मे आई और शिकायत की कि—"हुजूर! मेरे बेटे को डाकुओ ने मार डाला और मेरा सब धन लूट ले गए। यह कितना अंधेर है कि नीचे से लेकर ऊपर तक मेरी फरियाद भी कोई नहीं सुनता!"

सिकन्दर ने कहा—"तू जानता नहीं, मेरा राज्य कितना बड़ा है? मेरा राज्य इतना बड़ा है कि सब जगह ठीक-ठीक प्रबन्ध करना मेरे लिए कठिन है।"

बुढिया ने बिगड कर कहा—"अगर आप ठीक तरह इतजाम नहीं कर सकते तो राज्य को इतना बढ़ा क्यों लिया?"

सिकन्दर ने बुढिया के इस स्पष्ट कथन पर कुछ भी बुरा न माना। अपनी भूल स्वीकार की और डाकुओं को पकडवा कर उचित दण्ड की व्यवस्था की।

---

१ कुछ इतिहासकार इस घटना का सम्बन्ध महमूद गजनवी से जोड़ते हैं।

महाराणा प्रताप का स्वदेश प्रेम

मेवाड़ के गौरव महाराणा प्रतापसिंह, घास की झोंपड़ी में मरण-शय्या पर पड़े थे। परन्तु उनका हृदय बड़ा बेचैन था उनकी आत्मा को शान्ति नहीं मिल रही थी।

इस पर सरदारों ने कहा—"महाराज! अब आप शान्ति से प्रभु चरणों में पधारिए। आपने मेवाड़ के लिए बहुत कुछ कर दिया है, अब इसकी चिन्ता न करें।

राणा ने कहा—"मेरे मन में और कोई चिन्ता नहीं है। मुझे यह ही चिन्ता है कि मेरे मरने पर मेवाड़ का क्या होगा? मैंने देखा था—एक बार अमरसिंह इस झोंपड़ी में घुसा तो उसके सिर में बांस लग गई थी और वह घर की हीन दशा पर कुछ देर बड़बड़ाता रहा था। उसका मन झोंपड़ी में नहीं महल में है। अब मुझे भय है कि सुखाभिलाषी अमरसिंह विकट स्थिति आने पर मेवाड़ की रक्षा न कर सकेगा।"

सरदारों ने कहा "तो इसके लिए क्या उपाय किया जाय?" राणा ने कहा—"यदि तुम सब और अमरसिंह यह प्रतिज्ञा करें कि जब तक दिल्ली विजय न कर लेंगे तब तक न [illegible] खायेंगे न थाल में खायेंगे न पलंग पर सोयेंगे और न मूंछों पर ताव देंगे तो मैं शान्ति से अपनी अन्तिम यात्रा कर सकूंगा।

ऊपर लिखे अनुसार अमरसिंह और उपस्थित सरदारों ने जब प्रतिज्ञा ग्रहण की, तभी मेवाड़पति की आत्मा को शान्ति मिली। यह है स्वदेश भक्ति और स्वदेश-प्रेम।

सम्राट् अकबर के अर्थ मंत्री राजा टोडरमल अपने युग में बड़े ही बुद्धिमान और विलक्षण पुरुष थे। कहा जाता है, एक बार एक फकीर ने सम्राट अकबर की सेवा में अर्जी दी कि "अपने राज्य में से, जहाँ मैं चाहूँ, मुझे एक बीघा जमीन दे दी जाय।"

बादशाह ने अर्जी टोडरमल को दे दी और कहा कि "एक बीघा जमीन बहुत छोटी सी माँग है। क्या हर्ज है, दे दीजिए।"

टोडरमल ने सोचा—"हो न हो, यह फकीर काश्मीर में केशर के खेतों की एक बीघा जमीन लेना चाहता है। क्योंकि उस जमीन का एक ही बीघा पाकर यह मालामाल हो जायगा।"

अस्तु, टोडरमल ने अर्जी के उत्तर में लिखा—"केशर के खेतों को छोड़कर अन्यत्र जहाँ चाहो एक बीघा जमीन ले सकते हो।"

फकीर ने समझ लिया कि टोडरमल के सामने मेरी दाल न गलेगी। उसने अपनी अर्जी वापस ले ली। सम्राट अकबर को जब यह मालूम हुआ तो टोडरमल की बुद्धिमत्ता पर बड़ा ही प्रसन्न हुआ।

गुरु नानक और मिठाई !

गुरु नानक देव के अनन्य शिष्यों में एक शिष्य भाई लालो था जो जाति का बढ़ई था और अपने गाढ़े परिश्रम की कमाई खाता था।

एक बार का ज़िक्र है कि गुरु नानक अपने इसी परम शिष्य भाई लालो के गाँव में ठहरे हुए थे तो मलिक भागो ने जो कि मुग़ल सम्राट् की ओर से उस प्रान्त के गवर्नर नियुक्त थे गुरु की सेवा में अपनी श्रद्धांजलि भेंट करनी चाही और गुरु नानक देव को अपने दरबार में आने के लिए आग्रह किया। गुरु नानक देव ने जब उनके आमंत्रण का अस्वीकार कर दिया तो मलिक भागो स्वयं मिठाई का थाल लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित हुआ।

जब मलिक साहब की भेंट की हुई मिठाई गुरु नानक देव के सम्मुख रक्खी गई तो उसी समय लालो के यहाँ से भी बाजरे की रूखी रोटियाँ सभा में उपस्थित की गईं। नानक साहब ने मिठाई खाने से इन्कार कर दिया। कारण पूछने पर गुरु ने मलिक भागो के द्वारा प्रदान की गई मिठाई को अपनी मुट्ठी में कस कर दबाया जिससे खून की बूँदें टपकने लगीं। और जब लालो की रूखी रोटी को दबाया तो उसमें से दूध की धारा बहने लगी। उपस्थित जन-समुदाय के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। गुरु नानक देव ने कहा—न्यायपूर्वक अपने श्रम से कमाये भोजन में

से दूध की धारा बहती है और अन्याय एवं अत्याचार के द्वारा प्राप्त मिठाई में से गरीबों का खून टपकता है।

इस घटना से मलिक भागो बहुत प्रभावित हुआ। उसने रिश्वत, झूठ, दगा तथा अन्य नीच प्रवृत्तियों द्वारा धन एकत्रित करने का पूर्ण वृत्तान्त जनता के सन्मुख कह सुनाया। उस दिन से मलिक भागो अपने पुराने पेशे को छोड कर गुरु नानक का परम भक्त हो गया।

व्यापारी की प्रामाणिकता

श्रीयुत टामपियन अपने युग में एक बडा ही होशियार घड़ी बनाने वाला और सुधारने वाला था। उसका एक मात्र नाम ही घडी की उत्तमता का प्रमाण पत्र माना जाता था। अतएव कुछ नकल खोरों ने भी उसके नाम का दुरुपयोग करना शुरू किया।

एक समय की बात है कि एक आदमी ने अपनी घड़ी उसे सुधारने के लिए दी। वह नकली थी और उस पर टामपियन का नाम लिखा था। देखते ही उसने हथौडे से उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले और अपनी ओर से एक नई घड़ी देते हुए कहा—"लीजिए महाशय, यह मेरी बनाई हुई घड़ी है।"

यह है स्वतंत्र देशों की अपने व्यापारिक जीवन की प्रामाणिकता। उनका अहभाव धन में नहीं, अपितु अपने नाम के अनुरूप काम में है।

कितने अड़ियल और कितने विनोदी ! १

गत महायुद्ध में प्रधान मन्त्री होने के कुछ ही दिन बाद मि चर्चिल १ नम्बर डाउनिंग स्ट्रीट से बाहर सड़क पर निकले। सामने से एक १५ वर्ष का लड़का जोरों से सीटी बजाता आ पहुँचा। चर्चिल को सीटी की आवाज पसंद नहीं थी। उन्होंने डाँट कर कहा—सीटी बजाना बंद करेगा। लड़के ने कहा—"क्यों बंद करूँ"?

चर्चिल ने जवाब दिया—"क्योंकि मैं इसे पसंद नहीं करता यह केवल आवाज है। लड़का बोला—'तो आप अपने कान बंद कर सकते हैं। क्या नहीं कर सकते हैं ?

चर्चिल को गुस्सा तो आया, लेकिन वे चुपचाप परराष्ट्र विभाग के दफ्तर में चले गए। उन्होंने उस लड़के के अन्तिम शब्दों को दुहराया—'आप अपने कान बंद कर सकते हैं। क्या नहीं कर सकते ? और फिर खूब खिल खिला कर हँसे।

एक स्वतन्त्र और ऊँचे चरित्र वाले देश का यह जीवन है। कहाँ इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री और कहाँ सड़क पर सीटी बजाता हुआ लड़का ? किन्तु कितने अड़ियल और कितने विनोदी !

से दूध की धारा बहती है और अन्याय एव अत्याचार के द्वारा प्राप्त मिठाई मे से गरीबों का खून टपकता है।

इस घटना से मलिक भागो बहुत प्रभावित हुआ। उसने रिश्वत, झूठ, दगा तथा अन्य नीच प्रवृत्तियों द्वारा धन एकत्रित करने का पूर्ण वृत्तान्त जनता के सन्मुख कह सुनाया। उस दिन से मलिक भागो अपने पुराने पेशे को छोड़ कर गुरु नानक का परम भक्त हो गया।

व्यापारी की प्रामाणिकता

श्रायुत टामपियन अपने युग में एक बडा ही होशियार घडी बनाने वाला और सुधारने वाला था। उसका एक मात्र नाम ही घडी की उत्तमता का प्रमाण पत्र माना जाता था। अतएव कुछ नकल खोरो ने भी उसके नाम का दुरुपयोग करना शुरू किया।

एक समय की बात है कि एक आदमी ने अपनी घडी उसे सुधारने के लिए दी। वह नकली थी और उस पर टामपियन का नाम लिखा था। देखते ही उसने हथौड़े से उसके टुकडे टुकड़े कर डाले और अपनी ओर से एक नई घडी देते हुए कहा—"लीजिए महाशय, यह मेरी बनाई हुई घड़ी है।"

यह है स्वतत्र देशों की अपने व्यापारिक जीवन की प्रामाणिकता। उनका अहंभाव धन में नहीं, अपितु अपने नाम के अनुरूप काम में है।

इसे आगे बढ़ा दें

बेंजेमिन फ्रैंकलिन अपने आरम्भिक दिनों में एक अखबार छापता था। और आगे चलकर उसका सम्पादन और प्रकाशन भी करता था। उसके पास सांसारिक वस्तुओं की कोई अधिकता न थी। एक बार उसे रुपये की जरूरत पड़ी। उसने एक धनी व्यक्ति से बीस डालर माँगे। उस परिचित आदमी ने तुरन्त बीस डालर की सोने की मोहर दे दी।

थोड़े समय में फ्रैंकलिन बीस डालर बचा सका और उसे वापस करने लगा।

जब बीस डालर का सिक्का मेज पर रखा गया उसका मित्र चकित हुआ। वह बोला कि उसने कभी बीस डालर उधार नहीं दिये थे।

फ्रैंकलिन ने उसे याद कराया कि अमुक अवसर पर अमुक अवस्था में उसने डालर दिये थे।

"हाँ दिये तो थे।"

"इसीलिए तो मैं लौटाने आया हूँ।"

लौटाने की बात तो कभी नहीं हुई थी। लौटाने की बात मैं कभी सोच ही नहीं सकता था।

"इस सोने के सिक्के को रखो" उसने कहा किसी दिन कोई तुम्हारे पास आएगा जिसे इसकी वैसी ही आवश्यकता होगी जैसी कभी तुम्हें थी—उसे दे देना।

मेरी अपेक्षा तुझे ज़्यादा ज़रूरत है।

महान् सेनापति सर फिलिप सिडनी को रणक्षेत्र में बड़ी ही घातक चोट लगी थी। रक्तस्राव इतने वेग से हुआ कि प्यास के मारे वे छटपटाने लगे। परन्तु रणक्षेत्र में पानी कहाँ। फिर भी सेनापति के लिए बहुत दौड़-धूप के बाद पानी लाया गया।

सेनापति ज्योंही पानी पीने लगे, देखा कि पास ही एक घायल सिपाही की नजर बड़े सतृष्ण भाव से पानी की बोतल पर गड़ी हुई है। सिडनी ने उसकी आँखों में पानी की प्यास देखी। सेनापति का हृदय दया से छलछला उठा। उन्होंने पानी की बोतल उसे देनी चाही। घायल सिपाही इन्कार करने लगा। इस पर महान् सेनायक ने कहा—"भैया, इस में इन्कार की क्या बात है? मैं स्पष्ट ही देख रहा हूँ कि मेरी अपेक्षा तुझे पानी की ज्यादा जरूरत है।"

महान् सिडनी ने स्वय पानी न पीकर घायल सिपाही को पिला दिया, और स्वय प्यास के मारे मर गये। परन्तु उनके इस कार्य ने उन्हें इतिहास में अमर बना दिया है। समय, शक्ति और अपने जीवन को जो दूसरों के लिए अर्पण कर देता है, वह निश्चय ही महान है।

इसे आगे बढ़ा दें

बेंजेमिन फ्रैंकलिन अपने प्रारम्भिक दिनों में एक अखबार छापता था। और आगे चलकर उसका सम्पादन और प्रकाशन भी करता था। उसके पास सांसारिक वस्तुओं की कोई अधिकता न थी। एक बार उसे रुपये की जरूरत पड़ी। उसने एक धनी व्यक्ति से बीस डालर माँगे। उस परिचित आदमी ने तुरन्त बीस डालर की माँग को मंजूर दे दी।

थोड़े समय में फ्रैंकलिन बीस डालर बचा सका और उसे वापस करने लगा।

जब बीस डालर का सिक्का मेज पर रखा गया उसका मित्र चकित हुआ। वह बोला कि उसने कभी वापस पाने को उधार नहीं दिये थे।

फ्रैंकलिन ने उसे याद कराया कि अमुक अवसर पर अमुक अवस्था में उसने डालर दिये थे।

"हाँ दिये तो थे।

"इसीलिए तो मैं लौटाने आया हूँ।"

लौटाने की बात तो कभी नहीं हुई थी। लौटाने की बात मैं कभी सोच ही नहीं सकता था।"

"इस सोने के सिक्के को रखो" उसने कहा। "किसी दिन कोई तुम्हारे पास आएगा जिसे इसकी वैसी ही आवश्यकता होगी जैसी कभी तुम्हें थी—उसे दे देना।

"यदि वह एक ईमानदार आदमी है तो वह कभी-न कभी तुम्हें डालर लौटाने आएगा। जब वह आए तो उससे कहना कि वह उस मोहर को रखे और अपनी ही जैसी अवस्था में जो कोई मागने आए उसे दे दे।"

कहा जाता है कि वह बीस डालर की मोहर आज भी अमेरिकन सयुक्त प्रजातत्र में किसी-न-किसी की आवश्यकता पूरी करती हुई घूम रही है।

पाठक, आप भी, जो भी कुछ आपको मिले—वह कुछ भी हो, उसे आगे बढा दें।

भोजन तो हो चुका !

एक बार सम्राट् नेपोलियन ने अपने सेनानायकों को भोजन के लिए बुलाया, साथ ही कुछ विचार विमर्श भी करना था। निश्चित समय पर आने में उन्हें कुछ देर हो गई। इस पर नेपोलियन तो ठीक समय पर भोजन करने के लिए बैठ गए। वह भोजन समाप्त करके उठ ही रहे थे कि इतने में सेनानायक भी आ पहुँचे। उन्हें देखकर नेपोलियन ने कहा—"भोजन तो हो चुका, आइए, अब अपना काम शुरू करें।"

समय हुआ या नहीं ?

अमरिका के राष्ट्रपति वाशिंगटन चार बजे भोजन करते थे। एक बार उन्होंने काँग्रेस के कुछ नए सदस्यों को अपने यहाँ भोज में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। वे लोग निश्चित समय से थोड़ी देर बाद पहुँचे तो उन्होंने राष्ट्रपति को भोजन करते देखा। इस पर उनके मन को कुछ खेद हुआ।

यह स्थिति देखकर समय के पाबंद राष्ट्रपति ने कहा—'मेरा रसोइया मुझसे यह कभी नहीं पूछा करता कि मेहमान आए या नहीं ? वह केवल यही पूछता है कि भोजन का समय हुआ या नहीं ?'

मिनट मिनट का मोल

राष्ट्रपति वाशिंगटन के सेक्रेटरी एक बार देर से आए। उन्होंने देर होने की क्षमा माँगी और देरी के लिए अपनी घड़ी की सुस्ती का कारण उपस्थित किया। इस पर वाशिंगटन ने कहा— 'जनाब ! या तो आप दूसरी घड़ी लीजिए या मुझे दूसरा सेक्रेटरी बुलाना पड़ेगा।' देखिए यह है मिनट-मिनट का मोल !

बादशाह भी डाकू !

महान् सिकंदर के दरबार में एक व्यक्ति अपराधी के रूप में उपस्थित किया गया। उसके ऊपर यह आरोप था कि वह डाकू है और उसने कितनी ही बार बड़े-बड़े राजाओं, सेठों और जागीरदारों के खजानों पर हाथ साफ किया है।

जब उससे महान् सिकंदर ने जवाब तलब किया तो उसने बड़े ही निर्भीक भाव से कहा—"जो काम तुम करते हो, वही मैं भी करता हूँ। तुम और मैं दोनों भाई-भाई ही तो हैं, क्योंकि तुम्हारा और मेरा पेशा एक है। तुम में और मुझ में अन्तर केवल इतना ही है कि तुम बड़े-बड़े देशों को उजाड़ते हो, गाँव-पर गाँव, नगर पर नगर, प्रान्त पर-प्रान्त और राज्य-पर राज्य मौत के घाट उतारते हो, निरपराध जनता की हत्या करते हो और उसका धन लूटते हो, परन्तु मैं तुम्हारे जैसे लुटेरों के खजानों पर हाथ मारता हूँ और गरीबों को बाँट देता हूँ। इसलिए मुझ से पहले तुम्हारा विचार होना चाहिए। मैं छोटा डाकू हूँ और तुम संसार के बड़े डाकू हो।"

डाकू के उत्तर में कुछ सचाई तो है ?

———
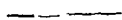
गुरु की अन्तिम सीख

माघ बदि नवमी का दिन था। महाराष्ट्र के महान् सन्त समर्थ गुरु रामदास स्वर्गारोहण की तैयारी में थे। आस-पास शिष्यों का जमघट लगा था। ज्यों ही अन्तिम क्षण आया सब के सब शिष्य रोने लगे। इस पर समर्थ ने कहा कि— "क्या इतने दिनों तक तुम लोगों ने मेरे साथ रह कर रोना ही सीखा है?" शिष्यों ने कहा—"भगवन्! हमें दुःख है, कि यह सगुण मूर्ति हम लोगों के सामने से चली जा रही है। अब हम सत्य की जिज्ञासा के लिये किस के साथ बात-चीत करेंगे?"

समर्थ ने उत्तर दिया— सदा के लिए कौन गुरु जीवित रहता है? गुरु चला जाता है, उसके विचार रह जाते हैं। अस्तु, मेरे बाद जो लोग मुझ से बात-चीत करना चाहें वे मेरा 'दास-बोध' नामक ग्रन्थ पढ़ सकते हैं।"

———

क्या मैं पालिश अच्छी नहीं करता था ?

इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ़ कॉमन्स में कभी-कभी बड़ी ही गरमागरम बहस हो जाया करती है, और इस कारण सदस्यों मे काफ़ी तू-तू मैं-मैं शुरू हो जाती है। एक वार एक उच्च कुलीन सदस्य ने, इसी प्रकार के किसी उग्र वादविवाद के प्रसग पर अपने प्रतिद्वन्द्वी से रुष्ट होकर कहा—"मुझे याद है, एक समय तुम मेरे पिता के जूतों पर पालिश किया करते थे।"

प्रतिद्वन्द्वी सदस्य मूल में बड़े ही गरीब घराने का था, किन्तु था प्रारम्भ से ही कर्त्तव्यनिष्ठ, स्वावलम्बी वीर। उसने बड़े ही नम्रभाव से हजारों आदमियों के सामने कहा—"आपका कहना ठीक है। परन्तु बताइये, क्या मैं अच्छी तरह से पालिश नहीं करता था ?"

किसी छोटे काम के करने में शर्म नहीं है। शर्म है उसे अच्छी तरह से योग्यतापूर्वक न करने मे। मनुष्य को अपने काम के प्रति वफ़ादार होना चाहिये, इसी में उसका गौरव है।

जीत निश्चय ही हमारी होगी

अंग्रेजों की ओर से मिस्र में नील नदी का युद्ध लड़ा जाने वाला था। महान् सेना नायक नेलसन ने अपने अधीनस्थ सेनाधिकारियों के सामने लड़ाई का नक्शा पेश किया। कप्तान बेरी उसे देखकर हर्षित हो उठा और बोला—"यदि हमारी जीत हो गई तो दुनिया चकित होकर क्या कहेगी?

नेलसन चुप न रह सके। वह बोल उठे—'यदि के लिए कोई स्थान नहीं है जीत निश्चय ही हमारी होगी। हाँ हमारी विजय की कहानी कहने वाला कोई बचेगा या नहीं यह प्रश्न दूसरा है।"

थोड़ी देर बातचीत करने के बाद अभ्यागत जब जाने लगे तब फिर नेलसन ने अपनी दृढ़ निश्चया वाणी में कहा—'कल इस समय के पहले ही या तो मुझे विजय प्राप्त हो जायगी या मेरे लिये वेस्टमिन्स्टर के गिर्जे में कब्र तैयार हो जायगी।

आखिर युद्ध में विजय नेलसन की ही हुई। मनुष्य सब कुछ कर सकता है, यदि उसमें अपने कार्य के अनुरूप दृढ़ निश्चय भी हो।

क्या मैं पालिश अच्छी नहीं करता था ?

इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ कॉमन्स मे कभी-कभी बड़ी ही गरमागरम बहस हो जाया करती है, और इस कारण सदस्यों में काफी तू-तू मैं-मैं शुरू हो जाती है। एक बार एक उच्च कुलीन सदस्य ने, इसी प्रकार के किसी उग्र वादविवाद के प्रसग पर अपने प्रतिद्वन्द्वी से रुष्ट होकर कहा—"मुझे याद है, एक समय तुम मेरे पिता के जूतों पर पालिश किया करते थे।"

प्रतिद्वन्द्वी सदस्य मूल में बड़े ही गरीब घराने का था, किन्तु था प्रारम्भ से ही कर्त्तव्यनिष्ठ, स्वावलम्बी वीर! उसने बड़े ही नम्रभाव से हजारों आदमियों के सामने कहा—"आपका कहना ठीक है। परन्तु बताइये, क्या मैं अच्छी तरह से पालिश नहीं करता था ?"

किसी छोटे काम के करने में शर्म नहीं है। शर्म है उसे अच्छी तरह से योग्यतापूर्वक न करने मे। मनुष्य को अपने काम के प्रति वफ़ादार होना चाहिये, इसी में उसका गौरव है।

———

जीत निश्चय ही हमारी होगी

अंग्रेजों की ओर से मिस्र में नील नदी का युद्ध छिड़ा जाने वाला था। महान् सेना नायक नेलसन ने अपने अधीनस्थ सेनाधिकारियों के सामने लड़ाई का नक्शा पेश किया। कप्तान बेरी उसे देखकर हर्षित हो उठा और बोला—"यदि हमारी जीत हो गई तो दुनिया चकित होकर क्या कहेगी?"

नेलसन चुप न रह सके। वह बोल उठे — यदि के लिए कोई स्थान नहीं है, जीत निश्चय ही हमारी होगी। हाँ हमारी विजय की कहानी कहने वाला कोई बचेगा या नहीं यह प्रश्न दूसरा है।

थोड़ी देर बातचीत करने के बाद कमानगाय सब जाने लगे तब फिर नेलसन ने अपनी दृढ़ निश्चयात्मक वाणी में कहा— 'कल इस समय के पहले ही या तो मुझे विजय प्राप्त हो जायगी या मेरे लिये वेस्टमिन्स्टर के गिर्जे में कब्र तैयार हो जायगी।"

आखिर युद्ध में विजय नेलसन की ही हुई। मनुष्य सब कुछ कर सकता है, यदि उसमें अपने कार्य के अनुरूप दृढ़ निश्चय भी हो।

राजस्थान की वीरांगना

जोधपुर नरेश यशवन्तसिंह राठौर हिन्दुस्तान की राजगद्दी पर शाहजहाँ के बाद दाराशिकोह को बैठाना चाहते थे। इधर औरंगजेब ने बड़ी धूर्तता का खेल खेल कर शाहजहाँ को तो कैद मे डाल दिया और स्वय गद्दी पर बैठ गया।

महाराजा यशवन्तसिंह का इस प्रश्न को लेकर औरंगजेब के साथ भयकर युद्ध हुआ। किन्तु इस युद्ध में राजपूत सेना को बहुत हानि उठानी पड़ी और वे कुछ थोड से बचे हुए राजपूतों को साथ लेकर जोधपुर चले आए।

परन्तु जब महाराजा की रानी जसवतदे हाड़ी को यह मालूम हुआ कि पतिदेव युद्ध से भाग कर यहाँ आ रहे हैं तो उसने क़िले के दरवाजे बद करवादिए और महाराजा को कहला दिया कि "हमारे पति वीर राठौर जसवन्तसिंह भूल कर भी कभी रणभूमि मे पीठ दिखा कर किले की ओर पैर नहीं रख सकते। ज्ञात होता है कि यह कोई दूसरा ही आदमी है। महाराजा का वेष पहन कर हमें धोखा देने आया है। और यदि आप सचमुच ही मेरे पति हों, तब भी भाग कर आने वाले पति का मुँह मैं नहीं देखना चाहती।

इन शब्दों ने महाराजा पर जादू का-सा असर किया। वे उल्टे पैरों किले के दरवाजे से लौट पड़े। उन्होंने चुपचाप एक अच्छी सेना तैयार की और मुगलों को परास्त किया।

विजयी पति जब जोधपुर लौटे तो वीर पत्नी ने वह प्रेम और उल्लास से भरा शानदार स्वागत किया जो इतिहास में अमर अमर होगया।

गधे की लात

मिर्जा गालिब हिन्दुस्तान के बड़े ही मशहूर शायर हो चुके हैं। आप बहुत ही विनम्र साधु प्रकृति के साहित्यकार थे। तत्कालीन मौलवी अमीनुद्दीन गालिब साहब की प्रतिष्ठा से चिढ़ते थे अतः उन्होंने उनके खिलाफ एक बहुत ही अभद्र पुस्तक लिखी।

परन्तु गालिब साहब ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। एक बार उनके एक प्रिय शिष्य ने उनसे कहा— 'हजरत ! आप ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। नालायक गधे का ऐसा मुँह तोड़ उत्तर देना चाहिये कि वह भी जिन्दगी भर याद रक्खे।'

गालिब साहब ने शिष्य के आग्रह का बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने कहा 'अगर कोई गधा तुम्हें लात मारे तो क्या तुम भी उसके लात मारोगे ?'

महाराजा रणजीत सिंह का तेज

पंजाब के सम्राट् महाराजा रणजीतसिंह बाईं आँख से काने थे और मुँह पर चेचक के इतने अधिक दाग थे कि वह बिल्कुल बदसूरत होगये थे। परन्तु इतने पर भी मुखमण्डल पर वीरता और तेज की ऐसी अनोखी कान्ति झलकती थी कि किसी का साहस उनकी ओर देखने का न होता था।

कहते हैं कि तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर ने उनके नौकर से एक बार पूछा कि "महाराज किस आँख से काने हैं?" इस पर नौकर ने उत्तर दिया—"साहब! उनके दिव्य तेज के सामने देखने की किसी की हिम्मत ही नहीं होती, फिर मैं कैसे बताऊँ कि वे किस आँख से काने हैं?"

गवर्नर इस बात को सुनकर दंग रह गया।

शिष्टाचार को भी भूल जाऊँ ?

जब चौदहवाँ क्लेमेन्ट पोप हुआ तो एक दिन बहुत से प्रतिनिधियों ने आकर उनका अभिवादन किया। अभिवादन के उत्तर में पोप ने भी अपनी ओर से अभिवादन किया।

इस पर पोप के मुख्य कार्य संचालक ने कहा— "हुजूर आप पोप हैं, अतः आपको उनके अभिवादन का उत्तर अभिवादन से नहीं देना चाहिये था।"

पोप ने कहा—"क्षमा कीजिए, मुझे अभी पोप हुए इतना समय नहीं हुआ कि मैं अपने शिष्टाचार को भी भूल जाऊँ।"

उचित शिष्टाचार के पालन में बड़ों का बड़प्पन घटता नहीं अपितु बढ़ता है।

बोझ का सम्मान कीजिए

एक समय की बात है कि फ्राँस के भूतपूर्व सम्राट नेपोलियन सेन्ट हेलेना में अपने एक साथी के साथ कहीं जा रहे थे। सामने से एक मजदूर सिर पर बोझा उठाए आ रहा था।

नेपोलियन का साथी सीधा चलता रहा वह अपनी राह नहीं छोड़ना चाहता था। यह देख कर सम्राट ने कहा— "कृपया बोझ का सम्मान कीजिए। रास्ते से एक ओर हट जाइए।"

महाराजा रणजीत सिंह का तेज

पंजाब के सम्राट् महाराजा रणजीतसिंह बाईं आँख से काने थे और मुँह पर चेचक के इतने अधिक दाग थे कि वह बिल्कुल बदसूरत होगये थे। परन्तु इतने पर भी मुखमण्डल पर वीरता और तेज की ऐसी अनोखी कान्ति झलकती थी कि किसी का साहस उनकी ओर देखने का न होता था।

कहते हैं कि तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर ने उनके नौकर से एक बार पूछा कि "महाराज किस आँख से काने हैं?" इस पर नौकर ने उत्तर दिया—"साहब! उनके दिव्य तेज के सामने देखने की किसी की हिम्मत ही नहीं होती, फिर मैं कैसे बताऊँ कि वे किस आँख से काने हैं?"

गवर्नर इस बात को सुनकर दंग रह गया।

महाकवि धनपाल

महाकवि धनपाल जैन श्रावक थे। बड़े ही दयालु और शान्त। एक दिन राजा भोज बड़े आग्रह के साथ उन्हें शिकार खेलने के लिए साथ ले गया। राजा ने एक भागते हुए हरिण को बाण से बींधा और वह भूमि पर गिरते ही प्राणान्त वेदना से छट-पटाने लगा। इस प्रसंग पर साथ के दूसरे कवियों ने राजा की प्रशंसा में कविताएं पढ़ीं। किन्तु महाकवि धनपाल चुपचाप खड़े रहे। आखिर राजा ने स्वयं ही प्रसंगोचित वचन के लिए धनपाल के मुँह की ओर देखा। महाकवि धनपाल ने राजा को बोध देने की दृष्टि से तत्कालीन प्रसंग का निर्भयता पूर्वक उपयोग करते हुए कहा—

रसातलं यातु यदत्र पौरुषम्
कुनीतिरेषा शरणोह्यदोषवान्।
निहन्यते यद् बलिनापि दुर्बलो
हहा ! महाकष्टमराजकं जगत्।

—यह पौरुष पाताल में जाए। निर्दोष और शरणागत को मारना नीति नहीं कुनीति है। बड़े दुःख की बात है कि बलवान दुर्बल को मारते हैं। संसार में अराजकता किस भयंकर रूप में छाई हुई है।

राजा ने अपनी यह भर्त्सना सुनी तो अपमान से तिलमिला उठा। अस्तु कुछ क्रोध के स्वर में कहा— कविराज यह क्या कहते हो ?"

तुम्हारा किला कहाँ है ?

मनुष्य का वास्तविक बल उसके पास ही रहता है, अन्यत्र नहीं। कहा जाता है, कार्लोना के विख्यात सैनिक स्टीफन को जब उसके शत्रुओं ने कैद कर लिया, तब उससे पूछा—"बताओ, तुम्हारा क़िला कहाँ है ?"

वीर सिपाही ने बड़े गर्व के साथ हृदय पर हाथ रखते हुये उत्तर दिया "यहाँ।"

ऊँचा कुल नहीं, ऊँचा चरित्र चाहिए

एक बार महान दार्शनिक सिसेरो को एक उच्चकुलीन घमंडी सरदार ने कहा— तुम तो नीच कुल के हो। हमारी तुम्हारी क्या बराबरी ?"

रोम के उस महान् प्रवक्ता ने नम्रता से जवाब दिया— "मेरे कुल की कुलीनता का आरंभ मुझसे होता है, आपके कुल की कुलीनता का अन्त आप से होता है।"

कुल के ऊँचेपन का क्या मूल्य है, मूल्य है मनुष्य के अपने चरित्र-बल का। ऊँचा कुल नहीं, ऊँचा चरित्र चाहिए।

महाकवि धनपाल

महाकवि धनपाल जैन श्रावक थे। बड़े ही दयालु और शान्त। एक दिन राजा भोज बड़े आमोद के साथ उन्हें शिकार खेलने के लिए साथ ले गया। राजा ने एक भागते हुए हरिण को बाण से बींधा और वह भूमि पर गिरते ही आक्रान्त वेदना से छट-पटाने लगा। इस प्रसंग पर साथ के दूसरे कवियों ने राजा की प्रशंसा में कविताएं पढ़ीं। किन्तु महाकवि धनपाल चुपचाप खड़े रहे। आखिर राजा ने स्वयं ही प्रसंगोचित वचन के लिए धनपाल के मुँह की ओर देखा। महाकवि धनपाल ने राजा को बोध देने की दृष्टि से तत्कालीन प्रसंग का निर्भयता पूर्वक उपयोग करते हुए कहा—

> रसातलं यातु यदत्र पौरुषम्
> कुनीतिरेषा शरणोह्यदोषवान्।
> निहन्यते यद् बलिनापि दुर्बलो,
> हहा! महाकष्टमराजकं जगत्।

—यह पौरुष पाताल में जाए। निर्दोष और शरणागत को मारना नीति नहीं कुनीति है। बड़े दुःख की बात है कि बलवान दुर्बल को मारते हैं। संसार में अराजकता किस भयंकर रूप में छाई हुई है।

राजा ने अपनी यह भर्त्सना सुनी तो अपमान से तिलमिला उठा। अस्तु क्रुद्ध भाव के स्वर में कहा— 'कविराज यह क्या कहते हो?

महाकवि धनपाल ने दृढता के स्वर में कहा—

वैरिणोऽपि हि मुच्यन्ते,
प्राणान्ते तृण-भक्षणात्।
तृणाहारा सदैवैते,
हन्यन्ते पशवः कथम् ?

—महाराज ! ठीक ही कहता हूँ, इसमें क्या असत्य है ? मुँह में घास का तिनका लेने पर जब विरोधी से विरोधी प्राणशत्रु को भी आपके यहाँ छोड़ दिया जाता है, तब ये मूक पशु तो सदा ही घास खाकर जीते हैं। भला इन्हें क्यों मारा जाता है ?

राजा भोज के हृदय पर ठीक समय पर सत्योपदेश की करारी चोट पडी। राजा के मन में दया का भाव जागा और सदा के लिए शिकार खेलने का त्याग कर दिया।

धनपाल ! तुम्हारा काव्यादर्श युग-युगान्तर तक के लिए जीता जागता रहे।

———

जो है उसी का उपयोग करो

जर्मन सेनापति रोमेल अपने समय का एक विलक्षण प्रतिभाशाली वीर पुरुष था। गत महायुद्ध में वह अफ्रीका के रणक्षेत्र में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ रहा था। एक बार ऐसा हुआ कि रेगिस्तान में उस के पास की युद्ध-सामग्री समाप्त हो गई। और उधर रात में सुसज्जित अंग्रेजी सेना ने उस की सेना पर अचानक आक्रमण कर दिया। रोमेल के संगी-साथी एक दम घबरा उठे। उन्होंने कहा—"हमारे पास कुछ तोपें तो हैं परन्तु गोले नहीं हैं।" रोमेल ने धैर्य पूर्वक कहा—"गोले न सही धूल तो है उसी का उपयोग करो।"

रोमेल की आज्ञा होते ही जर्मन सैनिक तोपों में बालू भर कर बालू के टीलों पर दनादन दागने लगे। और उसने टैंक गाड़ियों को कुछ मीलों के घेरे में लगातार चक्कर लगाने की आज्ञा भी तुरन्त दी। परिणाम यह हुआ कि तोपों की गड़गड़ाहट सुन कर और अपरम्पार धूल उड़ती देखकर अंग्रेजों ने समझ लिया कि जर्मनों की विशाल सेना युद्ध के लिए आतुर होकर दौड़ी आ रही है। वे वायुयानों से भी वास्तविकता की जाँच नहीं कर सके। क्योंकि सारा आकाश धूल से भरा था। आखिर, उन्हें मैदान छोड़ कर भागना ही पड़ा। इसे कहते हैं, समय-चातुरी।

जीवित नेता

चीन के प्यूराज्य के युवराज ने एक बार चीनी दार्शनिक च्याङ्-त्सू के पास यह सन्देश भेजा कि वे आकर शासन कार्य सँभालें।

संदेश-वाहक यह देखकर चकित रह गए कि च्याङ्-त्सू शान्त सरोवर के किनारे पर बैठा मछलियों से खेल रहा है। सन्देश पाकर भी वह टस से मस न हुआ। बल्कि बड़े अलगाव और उपेक्षा भाव से उसने पूछ लिया—"मैंने सुन रक्खा है कि प्यूराज्य में एक पवित्र कछुआ है जिसके मृत शरीर को हजारों साल से राज्य-मन्दिर की सुन्दर वेदी पर रखकर उसकी पूजा की जा रही है। हाँ, तो कहो न, इस कछुए को मरकर अपनी पूजा होते देखकर अच्छा लगता या जीवित रह कर कीचड़ में पड़े-पड़े अपनी पूँछ डुलाना?"

"अवश्य ही पूँछ डुलाना,—" सन्देश-वाहक ने झट उत्तर दिया।

तो फिर भाग जाओ यहाँ से", च्याङ्-त्सू कह उठा, "मैं भी कीचड़ में अपनी पूँछ डुलाता पड़ा रहूँगा।"

मानवता का सच्चा मंगल इसी में है कि शासन सत्ता जनता के उन्हीं प्रतिनिधियों के हाथ में हो, जो जीवित हों, जिनमें कर्त्तव्य का स्वर गूँजता हो, जो राज-मद में न फँसें।

दूरदर्शिता !

एक बार की बात है, नेपोलियन युद्ध के मैदान से कुछ ही दूर अपने डेरे में सो रहा था। उसी समय एक अफसर वहाँ गया और उसका कन्धा पकड़ कर जगाते हुए धीरे से कहा—उठिए, उठिए।

नेपोलियन ने एक आँख का थोड़ा सा खोलकर देखा और निद्रित अवस्था में ही पूछा—क्या बात है ?

अफसर ने नींद में व्याघात डालने के लिए क्षमा माँगते हुए कहा—शत्रु ने हमारी सेना की बगल पर अचानक हमला कर दिया।

'हमारी बगल पर !'—नेपोलियन ने कहा। 'अच्छा उस बक्स को खोलिए। उसमें अचानक बगल पर हमला होने पर सामना करने की योजना मिलेगी। उसी के अनुसार काम करो बस।

इतना कह कर नेपोलियन अपनी जगह पर फिर पड़ रहा और तत्काल सो गया।

जो व्यक्ति अपने कार्य से सम्बन्ध रखने वाली सभी तरह की सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर पहले से ही साफ रखता है कि किस अवस्था में क्या करना होगा; उसे सहसा परिस्थिति के आजाने पर उसका प्रतिकार सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती घबराना नहीं पड़ता। मनुष्य को अपने कर्तव्य क्षेत्र में भविष्य द्रष्टा होना चाहिए।

जीवित नेता

चीन के प्यूराज्य के युवराज ने एक बार चीनी दार्शनिक च्याङ्-त्सू के पास यह सन्देश भेजा कि वे आकर शासन-कार्य सँभालें।

संदेश-वाहक यह देखकर चकित रह गए कि च्याङ्-त्सू शान्त सरोवर के किनारे पर बैठा मछलियों से खेल रहा है। सन्देश पाकर भी वह टस से मस न हुआ। बल्कि बड़े अलगाव और उपेक्षा भाव से उसने पूछ लिया—"मैंने सुन रक्खा है कि प्यूराज्य में एक पवित्र कछुआ है जिसके मृत शरीर को हजारों साल से राज्य-मन्दिर की सुन्दर वेदी पर रखकर उसकी पूजा की जा रही है। हाँ, तो कहो न, इस कछुए को मरकर अपनी पूजा होते देखकर अच्छा लगता या जीवित रह कर कीचड़ में पड़े-पड़े अपनी पूँछ डुलाना?"

"अवश्य ही पूँछ डुलाना,—" सन्देश-वाहक ने झट उत्तर दिया।

तो फिर भाग जाओ यहाँ से", च्याङ्-त्सू कह उठा, "मैं भी कीचड़ मे अपनी पूँछ डुलाता पड़ा रहूँगा।"

मानवता का सच्चा मंगल इसी में है कि शासन सत्ता जनता के उन्हीं प्रतिनिधियों के हाथ में हो, जो जीवित हों, जिनमे कर्त्तव्य का स्वर गूँजता हो, जो राज-मद मे न फँसें।

आदर्श स्वावलम्बन

एक बार डायोजिनीज का गुलाम चुप-चाप कहीं भग गया। डायोजिनीज उसकी परवाह न करके सब काम स्वयं अपने हाथ से करने लगा। उसके एक मित्र ने कहा—"आप क्यों इतना कष्ट सहते हैं? उस गुलाम को ढूँढ कर पकड़ लाइए, और उससे काम लीजिए।"

डायोजिनीज ने कहा—"क्या यह मेरे लिए लज्जा और अपमान की बात नहीं होगी कि मेरा सेवक तो मेरे बिना रह सकता है और मैं उसके बिना अपना काम नहीं चला सकता? मैं दासानुदास नहीं बनूँगा?"

मातृवत परदारेषु

शिवाजी के जीवन की एक घटना है। एक मुसलमान युवती उन पर मुग्ध होकर एकान्त में प्रणय का हाव-भाव दिखाती हुई बोली— 'मुझे आप जैसा एक पुत्र चाहिए।' इसके उत्तर में शिवाजी ने सम्मानपूर्वक कहा— 'माँ तुम मुझे ही आज से अपना पुत्र समझ लो।'

रमणी का मानस-मल धुल गया। उसके हृदय में शिवाजी के प्रति काम-वासना के स्थान पर सात्त्विक प्रेम भर गया। वह लज्जित होकर वहाँ से चली गई।

अपनी सदाचार परायणता और सुशीलता से शिवाजी ने अपने धर्म की ही नहीं उस युवती के धर्म की भी रक्षा कर दी।

कुशासन से बाघ अच्छा !

चीन के महान सन्त कन्फ्यूशियस अपने विराट देश की लम्बी यात्रा कर रहे थे। एक बार एक सूने और भयावने जंगल में उन्होंने एक स्त्री के रोने की आवाज सुनी। पास जाकर देखने से पता चला कि उस स्त्री के ससुर, पति और सन्तान को बाघ ने अपना भोजन बना लिया है।

कन्फ्यूशियस ने कहा—तुम कहीं और क्यों नहीं चली जाते? उस स्त्री ने तुरंत ही उत्तर दिया—'नहीं, यहाँ और जो हो अत्याचारी राज्य की हुकूमत नहीं है।'

भार तो निकाल लिया

कवि की अमर वाणी

अजमेर मेरवाड़ा प्रान्त में एक छोटी सी स्टेट अब भी है जिसका नाम है 'मिसाय'। मुगल काल में वहाँ के राजा कर्मसेन बड़े ही वीर और प्रतापी पुरुष हो चुके हैं

एक बार की बात है कि मुगल बादशाह हाथी के हौदे पर बैठे हुए थे और कर्मसिंह बादशाह पर चँवर झल रहे थे। बादशाह की शोभा-यात्रा बाजार में से गुजर रही थी कि भारत के राष्ट्रीय आत्माभिमान का अमर गायक एक चारण कवि उधर आ निकला। ज्योंही उसने यह दृश्य देखा तो उसका खून उबलने लगा। दूर से ही राष्ट्र-कवि की वाणी गूँजी —

जम्मा जगर जेतरा
तो जननी बलिहार!
चँवर न मसले शाह पर,
तू मसले तलवार!"

— हे अमरसेन के बेटे कर्मसेन! तेरी माता तुझे जन्म देने के कारण तभी निहाल होगी, जब तू बादशाह पर चँवर झलना छोड़ कर हाथ में तलवार उठाएगा।

कवि की वाणी हृदय को स्पर्श कर गई। सोया हुआ राष्ट्रिय अभिमान जाग उठा। तुरन्त चँवर फेंक हाथ में तलवार लेकर, हाथी के हौदे से नीचे कूद पड़ा। अजमेर का कर्मसेन अपनी जन्मभूमि पर बलिहार हो गया। राजस्थान का वह अज्ञात सरस्वती पुत्र पता नहीं आज कहाँ है किन्तु उसका वह दोहा आज भी अजर अमर है।

काम की बात चाहिए

अब्राहम लिंकन के शासन काल में अमेरिका में एक नये ढंग की बन्दूक का आविष्कार हुआ। राष्ट्रपति की आज्ञा से इस बात की जाँच के लिए विशेषज्ञों की एक समिति बैठी कि नयी बन्दूक युद्ध के लिए उपयोगी हो सकती है अथवा नहीं? कमेटी ने बड़ी छान-बीन के बाद एक लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट तैयार करके राष्ट्रपति लिंकन के पास भेजी। लिंकन ने उसे उठाकर अलग रख दिया। मन्त्रियों ने जब कारण पूछा तो उन्होंने कहा—"इसको आदि से अन्त तक पढ़ने के लिए मुझे नया जीवन चाहिए, यदि मैं किसी को घोड़ा खरीदने का काम सौंपूँ, तो उसे उचित है, कि वह मुझे संक्षेप में गुण दोष बतला दे, न कि यह, उसकी दुम में कितने बाल हैं?"

कमेटियों में प्रायः छोटी-छोटी अनावश्यक बातों की छान-बीन में समय और श्रम का अपव्यय होता है। जब तक उनकी भारी भरकम रिपोर्ट प्रकाशित होती है, तब तक अवसर हाथ से निकल जाता है। हमारे अधिकारियों को लिंकन की नीति का अनुसरण करना चाहिए।

कवि की अमर वाणी

अजमेर मेरवाड़ा प्रान्त में एक छोटी सी स्टेट अब भी है, जिसका नाम है 'मिसाय'। मुगल काल में वहाँ के राजा कर्मसेन बड़े ही वीर और प्रतापी पुरुष हो चुके हैं।

एक बार की बात है कि मुगल बादशाह हाथी के हौदे पर बैठे हुए थे और कर्मसिंह बादशाह पर चँवर मल रहे थे। बादशाह की शोभा-यात्रा बाजार में से गुजर रही थी कि भारत के राष्ट्रिय आत्माभिमान का अमर गायक एक चारण कवि उधर आ निकला। ज्योंही उसने यह दृश्य देखा तो उसका खून उबलने लगा। दूर से ही राष्ट्र कवि की वाणी गूँजी —

> कम्मा उग्गर सेमरा
>
> तो जननी बलिहार!
>
> चँवर न मल्ले शाह पर
>
> तू मल्ले तलवार!!

—"हे उग्रसेन के बेटे कर्मसेन! तेरी माता तुझे जन्म देने के कारण तभी निहाल होगी, जब तू बादशाह पर चँवर मलना छोड़ कर हाथ में तलवार उठाएगा।

कवि की वाणी हृदय को स्पर्श कर गई। सोया हुआ राष्ट्रिय अभिमान जाग उठा। तुरन्त चँवर फेंक हाथ में तलवार लेकर हाथी के हौदे से नीचे कूद पड़ा। अजमेर का कर्मसेन अपनी जन्मभूमि पर बलिहार हो गया। राजस्थान का वह अज्ञात सरस्वती पुत्र पता नहीं आज कहाँ है किन्तु उसका यह दोहा आज भी अजर अमर है।

विद्या और विनय की सम्पत्ति

मिश्र के बादशाह ने रोम के बादशाह के पास दूत भेज कर कहलवाया कि—"अब हम वृद्ध हो गए हैं। अत हमें अपने वश की प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य की सुरक्षा का कुछ-न कुछ उपाय कर लेना चाहिये। अस्तु, मैंने तो अपनी संतान के लिए महल खजाना, उपवन आदि का सुन्दर प्रबन्ध कर दिया है। श्रीमान् ने इस दिशा मे क्या किया है, मालूम होना चाहिए।"

रोम के बादशाह ने हँस कर उत्तर दिया—"भाई! मैंने तो महल खजाना आदि का कोई प्रबन्ध नहीं किया है। हाँ, अपने लड़कों को विद्या और विनय से अवश्य विभूषित कर दिया है और उन्हें शील तथा सदाचार का अक्षय कोष भी अर्पण कर दिया है। ससार मे और सब कुछ नाशवान है, क्षण भगुर है। विद्या और विनय की संपत्ति चाँदी, सोना और रत्नाभरण से भी उत्तम है।"

मिश्र के बादशाह ने जब यह उत्तर सुना तो कहा—"वस्तुत- रोम के बादशाह ने ही अपने वश की प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य की सुरक्षा का सुन्दर प्रबध किया है।"

औरंगजेब की हृदय-हीनता

मुगल सम्राट औरंगजेब बड़ा ही कट्टरपंथी मुसलमान था। इस्लाम-धर्म में गाना-बजाना मना है, अतः जब वह बादशाह हुआ तो उसने शाही फरमान निकाल कर गाना-बजाना बिल्कुल बन्द कर दिया।

गवैये भूखों मरने लगे। उन्होंने एक सभा में विचार-विमर्श किया और उसके निर्णय के अनुसार एक दिन जनाजा उठाये हुए रोते-पीटते बादशाह के महल के नीचे से निकले।

बादशाह ने झरोखे में से झाँक कर देखा और पूछा—"क्यों क्या बात है? रोते क्यों हो? यह कौन मर गया है?"

गवैयों ने कहा—"हुजूर! गान-विद्या मर गई है, उसे दफनाने जा रहे हैं।" हृदय-हीन औरंगजेब ने कहा—"बहुत अच्छा हुआ। जरा गहरा गड्ढा खोद कर दफन करना, ताकि फिर कभी निकल कर बाहर न आ सके।"

स्वाभिमान की रक्षा

एक बार स्वाभिमानी डायोजिनीज को यूनान के अत्याचारी अधिकारियों ने पकड़ कर बिक्री के लिये गुलामों के बाजार में बैठा दिया। बेचने वालों ने उससे पूछा कि "तुम कौन-सा काम अच्छी तरह कर सकते हो? बता दो, जिससे तुम्हारी विशेषताओं की घोषणा करके उपयुक्त ग्राहक खोजा जाय।" डायोजिनीज ने पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ घोषणा करने वाले से कहा—"मैं अच्छा शासन कर सकता हूँ। घोषित करो कि किसी को स्वामी की आवश्यकता हो, तो वह मुझे ले सकता है।"

वास्तव में मनुष्य का मान-मर्दन तभी होता है, जब वह भय या स्वार्थ वश स्वय अपने को तुच्छ समझने लगता है। आत्म-दीनता पतन की पहली सीढी है। भारतीय मनीषियों का मत है कि ससार में दूसरों के सामने छोटा न बनकर सम्मान-पूर्वक मर जाना अच्छा है, परन्तु अपमानयुक्त अमरत्व-लाभ भी श्रेयस्कर नहीं है—

"पञ्चत्व मेव हि वर लोके लाघव वर्जितम्।
नामरत्वमपि श्रेयो लाघवेन समन्वितम्॥"

—स्कन्द पुराण

शान्तचित्त रखने का अभ्यास

यूनान में डायोजिनीज नामक एक प्रसिद्ध तत्त्व-वेत्ता हो गया है। वह प्रतिदिन एक पत्थर की मूर्ति के सामने कुछ देर तक भीख माँगता था। एक दिन उसके एक मित्र ने उससे इस निरर्थक कार्य का रहस्य पूछा। डायोजिनीज ने कहा "मैं इस से भीख माँग कर किसी से कुछ न मिलने पर शान्तचित्त रहने का अभ्यास कर रहा हूँ।"

चित्त-वृत्तियों का संयम इच्छा मात्र अथवा कोरे ज्ञान से नहीं निरन्तर अभ्यास से होता है।

पर निन्दा की उपेक्षा ✗

यूनान के सुप्रसिद्ध मनीषी अरस्तू ने एक दिन किसी से कहा कि अमुक व्यक्ति ने आपकी अनुपस्थिति में आपको गाली दी है। अरस्तू ने हँस कर कहा— 'वह मूर्ख चाहे तो मेरी अनुपस्थिति में मुझे पीट भी सकता है।"

पीठ पीछे होने वाली निन्दा की ओर ध्यान देना व्यर्थ है।

पन्ना धाय की कर्तव्य-निष्ठा

पन्ना महाराणा साँगा के सपूत महाराणा उदयसिंह की धाय थी। वह जानती थी कि बनवीर स्वमार्ग के कण्टक, गद्दी के न्याय-संगत अधिकारी उदयसिंह की हत्या किए बिना नहीं रहेगा। पन्ना ने शिशु उदयसिंह की रक्षा के लिए उसे टोकरे में लिटा, पत्तों से ढक बाहर भेज दिया।

इतना करने के बाद उस ने अपने पुत्र को राजकुमार के झूले में लिटाया ही था कि तलवार नगी लिए बनवीर आ धमका वह बोला, उदयसिंह कहाँ है ? पन्ना के होंठ कुछ हिले, पर जिह्वा ने साथ न दिया। केवल काँपती हुई अँगुली ने पालने की ओर सकेत कर दिया। बनवीर बिजली की तरह उधर बढ़ा और एक ही वार मे बालक प्रेतपति की पुरी में जा पहुँचा।

पन्ने ! तू धन्य थी और धन्य थी तेरी स्वामी-भक्ति ! तू ने स्वामि भक्ति के पवित्र पथ मे, अपने हाथ से, अपने कलेजे के टुकड़े की बलि दे दी ! इसे कहते हैं—कर्तव्य-निष्ठा !

———

सुरक्षित कोश

महाकवि नरहरि सम्राट् अकबर के दरबार में ख्याति प्राप्त कवि थे। उन्होंने दिल्ली से एक बार अपने पुत्र हरिनाथ के पास विपुल धनराशि भेजी। हरिनाथ ने वह सारा धन गरीब ब्राह्मणों को दान कर दिया।

कुछ समय बाद जब नरहरि घर लौटे तो पूछा—"बेटा मेरा भेजा हुआ धन तुमने कहाँ रखा है?" हरिनाथ ने कहा—"पिताजी आप निश्चिन्त रहें, मैंने उसे पूर्णतया सुरक्षित कोष में जमा करा दिया है। सायंकाल दिखाऊँगा।" नरहरि चुप हो गए।

इधर हरिनाथ ने उन सब ब्राह्मणों से कहला भेजा कि आप लोग सायंकाल वह सब द्रव्य, वस्त्र आदि जो मैंने आपको दान किए हैं, लेकर आयें। सायंकाल ब्राह्मणों के अपनी गली पर उपस्थित होने पर हरिनाथ ने नरहरि से कहा—"पिताजी चलिए, अपनी संपत्ति देख लीजिये। मैंने उसे कितने अच्छे सुरक्षित कोश में जमा कर रखा है?

नरहरि ने यह देखा तो अवाक् रह गए। ब्राह्मणों को विदा करके उन्होंने हरिनाथ से कहा—"बेटा किया तो तूने खूब। जन्म-जन्मान्तर के लिए संपत्ति को सुरक्षित रखने का इससे बढ़कर और कोई सुन्दर एवं सुरक्षित तरीका नहीं हो सकता, परन्तु यह सब यदि अपनी कमाई से करते, तो अधिक ठीक होता।

पन्ना धाय की कर्तव्य-निष्ठा

पन्ना महाराणा साँगा के सपूत महाराणा उदयसिंह की धाय थी। वह जानती थी कि बनवीर स्वमार्ग के कण्टक, गद्दी के न्याय-संगत अधिकारी उदयसिंह की हत्या किए बिना नहीं रहेगा। पन्ना ने शिशु उदयसिंह की रक्षा के लिए उसे टोकरे में लिटा, पत्तों से ढक बाहर भेज दिया।

इतना करने के बाद उस ने अपने पुत्र को राजकुमार के झूले मे लिटाया ही था कि तलवार नगी लिए बनवीर आ धमका वह बोला, उदयसिंह कहाँ है ? पन्ना के होंठ कुछ हिले, पर जिह्वा ने साथ न दिया। केवल काँपती हुई अँगुली ने पालने की ओर सकेत कर दिया। बनवीर बिजली की तरह उधर बढा और एक ही वार म बालक प्रेतपति की पुरी मे जा पहुँचा।

पन्ने ! तू धन्य थी और धन्य थी तेरी स्वामी-भक्ति ! तू ने स्वामि भक्ति के पवित्र पथ मे, अपने हाथ से, अपने कलेजे के टुकड़े की बलि दे दी ! इसे कहते हैं—कर्तव्य-निष्ठा !

राजा का गन्दा धन

महान् सिकंदर की राजधानी मे डायोजिनीज नामक एक महान् दार्शनिक सन्त रहता था। सिकन्दर ने उसे दरबार मे बुलाया परन्तु उसने आने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। आखिर जब वह न आया तो सिकन्दर स्वयं ही उसके यहाँ पहुँचे। सम्राट घोड़े से उतर कर ज्यों ही अन्दर आँगन में पहुँचे तो क्या देखा कि एक दरिद्र-सा मनुष्य झौंपड़े के आगे धूप में बैठा हुआ सिर नीचा किए कुछ सोच रहा है। सिकन्दर के अनुचरों ने कहा—'सम्राट ! यही डायोजिनीज है।

हाँ तो सिकन्दर स्वयं सन्त डायोजिनीज के निकट गए और खड़े होकर अपना परिचय देने लगे। परन्तु डायोजिनीज ने कुछ भी आदर न किया। वह ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। जब सम्राट ने लंबी चौड़ी बात शुरू की तो कहा कि—"हाँ मैं जान गया हूँ कि आप सिकन्दर हैं। परन्तु आप जरा उधर खड़े हो जाइए, इधर धूप को रोक कर खड़े न हों।

सिकन्दर ने जब उसे धन देने को कहा तो बड़ा करारा उत्तर मिला। उसने कहा— मेरे पास यह झौंपड़ा और थोड़ा बहुत जो कुछ है, वही बहुत है। मैं अपनी पवित्र संपत्ति में राजा का गन्दा धन कैसे मिलाऊँ ?

कहा जाता है, पिता की इस अन्तिम उक्ति से तेजस्वी पुत्र के हृदय को चोट लगी। वह घर छोड़कर चला गया। उसने अपनी विद्वत्ता से लाखों कमाए और दान किए।

सत्य कहाँ मिलता है ?

एक बार अहमदाबाद साबरमती आश्रम मे बंबई से एक अँग्रेज परिवार गांधीजी के दर्शनों के लिए आया। उसमें से एक युवती महिला ने जिज्ञासा भाव से पूछा—Mahatma ji Where can I find the truth ?" ह्वेयर केन आई फाइन्ड दि ट्रुथ ?" महात्मा जी, मैं सत्य कहाँ पा सकती हूँ ? महात्माजी ने उत्तर दिया—"No where " अर्थात् कहीं नहीं। उस युवती का चेहरा उतर गया। कुछ और बातचीत करने के बाद उस महिला ने अपना पाकेट बुक दिया और कहा—"कृपया इसमें आप अपने हस्ताक्षर कर दीजिए।"

महात्माजी ने उस पाकेट-बुक मे लिखा—"One can find the truth in one's own heart" अर्थात् "वन केन फाइन्ड दि ट्रुथ इन वन्स ओन हार्ट" अर्थात सत्य अपने ही हृदय में मिल सकता है।

राजा का गन्दा धन

महान् सिकन्दर की राजधानी में डायोजिनीज नामक एक महान् दार्शनिक सन्त रहता था। सिकन्दर ने उसे दरबार में बुलाया परन्तु उसने मान से स्पष्ट इन्कार कर दिया। आखिर जब वह न आया तो सिकन्दर स्वयं ही उसके यहाँ पहुँचे। सम्राट घोड़े से उतर कर ज्यों ही अन्दर आँगन में पहुँचे तो देखा कि एक दरिद्र-सा मनुष्य झौंपड़े के आगे धूप में बैठा हुआ सिर नीचा किए कुछ सोच रहा है। सिकन्दर के अनुचरों ने कहा—'सम्राट ! यही डायोजिनीज है।

हाँ तो सिकन्दर स्वयं सन्त डायोजिनीज के निकट गए और खड़े होकर अपना परिचय देने लगे। परन्तु डायोजिनीज ने कुछ भी आदर न किया। वह ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। जब सम्राट ने लंबी चौड़ी बात शुरू की तो कहा कि—"हाँ मैं जान गया हूँ कि आप सिकन्दर हैं। परन्तु आप जरा उधर खड़े हो जाइए, इधर धूप को रोक कर खड़े न हों।

सिकन्दर ने जब उसे धन देने को कहा तो बड़ा करारा उत्तर मिला। उसने कहा— 'मेरे पास यह झौंपड़ा और थोड़ा धूप को कुछ है वही बहुत है। मैं अपनी पवित्र संपत्ति में राजा का गन्दा धन कैसे मिलाऊँ ?

काम का ढंग चाहिए

अमेरिका के प्रख्यात लेखक और विचारक एमर्सन के पिता भी बड़े ही अध्ययनशील साहित्यिक थे। एक दिन रात को पिता और पुत्र साहित्य-रचना में मग्न थे, इतने में उनका बछड़ा गोशाला से रस्सी तुड़ा कर बाहर निकल गया। दोनों उसे पकड कर अन्दर ले जाने लगे, परन्तु वह ऐसा अड गया कि एक कदम भी आगे नहीं बढा। आगे से उसके दोनों कान पकड कर बेटा खींचता था और पीछे से बाप ठेलता था। साहित्यिकों के लिए उसे ले जाकर बाँधना एक कठिन समस्या थी। उसी समय बाहर से घर की दासी आई। उसने दोनों को झंझट से छुटकारा देकर उस बछडे को थपथपाया और आसानी से ले जाकर बाँध दिया।

एमसन को उस दिन से विश्वास हो गया कि कोई भी काम, वह चाहे छोटा हो या बड़ा, उसके करने का एक ढंग होता है और वही आदमी अपने कार्य को सुचारु रूप से कर सकता है जो उसको करने का ठीक उपाय जानता हो। कार्य-कुशल व्यक्ति ही उपयोगी होता है कोरा परिश्रमी नहीं।

महत्ता का मानदण्ड

फ्रांस ने पूरा प्रयत्न किया पर वह हॉलैंड को पराजित नहीं कर सका। झुंझला कर एक दिन चौदहवें लुई ने अपने मंत्री कोलबर्ट से कहा— 'हम इतने बड़े धन-जन सम्पन्न देश के बादशाह हैं पर इस जरा से देश को नहीं हरा सके।" नम्रता से कोलबर्ट ने कहा—

"महाराज! किसी देश की महत्ता उस की लम्बाई चौड़ाई आदि पर आश्रित नहीं होती बल्कि वहाँ की जनता के ऊँचे और उज्ज्वल चरित्र पर निर्भर होती है।

— —

काम का ढंग चाहिए

अमेरिका के प्रख्यात लेखक और विचारक एमर्सन के पिता भी बड़े ही अध्ययनशील साहित्यिक थे। एक दिन रात को पिता और पुत्र साहित्य-रचना में मग्न थे, इतने में उनका बछड़ा गोशाला से रस्सी तुड़ा कर बाहर निकल गया। दोनों उसे पकड़ कर अन्दर ले जाने लगे, परन्तु वह ऐसा अड़ गया कि एक कदम भी आगे नहीं बढा। आगे से उसके दोनों कान पकड कर बेटा खींचता था और पीछे से बाप ठेलता था। साहित्यिकों के लिए उसे ले जाकर बाँधना एक कठिन समस्या थी। उसी समय बाहर से घर की दासी आई। उसने दोनों को झंझट से छुटकारा देकर उस बछडे को थपथपाया और आसानी से ले जाकर बाँध दिया।

एमर्सन को उस दिन से विश्वास हो गया कि कोई भी काम, वह चाहे छोटा हो या बड़ा, उसके करने का एक ढंग होता है और वही आदमी अपने कार्य को सुचारु रूप से कर सकता है, जो उसको करने का ठीक उपाय जानता हो। कार्य कुशल व्यक्ति ही उपयोगी होता है, कोरा परिश्रमी नहीं।

इधर-उधर की सुनी-सुनाई में से

अपने को भी गिनिए

एक बार किसी दूर देहाती गाँव के दस मित्र आपस में मिले और मिल कर देशाटन को निकले। मार्ग में उनको एक नदी मिली वह बड़ी कठिनाई से तैर कर पार की गई

नदी को पार करने के बाद तट पर खड़े होकर उन्होंने विचार किया कि—"अरे अपने दसों साथियों को सँभाल लो सो नदी में कोई डूब न गया हो ?"

एक ने जल्दी में अपने मित्रों की गिनती की। वह अपने को गिनना भूल कर शेष नौ को गिन गया और हैरान होकर कहने लगा कि— 'गजब हो गया एक मित्र डूब गया।"

इस पर दूसरे मित्र ने कहा— 'ठहरो, घबराओ नहीं। मैं ठीक तरह गिनता हूँ।" किन्तु वह भी अपने को गिनना भूल कर शेष नौ को गिन गया। इस प्रकार प्रत्येक ने बारी बारी से गिनती की और प्रत्येक ने ही अपने को छोड़ कर शेष नौ को गिना।

सब के सब साथी आवश्यकता से अधिक बुद्धिमान् थे। अतः गिन-गिन कर हैरान हो गए, परन्तु उन्हें अपना दसवाँ साथी न मिला। अब यह निश्चित हो गया कि दसवाँ साथी नदी में डूब गया है, मिले तो कैसे मिले ?

जब कि वे सब नदी तट पर खड़े हुए अपने साथी के शोक में रो रहे थे तो एक समझदार सज्जन वहाँ आ गए। उन्होंने रोने का कारण पूछा।

उन लोगों ने रोते हुए अपनी सब व्यथा कह सुनाई। आगन्तुक सज्जन ने कहा—"मेरे सामने गिनो, देखूँ तो सही कैसे गिनते हो ?" उनमें से एक ने फिर गिनती की। वह पहले की भाँति अपने को छोड कर शेष नौ को गिन गया और मूर्त्तिवत् अचल खडा हो गया।

इस पर उक्त सज्जन ने कहा—"घबराओ मत। दशवाँ मौजूद है।" गिनती करने वाले ने बेचैनी से पूछा—"दशवाँ कहाँ है ?" आगन्तुक महोदय ने तत्काल गिनती करने वाले का हाथ पकड कर कहा—'दशवाँ तू है।" यह उत्तर सुना तो सब का भ्रम दूर हो गया सब हर्ष से नाचने लगे।

यह कहानी पढ कर पाठक हँसेंगे। परन्तु हँसिए नहीं, यही भारतीय तत्त्वज्ञान का अमर सिद्धान्त है। दूसरे सब लोग दूसरों को तो गिनते हैं, अपने को नहीं। किन्तु भारतीय चिन्तन अपने को भी गिनना सिखाता है। आत्मा की गिनती किए बिना जड पदार्थों की गणना वस्तुत हास्यास्पद है। इस भ्रान्ति को दूर करने का साधन एक मात्र ज्ञान है और कुछ नहीं। यदि वे घुमक्कड साथी ज्ञान के साधन को छोड कर दशम की प्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयत्न करते, नदी में गोता लगाते, देश-देशान्तरों से तैराकों को बुलाते तब क्या उनका क्लेश दूर हो सकता था ? कभी नहीं।

———

भगवान् की दया !

चौधरी मम्मूलाल जी गाँव के नंबरदार और बड़े खुश मिजाज आदमी थे। एक दिन चौधरी जी का घोड़ा उस समय गुम हो गया जब आप को मंडी के मेले में जाना था, इधर उधर की बहुत खोज-बीन की पर कुछ पता नहीं चला। सारे घर में उदासी छाई हुई थी। परन्तु चौधरी जी को एकाएक क्या उमंग आई कि खिल-खिला कर हँसने लगे।

चौधराइन ने जब पूछा "आप क्यों हँसते हैं ? तो आप बोले "भगवान की दया पर हँसता हूँ।" चौधराइन ने खीझ कर कहा इसमें भगवान की क्या बात है ? घोड़ा गुम हो जाने से हमारी तो हानि हुई और आप भगवान की दया पर हँसते हैं ?

चौधरी जी ने हँसते हुए कहा " तू तो पगली है। इतना समझ ही नहीं सकती। भगवान की दया इस लिए कि गनीमत है, वह घोड़ा अकेला ही खोया गया। यदि मैं भी उस पर चढ़ा होता तो मैं भी खो जाता। भगवान ने ही मेरी रक्षा की। उसी की दया है नहीं तो तू भी कहीं की न रहती। "

———

हम भी तो ऐसे ही हैं ? ×

एक सेठ ने अपने दास से कहा—'गरमी लग रही है, जरा खिड़की तो खोल दे।' पर उसने खिड़की जरा और जोर से बन्द कर दी। थोड़ी देर बाद सेठ ने पीने के लिए पानी माँगा। परन्तु वह सेठ जी की पगड़ी उठा लाया। दास कुछ आवश्यकता से अधिक बुद्धिमान था।

सेठ क्रोध में भर गया। पास मे रखी हुई छड़ी को उठाकर दास को मारने लगा। दास के रोने की आवाज को सुनकर अन्दर से सेठानी दौड़ी आई, वह बहुत ही समझदार और दयालु स्वभाव की नारी थी। दास को पीटने से बचाकर सेठ से कहने लगी—"पराये बच्चे को इस तरह मारा करते हैं क्या ?"

"जरा विचारो तो सही—हम भी तो अपने परमपिता परमात्मा के आदेशों का पालन प्राय इस गँवार दास की ही तरह किया करते हैं न ? प्रभु का आदेश है सत्य बोलो, हम बोलते है झूठ। प्रभु की आज्ञा है दया करो, हम करते हैं क्रूरता और निर्दयता। अब बताइए तुम मे और इस गँवार में अन्तर ही क्या रहा ?"

———

खान्दानी चोर

एक लड़के को किसी दुकानदार के यहाँ से खिलौने की चीजें चुराने की आदत पड़ गई थी। वह कई बार इस अपराध में पकड़ा गया और दण्ड भोगता रहा।

इस लड़के को बार-बार अपराधी के रूप में सामने आते देख कर दयालु न्यायाधीश का हृदय ऊब गया। उसने अब की बार लड़के के पिता को बुला भेजा। जब पिता हाजिर हुआ तो हाकिम ने कहा—"तुम अपने बेटे को इस प्रकार क्यों नहीं समझाते कि जिससे जेल जाने की नौबत न आए।"

पिता ने उत्तर दिया—"हुजूर! मैं तो बहुत समझाता हूँ कि तू इतनी सावधानी से काम कर कि पकड़ा न जा सके। किन्तु यह मूर्ख न जाने क्यों चूक जाता है, जो बार-बार पकड़ में आ जाता है। अभी बच्चा है, काम करते-करते अपने फन में होशियार हो जायगा।"

हाकिम समझ गया कि यह खान्दानी चोर है। सीधे ढंग से जल्दी ही यह पुरानी वंश परम्परागत आदत छुटने वाली नहीं है। इसके लिये तो कठोर कदम उठाने पड़ेंगे।

अक्ल और ईमान

"मैं अपना जीवन बिताने के लिए ससार मे जा रहा हूँ, मेरे प्रभु ! मुझे कोई हिदायत दीजिए, जिससे मैं वहाँ सफलता पासकूँ।" मनुष्य ने ईश्वर से कहा।

ईश्वर ने प्रसन्न होकर कहा—"मेरे बेटे, मैं तुम्हें जीवन की दो विभूतियाँ दे रहा हूँ। ससार मे एक को अक्ल और दूसरी को ईमान कहते हैं। मेरी हिदायत है कि अक्ल को हमेशा खूब खच करना, और ईमान को हमेशा महफूज रखना।"

मनुष्य ने सिर झुकाया और दोनों हाथ आगे बढा दिए। ईश्वर ने उसके बाएँ हाथ मे अक्ल और दाएँ हाथ पर ईमान रख दिया और वह अपनी राह चला। भूल मनुष्य का स्वभाव है, यहाँ भी वह भूल गया कि उसने अक्ल की जेब मे ईमान और ईमान की जेब मे अक्ल रख ली।

ससार मे अब वह दोनों हाथों ईमान लुटा रहा है और अक्ल को उँगली भी नहीं लगाता। उसे अपने ईश्वर की हिदायत याद है कि अक्ल हमेशा खब खर्च करने और ईमान महफूज रखने की चीज है।

लोक-मत

एक चित्रकार ने अपनी कला के विषय में लोकमत जानने के लिए ठीक चौराहे पर चित्र लगा दिया और उसके एक किनारे पर लिख दिया कि "जिसे जो बुरा या भद्दा लगे वहीं निशान मार दे।

शाम को जब चित्रकार ने आकर देखा तो हैरान कि यह क्या हुआ? तमाम चित्र में निशानों की इतनी भरमार कि चित्र ही गायब। उसने बुरा सोचना चाहा शायद इसी लिए ऐसा हुआ!

चित्रकार ने कुछ गहराई से बैठ कर विचार किया और अगले दिन वही चित्र दुबारा साफ कर उसी स्थान पर इस प्रार्थना के साथ रखा कि "जिसे जो अच्छा लगे उस पर निशान मार दे।"

किन्तु अब की बार भी चित्र की वही दशा हुई, जो पहले दिन हुई थी। तमाम चित्र में अच्छाई सूचक निशानों की इतनी भरमार कि चित्र ही गायब। उसने अब की बार अच्छा सोचना चाहा शायद इसलिए ऐसा हुआ!

वस्तुस्थिति के अन्तस्तल में जाकर मालूम करना चाहें कि ऐसा क्यों हुआ? तो उत्तर मिलेगा कि लोकमत सुविचारित सुनिर्णीत सुगठित और सुव्यवस्थित नहीं था। राह चलते जिसे जो बुरा या अच्छा सूझा उसने वही किया। यदि वही निर्णय सोच-विचार कर किया जाता तो संभव है बुरे निशानों पर अच्छे के और अच्छे निशानों पर बुरे के निशान लगते।

खाँड़ के साधू

एक सेठजी, अपने परिवार में जितने प्राणी होते, उन सबके हर एक के नाम पर एक-एक संत या ब्राह्मण को भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन किया करते थे। नगर के ब्राह्मणों को इस बात का पता था, इसलिए प्रतिदिन कुछ ब्राह्मण इन के घर चक्कर लगा जाते, और प्रतिदिन पाँच ब्राह्मण भोजन कर जाते।

एक दिन ऐसा हुआ कि सेठजी के यहाँ कोई ब्राह्मण भोजन पाने नहीं पहुँचा। क्योंकि नगर में नगर सेठ ने ब्रह्म भोज दिया था। वहाँ पर भरपूर मिष्टान्न भोजन और दक्षिणा की आशा थी, सब ब्राह्मण नगर सेठ के यहाँ जारहे थे। इस लिए अतिथि-भक्त सेठजी ने दुखी होकर अन्त में उपाय निकाला कि व्रत निभाना आवश्यक है, अतः बाजार से पाँच खाँड़ के साधू मोल ले आए। उन्हीं को भोग लगाना निश्चय किया।

भोग लगाने के लिए पाँच थालियाँ तैयार कीं और खाँड के साधुओं के आगे रखवा दी गई। सेठजी स्नान करने कुंए पर जारहे थे कि संयोग से पाँच साधू भी सामने से आ निकले। इन से भोजन पाने की सेठजी ने प्रार्थना की तो साधुओं ने मान ली। साधुओं को बैठक में बैठा कर सेठजी स्नान करने चले गए।

उधर चौके में खाँड के साधुओं को रक्खे देख कर सेठजी के एक छोटे नादान बालक ने, जो भोजन में बहुत देर होने के

अत्यन्त भूख से व्याकुल हो रहा था ऊँचे स्वर से अपनी तोतली भाषा में चिल्ला कर कहा—"माँ, बड़ी देर होगई है आज। मैं भूखा मर रहा हूँ। मुझे इन पाँच साधुओं में से एक साधु ही खाने को दे दे।"

सेठानी माँ ने उत्तर में कहा—"बेटा! अभी नहीं। जब तुम्हारे पिताजी स्नान करके आयेंगे तब एक साधु मैं खाऊँगी, एक साधु तुम खाओगे एक तुम्हारे पिताजी खायेंगे चौथा साधु तुम्हारी बड़ी बीबी खायेगी और पाँचवाँ तुम्हारे बड़े भैय्याजी खायेंगे।

माँ और बेटे की बातें पास ही बैठक में बैठे पाँचों साधुओं के कान में पड़ी। वे यह सुनकर इतने डरे कि चुप-चाप बैठक से बाहर निकल भागने लगे। किन्तु इतने में सेठजी भी आपहुँचे।

साधुओं को भागता देख सेठजी भी इन्हें पकड़ने के लिए पीछे-पीछे दौड़ लगाने लगे। सेठजी को वेगपूर्वक पीछा करते देख इन साधुओं का भ्रम और भी पक्का होगया। समझे अब हमारी खैर नहीं। बिचारे, जी तोड़ कर तेजी से प्राण बचाने के लिए भागे। इन्होंने अपने कमंडल आदि भी फेंक दिए। सेठजी ने भी पगड़ी अँगोछा फेंक कर और धोती चढ़ाकर दौड़ लगानी शुरू की।

बेचारे साधु हाँप गये और थक कर चूर-चूर हो गये। हार कर एक वृक्ष की छाया के नीचे पसर गए। सेठजी के पास आते ही बोले—"लो, सेठजी खाओ। यहाँ पाँच में से किसी एक ही को तो खा सकोगे बाकी चार की तो जान बचेगी।

सेठजी हैरान कि यह क्या माजरा है? हाथ जोड़ कर पूछने लगे—"महाराज! आप हमारे यहाँ से बिना भोजन पाये वैसे ही

खाँड़ के साधू

एक सेठजी, अपने परिवार में जितने प्राणी होते, उन सबके हर एक के नाम पर एक-एक सत या ब्राह्मण को भोजन कराने के बाद स्वय भोजन किया करते थे। नगर के ब्राह्मणों को इस बात का पता था, इसलिए प्रतिदिन कुछ ब्राह्मण इन के घर चक्कर लगा जाते, और प्रतिदिन पाँच ब्राह्मण भोजन कर जाते।

एक दिन ऐसा हुआ कि सेठजी के यहाँ कोई ब्राह्मण भोजन पाने नहीं पहुँचा। क्योंकि नगर में नगर सेठ ने ब्रह्म भोज दिया था। वहाँ पर भरपूर मिष्टान्न भोजन और दक्षिणा की आशा थी, सब ब्राह्मण नगर सेठ के यहाँ जारहे थे। इस लिए अतिथि-भक्त सेठजी ने दुखी होकर अन्त में उपाय निकाला कि व्रत निभाना आवश्यक है, अत बाजार से पाँच खाँड़ के साधू मोल ले आए। उन्हीं को भोग लगाना निश्चय किया।

भोग लगाने के लिए पाँच थालियाँ तैयार कीं और खाँड़ के साधुओं के आगे रखवा दी गईं। सेठजी स्नान करने कुंए पर जारहे थे कि सयोग से पाँच साधू भी सामने से आ निकले। इन से भोजन पाने की सेठजी ने प्रार्थना की तो साधुओं ने मान ली। साधुओं को बैठक में बैठा कर सेठजी स्नान करने चले गए।

उधर चौके में खाँड़ के साधुओं को रक्खे देख कर सेठजी के एक छोटे नादान बालक ने, जो भोजन में बहुत देर होने के

मन्दर की याद

एक व्यक्ति किसी योगी के पास वशीकरण मन्त्र सीखने गया। योगी ने उसे एक मन्त्र बताया और कहा—"एकान्त स्थान में बैठकर एक हजार बार इस मन्त्र का जाप करने से दूसरों का मन वश में किया जा सकता है। मन्त्र को लेकर वह व्यक्ति योगी के पास से प्रसन्न होकर चलने लगा।

चलते समय उस व्यक्ति को बुलाकर योगी ने कहा— "देखो भाई मैं तुमसे एक बात कहना भूल गया हूँ। इस मन्त्र का जाप करते समय मनमें बन्दर का ध्यान अवश्य आता है। तुम अपने मन में उसे मत आने देना नहीं तो मन्त्र सिद्ध न होगा?" योगी का यह उपदेश सुनकर वह प्रसन्नता से अपने घर चला आया। उसने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि मन्त्र जपते समय वह बन्दर का ध्यान कभी नहीं आने देगा।

पर जब उसने घर में एकान्त स्थान खोजकर मन्त्र जपना आरम्भ किया तब हठात् उसके मनमें बन्दर का ध्यान आ गया। जैसे-जैसे वह अपने मन में से बन्दर को हटाता था वैसे वैसे वह और भी प्रबल होता जाता था।

उस व्यक्ति ने योगी के पास जाकर कहा—महाराज यदि आप मुझे बन्दर की बात न कहते तो मैं अवश्य ही अपने प्रयत्न में सफल हो जाता।

क्यों भाग आए ? क्या हमारी श्रद्धा में कुछ त्रुटि होगई ? कुछ बताना तो चाहिये, बिना आप को प्रसन्न किए मैं अन्न-जल ग्रहण न करूँगा। और आप यह क्या कहते हैं कि जो सेठजी खा लो। क्या मैं नरभक्षक राक्षस हूँ ?"

जब साधुओं ने भाग आने का कारण बताया तो सेठजी खिल खिला कर हँस पड़े। और विनयपूर्वक सब घटना का निरूपण करते हुए कहा—"महाराज! माँ बेटे खाँड़ के साधुओं की बात कर रहे थे। दिवाली पर इस प्रकार खाँड़ के खिलौने बना करते हैं जिन्हें पूजा के बाद बूढे और बालक सब मिठाई के रूप में खा लेते हैं। इस लिए बच्चे ने खिलौना समझ कर माँगा होगा। क्यों कि अब दीपावली का त्यौहार नहीं है, इस लिए आपका ध्यान भी उधर नहीं गया। आप एक बालक के मन बहलाने की बात का इतना गभीर अर्थ लगा बैठे।"

बड़ी प्रार्थना के बाद साधू लौटे और सेठजी का अतिथि-सेवा-व्रत पूर्ण हुआ।

बन्दर की याद

एक व्यक्ति किसी योगी के पास वशीकरण मन्त्र सीखने गया। योगी ने उसे एक मन्त्र बताया और कहा—"एकान्त स्थान में बैठकर एक हजार बार इस मन्त्र का जाप करने से दूसरों का मन वश में किया जा सकता है। मन्त्र को लेकर वह व्यक्ति योगी के पास से प्रसन्न होकर चलने लगा।

चलते समय उस व्यक्ति को बुलाकर योगी ने कहा— 'देखो भाई मैं तुमसे एक बात कहना भूल गया हूँ। इस मन्त्र का जाप करते समय मनमें बन्दर का ध्यान अवश्य आता है। तुम अपने मन में उसे मत आने देना नहीं तो मन्त्र सिद्ध न होगा ? योगी का यह उपदेश सुनकर वह प्रसन्नता से अपने घर चला आया। उसने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि मन्त्र जपते समय वह बन्दर का ध्यान कभी नहीं आने देगा।

पर जब उसने घर में एकान्त स्थान खोजकर मन्त्र जपना आरम्भ किया तब हठात् उसके मनमें बन्दर का ध्यान आ गया। जैसे-जैसे वह अपने मन मे से बन्दर को हटाता था वैसे-वैसे वह और भी प्रबल होता जाता था।

उस व्यक्ति ने योगी के पास जाकर कहा—महाराज यदि आप मुझे बन्दर की याद न कहते तो मैं अवश्य ही अपने प्रयत्न में सफल हो जाता!

राष्ट्रिय चेतना का मानदण्ड

एक बार एक सज्जन बर्मा गए। वहाँ दो बर्मियों ने उनका यथेष्ट सत्कार-सम्मान किया। प्रवास-योग्य उचित सहायता तथा सुविधा पहुँचाई।

जब वे बर्मा से लौटने लगे तो बर्मी मेजबानों का आभार मानते हुए, बार-बार अपने योग्य कोई सेवा कार्य बतलाने के लिए आग्रह करने लगे। इस पर बर्मियों ने सकुचाते हुए कहा—"आपके योग्य यही सेवा है कि यदि बर्मा प्रवास में आपको किन्हीं भी बर्मियों की ओर से कोई क्लेश पहुँचा हो या उनके स्वभाव-आचरण के सम्बन्ध में आपने कोई कटु धारणा बना ली हो तो कृपाकर आप उसे समुद्र मे डालते जाएँ। अपने देशवासियों को इसका आभास तक न होने दें कि कुछ बर्मी ऐसे भी अभद्र होते हैं।"

यह है सच्ची राष्ट्रियता और राष्ट्रियता का सच्चा अभिमान। राष्ट्र की प्रतिष्ठा के प्रति जब यह चिन्ता जागेगी, तभी राष्ट्र यशस्वी होगा।

———

अतीत की कल्पना का आधार

कलकत्ता में अधिकतर मोटर-ड्राइवर सिक्ख हैं। एक बार वहाँ गुरु नानकदेव का जुलूस बाजारों से गुजर रहा था। किसी अंग्रेज ने देखा तो एक बंगाली से पूछा—"यह उत्सव कैसा है, किसका है?"

बंगाली ने जवाब दिया—"यह ड्राइवरों के मास्टरों का जुलूस है। सुना है वह मोटर चलाने में बड़ा होशियार था।"

जवाब देने वाले का क्या अपराध? वह सिक्ख मोटर ड्राइवरों की अधिकता और उनके वर्तमान व्यवहार के परे कैसे जाने कि सिक्ख जाति में भी बड़े-बड़े त्यागी तपस्वी शूर-वीर, राजा-महाराजा हुए हैं और हैं। मोटर-ड्राइवर सिक्खों के वर्तमान व्यवहार ने गुरु नानकदेव को भी मोटर-ड्राइवर बना दिया! अतीत की महत्ता को आँकने के लिए वर्तमान की महत्ता अत्यन्त अपेक्षित है, यह भूलिए नहीं।

मूर्खों के त्याग का आदर्श

एक बूढे जन-सेवक की बात है। वह रोज लोगों की सेवा करता था, लोगों का मैल धोता था, गली-मुहल्ले की सफ़ाई करता था, उन्हें रोटी देता था, उन्हें ज्ञान देता था। किन्तु स्वयं थोडे-से अन्न-वस्त्र पर निर्वाह करता था। लोगों ने उसकी तारीफ की।

एक मूर्ख ने कहा—"इसमें तारीफ़ की कौन-सी बात है? बुड्ढा पूरे कपड़े पहनता है।"

बुड्ढे ने सुन लिया और कपड़े फेंक दिये, बस एक लगोटी लगा ली।"

दूसरे मूर्ख ने कहा—"ओ हो, इसमे क्या है? बुड्ढा दूध, फल काफ़ी खा जाता है।"

बुड्ढे ने दूध भी छोड़ दिया, फल भी छोड दिये। फिर एक तीसरे मूर्ख ने कहा—"और यह तो रोटी खाता है।"

बुड्ढे ने कच्चे चना चबाना शुरू कर दिया।

चौथे मूर्ख ने कहा—"आखिर खाता तो है।"

बुड्ढे ने खाना भी छोड दिया।

पाँचवें मूर्ख ने कहा —"पानी तो पीता है।"

इस पर पानी को भी अन्तिम नमस्कार कर बुड्ढा एक रात को राम-राम करते-करते मर गया। सुबह हुई तो न कोई सेवा करने वाला, न रोटी देने वाला। लोग खूब रोये। बुड्ढे की तारीफ़ की। किन्तु किसी ने यह नहीं कहा कि हमीं ने बुड्ढे को मार दिया।

जैसी रेखा वैसी घोड़ी

एक सामुद्रिक शास्त्री ने घोषित किया कि "जिसके दाहिने पैर में ऊर्ध्वरेखा होती है उसे सवारी के लिये घोड़ी मिलती है।

श्रोताओं में से एक ने अपना पैर देखा लेकिन ऊर्ध्वरेखा नहीं था। तब उसने लोहे के एक चिमटे को गरम कर दाहिने पैर के तलवे में रेखा उपाड़ दी। घाव जरा गहरा हो गया भरा नहीं सड़ गया। फलतः उसे बिस्तर पर पड़ जाना पड़ा और पैर हमेशा के लिए बेकार हो गया। अब उसे लकड़ी की घोड़ी के सहारे चलना पड़ा।

एक दिन मार्ग में पहले वाले सामुद्रिक शास्त्री से भेंट हो गई। उसने पूछा—"तुम्हारे कथनानुसार मैंने अपने पैर में ऊर्ध्वरेखा पैदा की लेकिन मुझे सवारी के लिये घोड़ी तो नहीं मिली?"

सामुद्रिक शास्त्री ने कहा—"हमारा शास्त्र कभी झूठ निकलता ही नहीं। यदि तुम्हारी ऊर्ध्व-रेखा असली होती तो असली—सच्ची घोड़ी मिलती। लेकिन तुमने तो रेखा हाथ से बनाई है, अतः तुम्हें हाथ की बनी लकड़ी की घोड़ी मिली है। असली नहीं नकली मिली घोड़ी मिली तो सही जैसी रेखा वैसी घोड़ी।

कंजूसों का सरदार

एक यहूदी की दुकान पर एक स्काच माल खरीदने गया। स्काच को पहले ही सावधान कर दिया गया था कि यहूदी दुगुने दाम माँगा करता है इसलिए मोल-तोल ठीक-ठीक करना, ठगे न जाना।

स्काच साहब सावधान तो थे ही। एक छाते की कीमत पूछी। यहूदी ने कहा—दश शिलिंग। इस पर स्काच साहब ने फरमाया यह तो बहुत ज्यादा है, हम तो पाँच शिलिंग देंगे। यहूदी ने कहा—पाँच तो नहीं, पर तुम सज्जन मालूम होते हो, इसलिए छाता आठ शिलिंग मे दे सकता हूँ। इन्होंने तो पहले से ही गणित का मार्ग स्वीकार कर लिया था। इन से कहा गया था कि यहूदी दूना दाम माँगा करता है, इसलिए वह जितना माँगता था स्काच साहब उससे आधा कहते थे। जब यहूदी पाँच शिलिंग पर पहुँचा, तब तो स्काच महाशय ढाई शिलिंग पर उतर चुके थे। यहूदी धीरज खो बैठा और उखड कर बोला—'तुम तो पूरे मक्खीचूस मालूम होते हो। लेजाओ, यह छाता मुफ्त म।

स्काच साहब विचार में पड़ गए, मामला टेढ़ा था, पर फिर भी गणित ने साथ दिया।' झटपट उन्होंने फैसला कर लिया और बोले,—"तो अच्छा एक नहीं, दो दे दो।" सुनने वाले लोग खिल खिला उठ। पर स्काच को सन्तोष हो गया कि उन्होंने अपनी जाति का कंजूसी का सिक्का श्रोताओं पर जमा लिया।

चाण्डाल कौन ?

एक पंडितजी कहीं कथा बाँच रहे थे। कथा में प्रसंग चल रहा था कि क्रोध चाण्डाल-रूप है। वहीं किनारे बैठी एक मेहतरानी भी कथा सुन रही थी। दूसरे दिन प्रातःकाल जब पंडितजी गंगा-स्नान के लिए जा रहे थे तो रास्ते में वही मेहतरानी सड़क बुहार रही थी। पंडितजी ने पुकारा—'रुक जा।' वह अपनी धुन में मस्त थी। सुना नहीं।

तब पंडितजी कड़क कर बोले—'सुनती नहीं नीच।' मेहतरानी ने कहा—'महाराज जरा बच कर निकल जाइए। मैं हर आदमी के लिए रुकती रहूँ, तो दिनभर में भी मेरा काम पूरा न हो।' इसके जवाब ने पंडितजी की क्रोधाग्नि में घी का काम किया। आपे से बाहर होगए। जबान से उल्टे वचन पड़ने लगे। हाथ में जो लोटा था उस से मेहतरानी को मारने दौड़े। मेहतरानी जरा तेज तबियत की औरत थी। उसने झाड़ू किनारे रख दी और एक हाथ से पंडितजी का लोटा पकड़ा और दूसरे से उनका हाथ। और लगी पकड़ कर खींचने। अब तो पंडितजी की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। आने-जाने वालों का मेला लग गया। पंडितजी लोगों को देख-देख गड़े जाते थे।

लोगों ने पंडितजी से पूछा—"क्या हुआ महाराज ?" पंडितजी के मुँह से तो बोल नहीं निकलता था। मेहतरानी से

पूछा—"क्या हुआ माँ ? तू पंडितजी का हाथ पकड़ कर क्यों खींच रही है ?" उसने कहा—ये मेरे पति हैं। स्त्रियों ने पूछा—अरे, यह तेरे पति कैसे हुए ? भोलीभाली बोली—जब इन्होंने कथा में कहा था—'क्रोध चाण्डाल है।' और आज मेरा [illegible] न होने पर इन्हें क्रोध आ गया और यह मुझे मारने दौड़ पड़े। जब इनमें क्रोध आ गया तो यह मेरे पति हो गए न ? अब इन्हें मैं अपने घर ले जा रही हूँ कि चलो महाराज, अब तो आप चाण्डाल हो ही गए ?

अवसर को सामने से पकड़ो

एक मूर्तिकार ने मूर्ति बनाई और सबको दिखाने के लिए एक सार्वजनिक स्थान पर रख छोड़ी। देखने वालों की भीड़ लग गई। परन्तु यह क्या मूर्ति के चेहरे के सामने तो बाल हैं, परन्तु पीछे से गुद्दी का भाग बिल्कुल गंजा है।

पूछा गया तो मूर्तिकार की ओर से उत्तर मिला—"साहब, यह अवसर की मूर्ति है। यदि तुम आते ही सामने के बालों को सहसा पकड़ लो तो उसे पकड़े रह सकते हो, परन्तु यदि तुम आलस्य में रहे और उसे एक बार आगे भग जाने दिया तो फिर तुम तो क्या तुम्हारे देवता भी उसे न पकड़ सकेंगे। इसीलिये पीछे से पकड़ने के लिए उसकी गुद्दी में बाल नहीं हैं।"

लड़का न लड़की !

किसी महाराज ने एक पंडितजी से जाकर पूछा—"महाराज ! आप अपनी ज्योतिष विद्या की बड़ी तारीफ किया करते हैं, भला बतलाइए तो सही मेरी स्त्री के क्या सन्तान होगी ?

पण्डितजी ने तुरन्त उत्तर दिया—"इसका क्या है ! यह तो मामूली बात है। पर इस में एक शर्त यह रहेगी कि मैं जो लिखे देता हूँ उसे तुम अभी नहीं देख सकोगे, क्योंकि तुम तो मेरी परीक्षा करने आ रहे हो न ! इसलिए सन्तान होने पर मेरी तारीफ देखना कि मैं जो अभी लिखे देता हूँ, वह ठीक निकलता है या नहीं ?"

पण्डितजी ने उस प्रश्नकर्त्ता को जन्मपत्री टटोल कर न देखने की शर्त पर—उसे कुछ लिख दिया। लड़की होने के पश्चात् उस पत्र को खोला गया तो उस में लिखा था कि 'लड़का न लड़की। फिर क्या था पण्डितजी पकड़ पर और अकड़ने लगे देखा मैंने तो पहले ही लिख दिया था कि लड़का न लड़की—अर्थात् लड़का नहीं लड़की होगी।

पाठक भली भाँति समझ गए होंगे कि इसमें पण्डितजी की क्या चाल थी। यदि लड़का होता तो वे फौरन कह उठते कि लड़का न लड़की। और यदि उस पूछने वाले की गुस्ताखी ही होती तो भी उसमें लिखा ही था कि—'लड़का न लड़की'—अर्थात् कुछ भी नहीं।

मरने से क्या डर ?

महाराजा विक्रमादित्य राज-सिंहासन पर अभिषिक्त हुए ही थे कि उसी रात्रि में अग्नि वेताल नामक राक्षस से उनकी मुठभेड़ होगई। राक्षस ने कहा—"राजन् ! मैं ब्रह्म राक्षस हूँ। मेरा काम है राजाओं को मारना। अत अपने इष्ट देव को स्मरण कर तैयार हो जाओ—स्वर्गलोक की यात्रा के लिए।"

राजा ने कहा—"बहुत अच्छा ! मैं तो स्वर्ग-यात्रा के लिए प्रतिक्षण तैयार रहता हूँ। परन्तु मारने से पहले कृपा करके मुझे यह तो बता दीजिए कि मेरी आयु कितनी है ?"

राक्षस ने कहा—"यह तो मुझे पता नहीं। हाँ, मैं अपने स्वामी इन्द्र से पूछ कर अवश्य बता सकता हूँ।" राक्षस कल आने के लिए कह कर चला गया।

दूसरे दिन मध्य रात्रि में आकर राक्षस ने कहा—"इन्द्र देव ने तुम्हारी आयु सौ साल की बताई है।" इस पर राजा ने फिर कहा—"आप बड़े उदार और सज्जन देवता हैं। कृपया इन्द्र से कह कर मेरी आयु सौ वर्ष से एक वर्ष अधिक या एक वर्ष कम करादें।"

दूसरे दिन अग्निवेताल ने आकर कहा—"एक वर्ष तो क्या, एक क्षण भी किसी की आयु को अधिक या कम नहीं किया जा सकता। इन्द्र ने इस सम्बन्ध में अपनी असमर्थता प्रकट की है।"

राजा विक्रम ने म्यान से तलवार निकाल कर कहा—"अब आइए, निर्णय करलें कि कौन किस को मारता है ?" घन घोर

युद्ध के बाद—राक्षस पराजित हो गया और उसने राजा की आजन्म दासता स्वीकार करली।

यदि जीवन है तो मृत्यु का क्या डर है? और यदि जीवन नहीं है तब भी मृत्यु का क्या डर है? मनुष्य को तो जीवन और मरण के भय से सर्वथा अलग हो कर कर्त्तव्य-पथ पर निरन्तर संघर्ष करते रहना चाहिए।

पानी अच्छा होता तो?

एक फकीर को बड़ी भूख लगी हुई थी। सामने नगर के एक धनी व्यक्ति को आते हुए देखा तो हाथ फैला कर बोला— 'बाबा! कुछ दया होजाय। बड़ी भूख लगी है।

'यहाँ तुम्हारी दाल नहीं गलेगी।' उस धनी व्यक्ति ने व्यंग्य की मुद्रा में कहा।

"पानी अच्छा होता तो दाल अवश्य गल जाती श्रीमान्। फकीर ने झट-पट उत्तर दिया और हँसता हुआ आगे बढ़ गया।

बुढ़िया का अहंकार !

एक बुढ़िया घर मे अकेली थी, उसे पान खाने का बड़ा शौक़ था। किन्तु आस-पास के पड़ौसियों की इतनी अधिक उदासीनता कि कोई उसे यह न कहता कि वह पान खाती है।

बुढिया ने लोगों की इस बेरुखी से अधीर होकर एक दिन अपने घर को आग लगादी और शोर मचा दिया—"दौड़ो, दौड़ो। घर में आग लग गई है।"

पड़ौसी दौड़े आए। कुछ घर का सामान बाहर निकलवाने लगे और कुछ आग बुझाने के लिए पानी लाने मे व्यस्त होगए।

बुढ़िया ने सामान निकालने वालों में से एक से कहा—"बेटा, जरा मेरा पानदान भी निकाल देना।" इस पर पास खड़े हुए एक आदमी ने टोका—"ओ हो! बुढ़िया, तू पान भी खाती है?"

इस पर बुढिया ने प्रश्नकर्ता को गालियाँ और उपालम्भ देते हुए कहा—"तुमने यही बात पहले पूछ ली होती तो मेरे घर को आग ही क्यों लगती?"

मनुष्य नहीं, पशु

"ताँबे का एक पैसा या एक पाव-भर आटा मिल जाता बाबूजी! भूखी आत्मा है। आप आनन्द में रहें।"

एक भिखारी बड़ी देर से दरवाज़े के सामने चिल्ला रहा था। मकान-मालिक अपनी बैठक में बैठा हुआ हुक्का पी रहा था। झल्ला कर बोला— 'एक बार कह दिया, दो बार कह दिया—कि यहाँ कोई आदमी नहीं है। मानेगा नहीं वे! चिल्ला चिल्ला कर नाहक तंग कर रहा है।"

भिखारी को अब मज़ाक सूझा। भिखारी तो हो ही गया था। सोचा जाते-जाते बाबूजी के लिए एकाध चुटकी ही क्यों न छोड़ दूँ? बोला—"हुज़ूर को तो मैं आदमी समझ कर ही माँग रहा था। मुझे क्या पता था कि आप आदमी नहीं हैं, पशु हैं।

भिखारी भी तो नदारद हो गया।

अन्धानुकरण !

एक शहर में राजा की सवारी निकल रही थी। राज-कर्मचारियों ने देखा कि जुलूस के मार्ग में किसी बच्चे ने टट्टी कर दी है। राजा की सवारी नजदीक आ चुकी थी। अत महतर को बुलवाकर उठवाने का समय नहीं रहा था। चट एक दूरन्देश ने वहीं खड़े हुए मनुष्यों से फूल लेकर उस पर डाल दिए।

राजा की सवारी निर्विघ्न गुजर जाने के बाद भीड के लोगों में से कुछ ने कौतूहलवश जमीन पर फूल चढ़ाने का कारण पूछा, तो किसी मसखरे ने कह दिया—"पृथ्वी से गंदी देवी प्रकट हुई है।"

इतना सुनना था कि हिए के अंधों ने फूल चढ़ाने शुरू कर दिए। और एक अवसरवादी मजहबी दीवानगी के नाम पर गांठ के पूरे लोगों से चन्दा उगाह कर उसी स्थान पर मन्दिर बनवाकर महन्त बन बैठा!

समय की सूझ

लखनऊ का एक प्रसिद्ध नवाब बड़ा ही अस्थिर चित्त व्यक्ति था। वह किसी भी कार्य को दृढ़ता पूर्वक नहीं कर पाता था। मानसिक दुर्बलता ने उसके जीवन को बेकार कर दिया था।

कहा जाता है—एक बार उसने एक व्यक्ति को किसी परगने का शासन करने के लिए अधिकारी नियुक्त कर के भेजा। ज्यों ही वह अधिकारी उस परगने में पहुँचा त्यों ही उस को तो वापस लौटने का परवाना मिला और उसके स्थान पर किसी दूसरे आदमी को नियुक्त कर के भेज दिया। इस दूसरे आदमी को आते देर न हुई थी कि वह भी वापस बुला लिया गया और उसके स्थान पर तीसरा आदमी आ पहुँचा। तीसरे की भी यही दशा हुई।

हाँ तो जब नवाब साहब की आज्ञा पाकर चौथा आदमी उस परगने की ओर चलने लगा तब उसे कदाचित नवाब के विचारों की अस्थिरता का ध्यान आया। वह व्यक्ति बड़ा ही चतुर और हद मसखरा भी था। इसलिए घोड़े पर दुम-पूँछ की तरफ मुँह करके सवार हुआ और नगर से बाहर शहर की तरफ मुँह किए महल के पास से परगने की ओर चलने लगा। उस समय नवाब साहब महल की छत पर खड़े थे। उन्होंने उसे घोड़े पर पूँछ की ओर मुँह करके बैठे हुए देखा तो वे बड़े आश्चर्य एवं कुतूहल में पड़े।

खाओ और खाने दो

किसी राजा के तीन पुत्र थे। वह एक को राज-सिंहासन पर बैठाना चाहता था परन्तु निश्चय न कर पाता था कि तीनों में से किसे राज-गद्दी दे।

एक दिन राजा ने तीनों राजकुमारों को मिष्ठान्न-थालियाँ परोसी। ज्यों ही तीनों भोजन करने के लिए बैठे त्यों ही व्याघ्र के समान शृंखलाबद्ध भयानक कुत्तों को उन पर छोड़ दिया। शृंखला से छूटते ही कुत्ते राजकुमारों के ऊपर झपटे और उनकी थाली में मुँह डालने लगे। यह देख कर पहला राजकुमार भय के मारे उठ खड़ा हुआ और अपनी थाली छोड़ कर भाग खड़ा हुआ।

दूसरा राजकुमार डंडा लेकर कुत्तों को मारने लगा। वह स्वयं भोजन करता रहा परन्तु कुत्तों को नहीं खाने दिया।

तीसरे राजकुमार ने सोचा कि अकेले-अकेले खाना ठीक नहीं है। अतएव वह स्वयं भी खाता रहा और बीच-बीच में कुत्तों को भी खिलाता रहा। सब के सब कुत्ते शान्त पड़ गए, पूँछ हिलाने लगे।

राजा तीसरे राज-कुमार से बहुत प्रसन्न हुआ; फलतः उसे ही राज-पद पर अभिषिक्त किया। मनुष्य को न भगोड़ा होना चाहिए। न लड़ाकू होना चाहिए, किन्तु खाने और खिलाने वाला होना चाहिए।

कला की परख ?

एक कलाकार युवक ने बाँसुरी बजाने का सुन्दर अभ्यास किया। वह अपनी कला में इतना दक्ष हो गया कि उसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैलने लगी।

एक वार वह एक धनी सेठ के पास गया। उसने सोचा था कि सेठ बाँसुरी सुन कर प्रसन्न होंगे और मुझे अवश्य ही बहुमूल्य उपहार प्रदान करेंगे।

सेठ थे अरसिक। साथ ही मूँजी और धूर्त भी। घंटों बाँसुरी सुनने के बाद कहा कि "इसमें क्या कला है ? बाँसुरी अदर से पोली है, अत उसमें मुँह की हवा भरती है तो वह बजती है। यदि तुम सच्चे कलाकार हो तो यह मेरी बाँस की लाठी लो और इसे बजा कर दिखाओ। पता तो चले, तुम कितने चतुर बजाने वाले हो ?"

पोलु छे ते बोल्युं, करी तें शी कारीगरी ?
सांबेलु बगाड़े त्यारे जाणु के तुं शाणो छे !

———

छाया के पीछे न दौड़िए

एक नादान बालक चाँदनी रात में खेलने के लिए घर से बाहर निकला। उस ने अपनी छाया को अपने से भिन्न दूसरा बालक समझा और उसे प्यार करने दौड़ा। परन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता त्यों-त्यों छाया भी आगे-आगे दौड़ती पकड़ में ही नहीं आती। आखिर बालक छाया के पीछे दौड़ता-दौड़ता थक गया और खड़ा होगया। ज्योंही वह ठहरा तो छाया भी ठहर गई। अब की बार बालक, अपने साथी को निकट ही खड़ा पाय, उसे पकड़ने के लिए फिर झपटा। किन्तु यह क्या वह छाया रूपधारी बालक फिर आगे खिसक गया। अन्त में थका बालक हैरान होगया थक कर चूर-चूर होगया। एक जगह खड़ा होकर रोने लगा।

बालक की समझदार माता यह सब चरित्र देख रही थी। वह दौड़ कर बालक के पास आई और कहा—"ले, अब पकड़ले अपने साथी को। बालक का अपना सिर उसके अपने हाथों से पकड़वाया तो छाया का सिर अपने आप पकड़ में आगया। बालक प्रसन्नता से नाच उठा।

यह संसार का समस्त पदार्थ मात्र एक छाया है। इसे पकड़ने की धुन में संसार-जीव व्याकुल हैं, किन्तु वह छाया पकड़ने में ही नहीं आती। जो छाया को न पकड़ अपने आप को पकड़ता है, उस की पकड़ में त्रिलोकी का राज्य अपने आप पकड़ में आजाता है।

गोपनीय महामंत्र

एक श्रद्धालु भक्त प्रतिदिन गाँव के बाहर एक महात्मा के पास जाया करता था। जब महात्माजी की सेवा करते-करते उसे बहुत दिन बीत गए, तब महात्मा ने उसे अधिकारी समझ कर कहा—"वत्स! तेरी मति भगवान् में है, तू श्रद्धालु है, किसी का बुरा नहीं चाहता, किसी से घृणा और द्वेष नहीं करता, सरल चित्त है, सन्तों का उपासक है और जिज्ञासु है, इसलिए तुझे एक ऐसा गोपनीय मत्र देता हूँ जिसका पता बहुत ही थोड़े लोगों को है। यह मत्र परम गुप्त और अमूल्य है, किसी से कहना नहीं। यों कहकर महात्मा ने उसके कान में धीरे से कह दिया—'राम'। श्रद्धालु भक्त उसी दिन से रात-दिन राम मत्र का जप करने लगा।

एक दिन वह गगा नहा कर लौट रहा था तो उसका ध्यान उन लोगों की ओर गया, जो हजारों की सख्या मे उसी की तरह गगा नहा कर जोर-जोर से राम-राम पुकारते चले आरहे थे। सुनता तो रोज ही था, परन्तु इस ओर ध्यान नहीं गया था। आज ध्यान जाते ही उस के मन मे यह विचार आया कि—"महात्मा तो राम मत्र को बड़ा गुप्त बतलाते थे, मुझ से कह भी दिया था कि किसी से कहना नहीं, परन्तु इस को तो सभी जानते हैं। हजारों मनुष्य "राम-राम" पुकारते हुए चलते हैं।"

मन में कुछ सशय उत्पन्न होगया। वह अपने घर न जा कर सीधा गुरु के समीप गया और अपने मन का संशय कह

सुनाया। महात्मा जी ने कहा—"भाई! तेरे प्रश्न का उत्तर पीछे दिया जायगा। पहले तू मेरा एक काम कर।" महात्मा जी ने झोली में से एक चमकती हुई काँच-की-सी गोली निकाली और उसे भक्त के हाथ में देकर कहा— बाजार में जा और इसकी कीमत करवा कर वापस लौट आ। बेचना नहीं है, सिर्फ कीमत जाननी है। सावधान! कीमत जानने में कहीं भूल न होजाय।"

भक्त श्रद्धालु था। आज्ञा का पालन करना तो पहले ही गुरु-महाराज को आगे हाथों लेना और कहना—"मैं तुम्हारे काँच के टुकड़े की कीमत जँचवाने नहीं आया हूँ। पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए बहाना मत बनाइए।" हाँ तो भक्त अपना प्रश्न वहीं छोड़ कर बाजार गया। सब से पहले एक शाक बेचनेवाली मिली। उसे वह गोली दिखाकर पूछा—"इस की क्या कीमत है? शाक बेचनेवाली ने पत्थर की चमक और सुन्दरता देख कर सोचा कि बच्चों को खेलने के लिए काँच की बड़ी सुन्दर गोली है। बाजार में कहीं ऐसी नहीं मिलती। अतः उसने कहा "सेर-दो सेर आलू या बैंगन ले लो।" वह आगे बढ़ा एक सुनार की दुकान थी वहाँ ठहरा। सुनार को गोली दिखा कर पूछा "भाई! इस की कीमत क्या दोगे? सुनार ने नकली हीरा समझ कर सौ रुपये देने को कहा। भक्त की दिलचस्पी बढ़ी वह आगे बढ़ कर एक महाजन के यहाँ गया। उसने पुखराज समझ कर एक हजार देने को कहा। आगे बढ़ा तो जौहरी मिला। उसने असली हीरा समझा और एक लाख रुपयों में उसे माँगा। एक और बड़ा जौहरी मिला। उस ने हीरा देख कर कहा—"भाई! यह तो अनमोल हीरा है। इस देश के सारे जवाहरात इस के मूल्य में दिए जायँ तब भी इस का मूल्य

पूरा नहीं होता। इसे बेचना नहीं।" यह सुनकर भक्त ने विचार किया कि अब तो सीमा हो चुकी।

भक्त ने गुरु से सब निवेदन किया। हीरा गुरु को सौंप कर अपनी शंका का समाधान माँगा। सत ने कहा—"मैं तो उत्तर दे चुका हूँ, तू अभी समझा नहीं। रत्न अमूल्य था, परन्तु उस की असली पहचान केवल सब से बड़े जौहरी को ही हुई। चीज हाथ में होने पर भी जब तक उस को पहचान नहीं होती, तब तक उसका असलीपन गुप्त ही रहता है। राम-नाम भी अनमोल है, परन्तु उसकी पहचान सब को नहीं है। व दयापात्र हैं,जो इस अमूल्य हीरे को कौडी-कौडी के मूल्य पर बेच देते हैं। सांसारिक वासना की पूर्ति के लिए भगवान् का नाम लेना, अमूल्य हीरे के बदले सेर-दो सेर साग-सब्जी खरीदना है।

———

शास्त्र के प्रति अन्याय

कुरान में लिखा है —"नमाज मत पढो, जब कि तुम नापाक हो।"

एक मुसलमान रोज-रोज नमाज पढ़ने से घबराता था, अत वह अपने साथियों से पीछा छुड़ाने के लिए, 'जब कि तुम नापाक हो'—इस वाक्यांश को दबाकर, अपने साथियों को कुरान दिखा कर कहने लगा—"देख लो, कुरान में भी लिखा हुआ है कि—"नमाज मत पढ़ो।"

स्वार्थ की दृष्टि हो तो शास्त्र के प्रति न्याय नहीं हो सकता।

इंग्लैंड रिटर्न वैज्ञानिक

नारायण बी॰ एस-सी॰ लन्दन से कृषि-कालेज की उच्चतम उपाधि लेकर अपने गाँव आया। उसके चाचा उसे अपना खेत और बाग दिखाने ले गये। एक पेड़ के पास रुक कर नारायण ने कहना शुरू किया—

"मुझे दुःख है चाचाजी कि आप लोगों को इतना अनुभव होते हुए भी आप आम की पैदावार नहीं बढ़ाते। अगर आप अच्छी तरह खाद का प्रयोग करें आमों को समय से पहले तोड़ने से रोकते रहें, पेड़ की सलामती और बेहतरी के वैज्ञानिक तरीके बरतें तो इस जैसा एक आम का पेड़ अब से दुगुने और बढ़िया फल दे सकता है। आश्चर्य है, आपको अभी तक ऐसे विचार क्यों नहीं सूझे? आश्चर्य है महान् आश्चर्य है।"

चाचा ने उत्तर दिया— मुझे भी आश्चर्य है, बेटा! क्योंकि यह पेड़ आम का नहीं, अमरूद का है।"

यह है इंगलैण्ड रिटर्न वैज्ञानिकों का वैज्ञानिक अध्ययन। पोथी-पंडितों से देश की समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं।

सत्य की शोध

एक बुढ़िया ने अँधेरी रात में अपनी सुई घर के भीतर गँवा दी थी और उसकी खोज बाहर सड़क पर लालटेन की रोशनी में कर रही थी।

बुढ़िया को सड़क की खाक छानते देखकर एक दयालु राहगीर ने पूछा—"बुढ़िया माँ, यहाँ क्या खोज रही हो ?"

उत्तर मिला—"बेटा, सूई खो गई है, सो उसे बड़ी देर से खोज रही हूँ। मिल ही नहीं रही है। जरा तुम ही खोज दो।"

राहगीर ने इधर-उधर खोजते हुए पूछा—"कहाँ खो गई है ?" उत्तर मिला—'घर में।" राहगीर हँसकर बोला—"अन्दर खोई वस्तु को बाहर खोजना कैसी भूल है ?" बुढ़िया ने मुँह बनाकर कहा—"हाँ बेटा, सच कहते हो, परन्तु घर में दीपक नहीं है। सोचा—सड़क पर लालटेन जल रही है, सो वहीं खोज लूँ। अन्धकार में प्रकाश चाहिये न ?"

ठीक यही दशा उन साधकों की है, जो अपने मन-मन्दिर में ज्ञान का दीपक जलाकर ईश्वर की खोज नहीं करते और बाहर के शास्त्रों एवं तीर्थों में ईश्वर की खोज में खाक छानते तथा भटकते फिरते हैं। सत्य की खोज हृदय में होनी चाहिए, बाहर नहीं।

समय चूकि पुनि का पछतावा !

चित्रशाला में एक व्यक्ति ने प्रवेश किया। बहुत-से चित्र उसे दिखलाए गए। उसने देखा कि एक चित्र है, जिसमें एक व्यक्ति का चेहरा उसके बालों से ढका हुआ है और उसके पैरों में पंख लगे हुए हैं।

उसने पूछा—'यह किस की तसवीर है?

चित्रकार ने कहा—'अवसर की!

"इस का मुँह क्यों छिपा हुआ है?"

"क्योंकि जब यह मनुष्यों के सामने आता है तो वे इसे पहचान नहीं सकते।

"इसके पैरों में पंख क्यों लगे हैं?"

"क्योंकि यह जल्दी चला जाता है, और एक बार चला जाता है तो इस को फिर कोई दुबारा नहीं पा सकता।"

मन को माँजिए

किसी ने एक राजा से कहा कि आजकल रोमन और चीनी बड़े अच्छे चित्रकार हैं। उन दोनों की चतुरता की तुलना करने की गरज से राजा ने अपने कमरे की एक दीवार चीनी कलाकारों को और सामने वाली रोमन कलाकारों को दी। दोनों के बीच में एक पर्दा डाल दिया गया। रोमन कलाकारों ने तरह-तरह के रंग एकत्र किए और एक-से एक सुन्दर चित्र बनाने लगे। लेकिन चीनी कलाकारों ने न कोई रंग जुटाया और न कोई चित्र बनाया। केवल दीवार को घोटते, माँजते और पालिश करते रहे। जब दोनों ने अपना अपना कार्य पूरा कर लिया, तो उनकी चित्रकला का निरीक्षण करने के लिए राजा को बुलाया गया।

रोमन लोगों की सुन्दर चित्र-कला को देख कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, और फिर चीनी लोगों की दीवार की तरफ़ मुड़ा, जिस पर कोई भी रंग इस्तेमाल नहीं किया गया था। राजा ने आश्चर्य से पूछा—'चित्रकला कहाँ है?" तब चीनियों ने बीच का पर्दा हटा दिया, और रोमन चित्रकला की सारी सुन्दरता की परछाईं उस चीनी दीवार पर पड़ी। इतना ही नहीं, बल्कि चीनी कलाकारों ने अपनी दीवार पर ऐसी अद्भुत पालिश की थी, कि परछाईं असली तस्वीर से भी कहीं खूब-सूरत लगी, और उसकी जगमगाहट के सामने तस्वीर फीकी पड़ गई।

ईश्वर के भक्त चीनी कलाकारों की तरह से ही हैं। वे अपने दिल के शीशे को इस तरह शुद्ध और निर्मल कर लेते हैं, कि सनातन सत्य उस में अपने पूरे प्रकाश के साथ चमकने लगता है। लेकिन पोथी पढ़ने वाले पण्डित रोमन लोगों की तरह हैं। उनका ध्यान केवल बाहरी दुनिया की शोभा तक ही सीमित रहता है।

सदाचार की पोशाक

एक राजकुमार को बहुत सुन्दर, बहुमूल्य और चमकदार वस्त्र पहनने का शौक था। एक दिन वह अपनी इसी सज-धज के साथ अपने पिता के पास गया, तो राजा ने कहा— "बेटा! राजकुमार को ऐसे वस्त्र पहनने चाहियें, जो दूसरे लोग न पहनते हों।"

राजकुमार ने पूछा—"वह कौन-से वस्त्र हैं?" राजा ने कहा—"सत्य उसका उत्तम स्वभाव का और दान उसका उत्तम आचरण का।"

क्या पाठक भी वह वस्त्र पसन्द करेंगे? जीवन की सुन्दरता वस्तुतः इसी वस्त्र से चमकेगी!

हर काम में दिलचस्पी लो !

एक बार एक छोटे स्कूल के दो बच्चों ने शरारत की। अत उनके अध्यापक ने उन्हें बतौर सजा के सौ सौ लाइनें लिखने को कहा। उनमें से एक लड़का तो मनमें अध्यापक की शिकायत करता रहा, उनकी बुराइयों को सोचता रहा और नक़ल करने के काम को ढकेल ढकेल कर करता रहा। और दूसरा हर लाइन को जरा नये तरीक़े से लिखने की कोशिश करता रहा। थोड़ी देर बाद अध्यापक आए और बोले —

'चलो, मैं तुम्हारी सजा घटाकर पचास लाइनें कर देता हूँ।"

यह सुनकर पहले लड़के ने खुश होकर कलम दवात किनारे रख दी, पर दूसरे लड़के ने कहा

महाशय, यदि आप आज्ञा दें तो मैं साठ लाइनें पूरी कर लूँ। पचास तो मैं लिख चुका, पर दस और लिखने का मैंने एक नया तरीक़ा सोच लिया है।"

अध्यापक महोदय बोल उठे, 'यह लड़का तो हर काम मे इतना रस लेता है कि इसे दण्ड देने का कोई तरीक़ा सोचा ही नहीं जा सकता।'

यदि आप सफल होना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि काम के प्रति आपका अनुराग बना रहे, और काम के लिए उत्साह कभी कम न हो। जो व्यक्ति अपने हर काम को मजेदार बना सकता है, उसे रस लेकर कर सकता है वह असफल क्यों होगा ?

"गजस्तत्र न हन्यते"

एक सिंहनी ने दो बच्चों को जन्म दिया और इस दुर्बलता के कारण उसका शिकार के लिए जाना बन्द हो गया। सिंह प्रतिदिन उसके लिये भोजन लाने लगा।

एक दिन सिंह को कोई शिकार नहीं मिला अतएव वह एक छोटे-से गीदड़ के बच्चे को ही पकड़ लाया। उसकी सुकुमारता देखकर सिंह का मन उसे मारने को नहीं हुआ। उसने दुःख के साथ सिंहनी के पास जाकर कहा—"प्रिये आज मुझे कोई शिकार नहीं मिला इसलिए इस अबोध शावक को ही पकड़ लाया हूँ। इतने कोमल बच्चे को मैं मार नहीं सका। तू इसे मारकर खा ले और आज इससे ही अपनी क्षुधा शान्त कर।

सिंहनी ने उत्तर दिया—"प्रियतम आप तो नर हैं। स्वभावतः कठोर हैं। जब आप ही इसे न मार सके, तब मैं माता और सद्य-प्रसूता होती हुई इसका हनन कैसे करूँ? मैं आज उपवास ही कर लूँगी इसे अपने बच्चों के साथ खेलने और बढ़ने दो। मैं इसे दूध पिलाऊँगी।"

अबोध-शावक सिंह शावकों का बड़ा भाई बन गया और उनके साथ आनन्द से खेलने तथा बढ़ने लगा।

एक दिन तीनों शावक खेलते-कूदते दूर निकल गए। वहाँ उन्हें एक हाथी का बच्चा मिला। सिंह शावक उसे मारने को उतावले हो उठे, परन्तु शृगाल-शावक ने उन्हें समझाया—

हर काम में दिलचस्पी लो !

एक बार एक छोटे स्कूल के दो बच्चों ने शरारत की। अत उनके अध्यापक ने उन्हें बतौर सजा के सौ सौ लाइनें लिखने को कहा। उनमें से एक लड़का तो मनमें अध्यापक की शिकायत करता रहा, उनकी बुराइयों को सोचता रहा और नक़ल करने के काम को ढकेल ढकेल कर करता रहा। और दूसरा हर लाइन को जरा नये तरीक़े से लिखने की कोशिश करता रहा। थोड़ी देर बाद अध्यापक आए और बोले —

"चलो, मैं तुम्हारी सजा घटाकर पचास लाइनें कर देता हूँ।"

यह सुनकर पहले लड़के ने खुश होकर कलम दवात किनारे रख दी, पर दूसरे लड़के ने कहा

महाशय, यदि आप आज्ञा दें तो मैं साठ लाइनें पूरी कर लूँ। पचास तो मैं लिख चुका, पर दस और लिखने का मैंने एक नया तरीक़ा सोच लिया है।"

अध्यापक महोदय बोल उठे, "यह लड़का तो हर काम में इतना रस लेता है कि इसे दण्ड देने का कोई तरीक़ा सोचा ही नहीं जा सकता।"

यदि आप सफल होना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि काम के प्रति आपका अनुराग बना रहे, और काम के लिए उत्साह कभी कम न हो। जो व्यक्ति अपने हर काम को मजेदार बना सकता है, उसे रस लेकर कर सकता है वह असफल क्यों होगा ?

कोठियों के निर्माता

एक था सेठ। उसके थे दो बेटे। सेठ ने दोनों बेटों को उपदेश दिया कि तुम दुनिया-भर में अपनी कोठियाँ बनाओ। अब एक लड़का तो सचमुच जगह-जगह कोठियाँ बनाने लगा। आखिर कहाँ तक कोठियाँ बनाता? वह थक गया। उसके मन ने जवाब दे दिया।

दूसरा लड़का अधिक बुद्धिमान था। उसने कोठियाँ बनाने के बजाय जगह-जगह मित्र बनाने आरम्भ किए। इसमें वह जरा भी नहीं थका और अपने भाई से बहुत आगे निकल गया क्योंकि उसके लिए मित्रों की कोठियों के द्वार सब हमेशा खुले रहते थे।

"भाई, ऐसा साहस मत करो, वह बहुत बड़ा है, सरलता से हम तीनों को मार डालेगा।"

सिंह-शावकों ने उसकी खूब खिल्ली उड़ाई और वे आगे बढ गए। घोर युद्ध ठनता देख शृगाल-शावक भाग खड़ा हुआ। 'बड़े भाई' को भागता देख अन्तत सिंह-शावक भी लौट आए।

सिंह-शावकों ने माता के पास पहुँचकर सारी कहानी सुनाई और 'दादा' की शिकायत की। दादा ने भी शिकायत की—"मेरी खिल्ली उडाते हैं, मैं शौर्य मे, विद्या मे, रूप मे किससे कम हूँ ?"

माता के कान खड़े हो गए। उसने सोचा, कि आखिर यह जम्बुक ही तो है, मेरा दूध पीने से ही सिंह तो नहीं बन सकता। यह मेरे बच्चों को कायर बनाने का प्रयत्न करेगा, तो सिंह और वे इसे किसी दिन मार डालेंगे। अतएव उसने शृगाल-शावक को उत्तर दिया—

"शूरोऽसि कृतविद्योऽसि, दर्शनीयोऽसि पुत्रक !
यस्मिन कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥"

हे पुत्र ! तू शूर है, विद्वान है, रूपवान है, परन्तु कठिनाई यह है, कि जिस कुल में तू उत्पन्न हुआ है, उसमें हाथी को नहीं मारा जाता।

"नहीं भाई मा ! मुझे तो कोई शास्तर-वास्तर नहीं मालूम। मैं तो केवल यह नाव चलाना जानता हूँ और दो रोटी का सवाल हल कर लेता हूँ। बस मैंने कह दिया मैं पढ़ा लिखा कुछ भी नहीं।"

अपने ज्ञान की गरिमा में गुमान-भरे नवयुवक ने हँसकर कहा— "तब तो तेरी जिन्दगी का तीसरा हिस्सा भी यों ही पानी में बह गया नष्ट हो गया !"

साँझ हो चली थी। नाविक दूसरे फेरे की शीघ्रता में था कि एक ओर से ज़ोर की आँधी उठी। हवा के थपेड़ों से नाव डगमगाने लगी। उसमें पानी भरने लगा। जीवन के समक्ष मृत्यु की आशंका का प्रसंग उपस्थित होगया। अब मल्लाह ने युवक से पूछा—"भाई, तूफान जोरों से है। आप तैरना भी जानते हैं या नहीं ?"

"अरे तैरना जानता तो तेरी नाव पर ही क्यों चढ़ता ? भैय्या, मुझे तैरना नहीं आता बता अब क्या करूँ ? युवक ने घबराते हुए कहा।

"अब तो महाराज ! तैरना न जानने से आपकी सारी जिन्दगी ही बेकार पानी में डूब चली।" नाविक ने डूबती नाव पर से धारा में छलांग लगाते हुए कहा।

युवक महाशय दर्शन भूगोल, खगोल आदि शास्त्रों के गूढ़ से गूढ़ विषयों को तो भली भाँति समझ सकते थे उन पर घंटों बहस भी कर सकते थे; परन्तु नाव डूबने पर तैरना न आने के कारण अपने प्राण बचाने की शक्ति उनमें नहीं थी। उधर मल्लाह यह भी नहीं जानता था कि शास्त्र

तैरना भी जानते हो ?

अनेक विद्याओं मे पारगत एक नवयुवक विद्वान्, देहात में नाव द्वारा एक नदी पार कर रहा था। वह बहुश्रुत था। नाव ऊँची-नीची लहरों पर नाचती हुई अपने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से बढ़ी जा रही थी कि इतने में युवक महोदय ज्ञान की तरग मे आ गए।

आकाश की ओर देखते हुए उसने वृद्ध नाविक से पूछा—

"अरे भाई! कुछ नक्षत्र-विद्या जानते हो ?

"क्या ? मैने तो यह नाम भी नहीं सुना!"

"अरे रे! तब तो तेरी जिन्दगी का एक चौथाई हिस्सा यों ही गया।"

कुछ देर बाद नवयुवक ने फिर पूछा—

"तो, गणित वणित तो कुछ जानता होगा ?"

' जी नहीं, मैं तो यह कुछ नहीं जानता।"

"तब तो तेरा आधा जीवन यों ही बेकार गया।"

नाविक बेचारा क्या कहता! अपने अज्ञान की ग्लानि मे वह मौन था। कुछ समय यों ही बीता कि नदी के उस तीर की ओर छोटी-मोटी टेकरियों पर खड़े अनेक वृक्षों की ओर देखकर ज्ञानगर्वी नवयुवक ने पुन पूछा—

"हाँ, वृक्ष-विज्ञान शास्त्र के बारे मे तो कुछ जानता ही होगा ?"

"नहीं भाई मा ! मुझे तो कोई शास्त्र-वास्त्र नहीं मालूम। मैं तो केवल यह नाव चलाना जानता हूँ और दो रोटी का सवाल हल कर लेता हूँ। बस मैंने इस विद्या में पढ़ा लिखा कुछ भी नहीं।

अपने ज्ञान की गरिमाता में गुमान-भरे नवयुवक ने हँसकर कहा—"तब तो तेरी जिन्दगी का तीसरा हिस्सा भी यों ही पानी में बह गया नष्ट हो गया।"

साँझ हो चली थी। नाविक दूसरे फेरे की शीघ्रता में था कि एक ओर से जोर की आँधी उठी। हवा के थपेड़ों से नाव डगमगाने लगी। उसमें पानी भरने लगा। जीवन के समक्ष मृत्यु की आशंका का प्रसंग उपस्थित हो गया। अब मल्लाह ने युवक से पूछा—"भाई तुम्हारा जोरों से है। आप तैरना भी जानते हैं या नहीं ?"

"अरे तैरना जानता तो तेरी नाव पर ही क्यों चढ़ता ? भैय्या मुझे तैरना नहीं आता अब क्या करूँ ?" युवक ने घबराते हुए कहा।

"अब तो महाराज ! तैरना न जानने से आपकी सारी जिन्दगी ही बेकार पानी में डूब चली।" नाविक ने डूबती नाव पर से धारा में छलांग लगाते हुए कहा।

युवक महाराज दर्शन भूगोल खगोल आदि शास्त्रों के गूढ़ से गूढ़ विषयों को तो भली भाँति समझ सकते थे उन पर घंटों बहस भी कर सकते थे परन्तु नाव डूबने पर तैरना न आने के कारण अपने प्राण बचाने की शक्ति उनमें नहीं थी। उधर मल्लाह यह भी नहीं जानता था कि शास्त्र

किस चिड़िया का नाम है, पर, वह तैरना भली भांति जानता था, इसलिए प्राण बचा कर किनारे तक पहुँच गया।

मनुष्य को चाहिए कि वह शास्त्रों की गूढ़ बहस के चक्कर में न पड़े। उसे और कुछ आए या न आए, परन्तु जीवन-समुद्र को तैरने की कला तो अवश्य ही आनी चाहिए।

"लल्ला के बाबू हरे हरे!"

एक बार एक विवाहित स्त्री धर्मसभा में कथा श्रवण के लिए गई। कथा के अन्त में जब 'कृष्ण कृष्ण हरे-हरे' का कीर्तन-पाठ आरम्भ हुआ तो वह विचार में पड़ गई, क्या बोले और क्या न बोले?

बात यह थी कि उसके पति का नाम कृष्ण था। भला वह अपने पति के नाम का कीर्तन सभा में कैसे करे? सहसा उसे एक कल्पना सूझी और वह प्रसन्नता से 'कृष्ण कृष्ण हरे-हरे' के स्थान में 'लल्ला के बाबू हरे-हरे' चिल्लाने लगी। अज्ञानता और अशिक्षा ने कर्मयोगी भगवान कृष्ण को लल्ला का बाबू बना दिया।

अकबर की श्रद्धाञ्जलि

सम्राट् अकबर और बीरबल का पारस्परिक स्नेह-भाव अपनी चरम सीमा पर था। दोनों की मैत्री इतनी मजबूत हो चुकी थी कि बाहर में हिन्दू और मुसलमान का भेद होते हुए भी अन्दर से वे अभेद=एक रूप हो गए थे।

एक बार बीरबल सम्राट् की ओर से युद्ध में गए, वहाँ वे षड्यन्त्रकारियों द्वारा मार डाले गए! जब यह समाचार अकबर को मिला तो उसके शोक की सीमा न रही। सम्राट् कई दिनों तक रोते रहे, उन्होंने भोजन भी नहीं किया।

इन्हीं शोक-संतप्त दिनों में अकबर के हृदय में मैत्री-भाव का स्वर मुखरित हुआ— बीरबल! तुम-सा दानी संसार में कौन होगा? तुम ने दीन जान कर लोगों को अपना सब कुछ दे डाला, किन्तु आज तक किसी को दुःख न दिया था, पर वह असह्य दुःख भी जाते हुए मुझ को दे गए। तुम ने तो अपने पास कुछ भी नहीं रखा।"

दीन जानि सब दीन, एक न दीन्हो दुसह दुख।
सो तुम हमको दीन, कछु नहि राख्यो बीरबल॥

किस चिड़िया का नाम है, पर, वह तैरना भली भांति जानता था, इसलिए प्राण बचा कर किनारे तक पहुँच गया।

मनुष्य को चाहिए कि वह शास्त्रों की गूढ़ बहस के चक्कर में न पड़े। उसे और कुछ आए या न आए, परन्तु जीवन-समुद्र को तैरने की कला तो अवश्य ही आनी चाहिए।

"लल्ला के बाबू हरे हरे !"

एक बार एक विवाहित स्त्री धर्मसभा मे कथा श्रवण के लिए गई। कथा के अन्त में जब 'कृष्ण कृष्ण हरे-हरे' का कीर्तन-पाठ आरभ हुआ तो वह विचार मे पड़ गई, क्या बोले और क्या न बोले ?

बात यह थी कि उसके पति का नाम कृष्ण था। भला वह अपने पति के नाम का कीर्तन सभा मे कैसे करे ? सहसा उसे एक कल्पना सूझी और वह प्रसन्नता से 'कृष्ण कृष्ण हरे-हरे' के स्थान मे 'लल्ला के बाबू हरे-हरे' चिल्लाने लगी। अज्ञानता और अशिक्षा ने कर्मयोगी भगवान कृष्ण को लल्ला का बाबू बना दिया।

अकबर की श्रद्धाञ्जलि

सम्राट् अकबर और बीरबल का पारस्परिक स्नेह-भाव अपनी चरम सीमा पर था। दोनों की मैत्री इतनी बद्धमूल हो चुकी थी कि बाहर में हिन्दू और मुसलमान का भेद होते हुए भी अन्दर से व अभेद=एक रूप हो गए थे।

एक बार बीरबल सम्राट् की ओर से युद्ध में गए, वहाँ वे षड्यन्त्रकारियों द्वारा मार डाले गए! जब यह समाचार अकबर को मिला तो उसके शोक की सीमा न रही। सम्राट् कई दिनों तक रोते रहे, उन्होंने भोजन भी नहीं किया।

इन्हीं शोक-संतप्त दिनों में अकबर के हृदय से मैत्री-भाव का स्वर मुखरित हुआ— बीरबल! तुम-सा दानी संसार में कौन होगा? तुम ने दीन जान कर लोगों को अपना सब कुछ दे डाला, किन्तु आज तक किसी को दुःख न दिया था पर यह असह्य दुःख भी जाते हुए तुम दे गए। तुम ने तो अपने पास कुछ भी नहीं रखा।

दीन जानि सब दीन, एक न दीन्हो दुसह दुःख।
सो तुम हमको दीन, कछु नहिं राख्यो बीरबल॥

सुरूपता बनाम कुरूपता

एक दिन सुरूपता (सुन्दरता) और कुरूपता की समुद्र के किनारे भेंट हो गई। दोनों ने परस्पर कहा—"आओ, आज तो दोनों साथ-साथ समुद्र मे स्नान करें।"

दोनों ने अपने-अपने कपड़े उतारे और समुद्र में तैरने लगीं। थोड़ी देर में कुरूपता बाहर आई और सुन्दरता के सुन्दर वस्त्रों से अपना शरीर सजा कर चलती बनी।

जब सुन्दरता भी स्नान करने के बाद तट पर आई, तब उसने देखा कि कपड़े गायब हैं। नगे रहने मे लज्जा का अनुभव होता था, अत. हार कर कुरूपता के ही कुरूप कपड़े पहन कर अपनी राह ली।

इसी कारण आज तक ससार के लोग सुन्दरता को कुरूपता और कुरूपता को सुन्दरता समझने की भूल कर रहे हैं। फिर भी कुछ लोग ऐसे भी हैं—जो सुन्दरता के चेहरे से परिचित हैं, फलत उसके बदले हुए अभद्र मे भी उसे पहचान लेते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो कुरूपता को पहचानते हैं, फलत उनकी आखों के आगे उसका सच्चा रूप अवगुठन मे छिपा नहीं रह सकता।

यह अन्त सौन्दर्य और बहि सौन्दर्य का रूपक है। खलील जिब्रान की दार्शनिक भाषा मे कभी-कभी बाहर कुरूपता होते हुए भी अन्दर सद्गुणों की सुन्दरता रहती है। और कभी कभी बाहर सुन्दरता होते हुए भी अन्दर दुर्गुणों की कुरूपता छिपी रहती है। अत विवेकी साधक को बाहर न देख कर अन्दर ही देखना चाहिए।

अपने कार्य का गौरव !

एक मजदूर किसी कारखाने में रेलगाड़ी के लिये एक खास तरह की कीलें बनाया करता था। वह न कील को रेलगाड़ी में लगाता था न रेलगाड़ी को देखता ही था पर कीलें प्रतिदिन बनाये जाता था।

एक दिन, उसके काम के प्रति करुणा होते हुए, किसी भाई ने कहा 'भाई तुम्हारा काम तो बड़ा नीरस है।'

इस पर उसने उत्तर में कहा "मुझे तो यह काम नीरस नहीं लगता। अगर ये कीलें केवल कीलें होतीं तो हो सकता है कि कीलें बनाने का काम नीरस होता पर ये कीलें नहीं, रेलगाड़ी के पुर्जे हैं।

आप को यह सुनकर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि वह मजदूर धीरे धीरे अपने कारखाने के ऊँचे-से ऊँचे पद तक तरक्की कर गया। उसकी अपने कार्य के प्रति एक निष्ठा, एक रसता और कल्पना शक्ति के लिए यह पुरस्कार कुछ अधिक भी नहीं था। अस्तु अपने काम को भले ही लोगों की निगाहों में वह कितना तुच्छ ही क्यों न मालूम देता हो, आप भूल कर भी तुच्छ न समझिए।

सुरूपता बनाम कु

एक दिन सुरूपता (सुन्दरता) और
किनारे भेंट हो गई। दोनों ने परस्पर
तो दोनों साथ-साथ समुद्र मे स्नान करें।

दोनों ने अपने-अपने कपड़े उतारे
थोड़ी देर मे कुरूपता बाहर आई और
से अपना शरीर सजा कर चलती बनी।

जब सुन्दरता भी स्नान करने के
उसने देखा कि कपड़े गायब हैं। न
अनुभव होता था, अत. हार कर कु
पहन कर अपनी राह ली।

इसी कारण आज तक संसार के
और कुरूपता को सुन्दरता. समझने
फिर भी कुछ लोग ऐसे भी हैं—जो
परिचित हैं, फलत उसके बदले हुए
लेते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो कुरूपता
उनकी आँखों के आगे उसका सच्चा
रह सकता।

यह अन्त सौन्दर्य और बहि सौन
जिब्रान की दार्शनिक भाषा में कभी-
हुए भी अन्दर सद्गुणों की सुन्दर
कभी बाहर सुन्दरता होते हुए
कुरूपता छिपी रहती है। अत वि
देख कर अन्दर ही देखना चाहिए।

सूत्र की व्याख्या की— "चैतन्य तत्त्व के दो रूप हैं, आत्मा और परमात्मा।"

विद्योत्तमा ने अब की बार हाथ की पाँचों अँगुलियाँ दिखा कर यह संकेत किया कि—"पाँच इन्द्रियाँ हैं।" कालिदास ने समझा कि—"थप्पड़ मारना चाहती है।" अतः उसने मुट्ठी बाँध कर घूँसा मारने का संकेत किया। पण्डितों ने उस संकेत की व्याख्या की कि—"पाँचों इन्द्रियाँ मुट्ठी में अर्थात् वश में करो।"

विद्योत्तमा बहुत ही प्रभावित हो उठी। उसने समझा कि—'युवक धुरंधर दार्शनिक है और सदाचारी भी है।" विद्वानों का षड्यंत्र सफल रहा दोनों का विवाह संपन्न हो गया। कालिदास अब भी मौनभाव से रह रहे थे।

रात्रि का समय था। बाहर ऊँट बोला। विद्योत्तमा ने दासी से पूछा कौन बोल रहा है? 'कालिदास चुप न रह सका। उसके मुँह से सहसा निकला—'उट्र। विद्योत्तमा को अपने पति की मूर्खता का पता लगा। वह क्रोध से उत्तप्त हो गई और उसने कालिदास को धक्का देकर घर से बाहर निकाल दिया।

कालिदास का आत्माभिमान जाग्रत् हो उठा। अब वह एक अच्छे विद्वान् के पास मन लगा कर अभ्यास करने लगा। जब कालिदास विद्वान् होगया तो एक दिन रात्रि के उसी समय विद्योत्तमा के द्वार पर पहुँचा। द्वार बन्द था अतः उसने आवाज लगाई—"कपाटमुद्घाटय सुन्दरि ! किवाड़ खोलो। विद्योत्तमा ने किवाड़ खोले तो देखा—"पतिदेव खड़े हैं।" अतः उसने हँसते हुए कहा—

महाकवि कालिदास की ज्ञान-साधना

उज्जैन के राजवंश मे विद्योत्तमा नामक एक अत्यन्त विदुषी लडकी थी। उसकी यह दर्प-पूर्ण प्रतिज्ञा थी कि "मैं उसी विद्वान् युवक से विवाह करूँगी, जो मुझे शास्त्रार्थ मे पराजित कर देगा।" अनेक विद्वान् आए, शास्त्रार्थ हुए, किन्तु सब हार कर चले गए। क्रुद्ध विद्वानों ने अपमान का बदला लेना चाहा, फलत षड्यन्त्र रचा गया कि इस अभिमानिनी लड़की का विवाह किसी ऐसे वज्र मूर्ख से कराया जाय कि यह भी जन्म भर याद रक्खे।

कालिदास बचपन मे मूर्ख-शिरोमणि था। वह वन में वृक्ष पर चढा, उसी शाखा को काट रहा था, जिस पर कि बैठा हुआ था। मूर्ख की खोज में निकले विद्वानों ने जब यह देखा तो वे बड़े ही प्रसन्न हुए। उसे वृक्ष से उतारा और कहा—'चलो हम तुम्हारा विवाह करा दें। किन्तु चुप रहना, बोलना बिलकुल नहीं। कुछ कहना हो तो सकेत से बात करना।"

पण्डितों ने विद्योत्तमा से कहा—"आप बड़े ही धुरंधर विद्वान् हैं। मौन रहते हैं, अत इनसे शास्त्रार्थ सकेत द्वारा ही कर सकती हो।" शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। विद्योत्तमा ने एक अँगुली उठाई, उसका अभिप्राय था—क्या ईश्वर एक है? कालिदास ने समझा कि यह मेरी एक आँख फोडना चाहती है, अत उसने क्षुब्ध होकर दो अँगुली दिखाई, जिसका अभिप्राय था—'मैं तेरी दोनों आँखें फोड़ दूँगा।' पण्डितों ने

सूत्र की व्याख्या की—"चैतन्य तत्त्व के दो रूप हैं, आत्मा और परमात्मा।

विद्योत्तमा ने अब की बार हाथ की पाँचों अँगुलियाँ दिखा कर यह संकेत किया कि—"पाँच इन्द्रियाँ हैं।" कालिदास ने समझा कि—"थप्पड़ मारना चाहती है। अतः उसने मुट्ठी बाँध कर घूँसा मारने का संकेत किया। पण्डितों ने उक्त संकेत की व्याख्या की कि—'पाँचों इन्द्रियाँ मुट्ठी में अर्थात् वश में करो।"

विद्योत्तमा बहुत ही प्रभावित हो उठी। उसने समझा कि—'युवक धुरंधर दार्शनिक है और सदाचारी भी है। विद्वानों का षड्यंत्र सफल रहा दोनों का विवाह संपन्न हो गया। कालिदास अब भी मौनभाव से रह रहे थे।

रात्रि का समय था। बाहर ऊँट बोला। विद्योत्तमा ने दासी से पूछा 'कौन बोल रहा है?' कालिदास चुप न रह सका। उसके मुँह से सहसा निकला— उट्र। विद्योत्तमा को अपने पति की मूर्खता का पता लगा। वह क्रोध में उन्मत्त हो गई और उसने कालिदास को धक्का देकर घर से बाहर निकाल दिया।

कालिदास का आत्माभिमान जाग्रत् हो उठा। अब वह एक अच्छे विद्वान् के पास मन लगा कर अध्ययन करने लगा। जब कालिदास विद्वान् होगया तो एक दिन रात्रि के उसी समय विद्योत्तमा के द्वार पर पहुँचा। द्वार बन्द था अतः उसने आवाज लगाई— 'कपाटमुद्घाटय चारुलोचने।"— 'हे सुन्दर नेत्रों वाली! किवाड़ खोलो। विद्योत्तमा ने किवाड़ खोले तो देखा— 'पतिदेव खड़े हैं।" अतः उसने हँसते हुए कहा—

ज्यों ही आगे बढ़े, पुल पर से गुज़रे और लोगों ने हँसी में तालियाँ बजाईं कि गधा लातें चलाने लगा। आखिर थम न सका, नदी में गिरा और बह गया।

यह स्थिति होती है, जन-मत का ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा करने पर। अन्ततो गत्वा गधे से भी हाथ धोना पड़ा। मिला कुछ नहीं जो कुछ पास था वह भी गया। मनुष्य को कुछ अपनी बुद्धि और विवेक से भी काम लेना चाहिए कि उसे क्या पसन्द है और उसकी अपनी क्या आवश्यकता है?

सत्संग का महत्त्व

शेखसादी ने एक जगह कहा है—

'मैंने मिट्टी के एक ढेले से पूछा कि तू तो मिट्टी है, तुझ में इतनी सुगन्ध कहाँ से आ गई ?"

उस ने उत्तर दिया—यह सुगन्ध मेरी अपनी नहीं है। मैं केवल कुछ समय तक गुलाब की एक क्यारी में रहा था, उसी का यह प्रभाव है।"

सचमुच अच्छे संग की महिमा ऐसी ही है।

चीनी डाक्टर

चीन में एक विदेशी यात्री ने—एक घर पर बहुत-से दीपक जलते देखे। उसे कौतूहल हुआ कि बिना किसी वार-त्योहार के इसी एक घर पर इतने दीपक क्यों जल रहे हैं ?

उसने किसी से पूछा—"इस घर पर इतने दीपक क्यों जल रहे हैं ?

जवाब मिला— 'यह यहाँ के मशहूर डाक्टर का घर है।

फिर पूछा— 'क्या यहाँ सब डाक्टरों के घर पर इसी तरह दीपक जलते रहते हैं ?

"नहीं जी और डाक्टरों के घर इतने दीपक नहीं मिलेंगे। यहाँ का यह रिवाज है कि जिस डाक्टर के हाथ के नीचे रोगी मरता है, उसके घर की छत पर तीन दिन तक उस रोगी के नाम का दिया जलता है। यहाँ के सब से बड़े और प्रसिद्ध डाक्टर होने की वजह से दूर-दूर से इनके यहाँ बेशुमार रोगी आते हैं और स्वभावतः इनके यहाँ मरने वालों की तादाद भी अधिक रहती है। इसीलिये इन डाक्टर साहब की छत हमेशा दीपकों से जगमगाती रहती है।"

यात्री ने पूछा —"इतने आदमी इनके हाथ से मरते हैं, यह सब देखते हुए भी लोगों की श्रद्धा इन पर से हटती नहीं है ?"

"अस्ति कश्चिद् वाग्-विशेष ?"— "वाणी में कुछ विशेषता आगई है क्या ? "

महाकवि कालिदास ने विद्योत्तमा के उक्त वाक्य के एक-एक अंश को लेकर, कहते हैं, तीन महाकाव्यों की रचना की। "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा" के रूप में कुमारसंभव का, "कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा" के रूप में मेघदूत का, और ',वागर्थाविव संपृक्तौ" के रूप में रघुवंश का काव्य-प्रवाह प्रारंभ हुआ। यह है, सरस्वती और श्रम का सुन्दर समन्वय। मनुष्य यदि मन में कुछ करने की ठान ले तो वह क्यार नहीं हो सकता ?

तोते से प्रेम क्यों ?

एक बूढे को तोतों से बड़ा ही प्रेम था। वह उन्हें चुगा डालता, पानी पिलाता और घंटों ही उनका उड़ना बैठना देखा करता। सब को यह देख कर आश्चर्य होता, परन्तु किसी का पूछने का साहस न होता।

एक दिन एक युवक ने पूछा—बाबा, तुम तोतों से इतना प्रेम क्यों करते हो ? वृद्ध ने उत्तर दिया-इस का कारण है भैया ! तोता ही एक ऐसा पक्षी है, जिसे मनुष्य की भाषा में बोलना आता है। और इस बोलने में मनुष्य से बढ कर खूबी यह है कि वह सुनी-सुनाई बातों को अपनी ओर से किसी भी प्रकार का नमक-मिर्च लगाए बिना ज्यों की त्यों ठीक-ठीक कह देता है ! कितना सत्य-भाषी है !

कुछ अपनी भी चाहिए !

कहानी पुरानी है, पर है बड़े काम की। बाप गधे पर चढ़ा था और बेटा पैदल चल रहा था। लोग कहने लगे—"कितना स्वार्थी है बाप ! बेचारा बेटा तो पैदल चल रहा है और बुड्ढा खूँसट सवारी कर रहा है।

अब क्या था ? बाप उतर पड़ा और बेटा सवार हो गया। देखिए, अब की बार कुछ लोग क्या कहने लगे— अब तो जमाना बड़ा ही खराब आ गया है। देखिए, कैसा घोर कलियुग है ? बाप पैदल घिसट रहा है और बेटा बेशी शान से गधे पर चढ़ा आ रहा है!

अब की बार दोनों उतर गए और पैदल चलने लगे। बस लोगों ने कहना शुरू किया कितने मूर्ख हैं। ये ! गधा साथ है फिर भी पैदल ही घिसटते आ रहे हैं।

तंग आकर दोनों एक साथ सवार हो गये तो चर्चा होने लगी— 'भई ! घोर कलियुग आ गया है। संसार में दया-धर्म का तो कहीं नाम ही नहीं रहा। मूक जीव पर एक साथ दो मुस्टंडे चढ़े बैठे हैं।

अब की बार बाप-बेटे में गंभीर मंत्रणा हुई। गधे को बाँध कर बाँस पर लटकाया और ले चले। कुछ ही दूर गए होंगे कि फिर सुनाई पड़ा—लो। इन्होंने तो बैलियों को भी मात दिया। ऐसी भी क्या जीव-दया जो गधे को कंधे पर उठाए आ रहे हैं !

ज्यों ही आगे बढ़े, पुल पर से गुजरे और लोगों ने हँसी में तालियाँ बजाई कि गधा लातें चलाने लगा। आखिर थम न सका, नदी मे गिरा और बह गया।

यह स्थिति होती है, जन-मत का जरूरत से ज्यादा भरोसा करने पर। अन्ततो गत्वा गधे से भी हाथ धोना पड़ा। मिला कुछ नहीं, जो कुछ पास था वह भी गया। मनुष्य को कुछ अपनी बुद्धि और स्थिति से भी काम लेना चाहिए कि उसे क्या पसन्द है और उसकी अपनी क्या आवश्यकता है ?
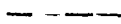
सत्संग का महत्त्व

शेखशादी ने एक जगह कहा है—

"मैंने मिट्टी के एक ढेले से पूछा कि तू तो मिट्टी है, तुझ में इतनी सुगन्ध कहाँ से आ गई ?"

उस ने उत्तर दिया—यह सुगन्ध मेरी अपनी नहीं है। मैं केवल कुछ समय तक गुलाब की एक क्यारी में रहा था, उसी का यह प्रभाव है।"

सचमुच अच्छे सग की महिमा ऐसी ही है!

चीनी डाक्टर

चीन में एक विदेशी यात्री ने—एक घर पर बहुत-से दीपक जलते देखे। उसे कौतूहल हुआ कि बिना किसी त्योहार-त्योहार के इसी एक घर पर इतने दीपक क्यों जल रहे हैं?

उसने किसी से पूछा—"इस घर पर इतने दीपक क्यों जल रहे हैं?"

जवाब मिला— 'यह यहाँ के मशहूर डाक्टर का घर है।

फिर पूछा— 'क्या यहाँ सब डाक्टरों के घर पर इसी तरह दीपक जलते रहते हैं?

"नहीं जी और डाक्टरों के घर इतने दीपक नहीं मिलेंगे। यहाँ का यह रिवाज है कि जिस डाक्टर के हाथ के नीचे रोगी मरता है, उसके घर की छत पर तीन दिन तक उस रोगी के नाम का दीया जलता है। यहाँ के सब से बड़े और प्रसिद्ध डाक्टर होने की वजह से दूर-दूर से इनके यहाँ बेशुमार रोगी आते हैं और स्वभावतः इनके यहाँ मरने वालों की तादाद भी अधिक रहती है। इसीलिये इन डाक्टर साहब की छत हमेशा दीपकों से जगमगाती रहती है।"

यात्री ने पूछा —"इतने आदमी इनके हाथ से मरते हैं, यह प्रत्यक्ष देखते हुए भी लोगों की श्रद्धा इन पर से हटती नहीं है?"

जवाब मिला, "यही तो तमाशा है भाई, लोग देखकर भी नहीं देखते। लोग सोचते हैं कि महीने में हजारों आते हैं और मरते तो सौ दो-सौ ही हैं। मरने वाले अपनी क़िस्मत से मरते हैं, उनका डाक्टर क्या करे? जो बच जाते हैं, वे डाक्टर की दवा से बचते हैं। आने वाले हजार मे अगर नौसौ बचे तो यह मान लिया जाता है—डाक्टर ने सौ को मरने दिया, और नौसौ को तो बचा लिया।"

———

अन्धे की क्षमा का प्रभाव

आने जाने वाले आदमियों का क्या ठिकाना, बाजार में बडी ही भीड थी। एक आदमी का पैर भीड मे कुचला गया बस, वह आवेश मे आ गया और उसने कुचलने वाले के मुंह पर एक जोर का थप्पड़ जड दिया।

थप्पड खाने वाले ने हाथ जोड कर बहुत नम्रता से कहा—"महाशय! आपको यह जान कर दुःख होगा कि मैं अन्धा हूँ।"

थप्पड मारने वाला पानी पानी हो गया। अंधे के पैरों में गिरकर क्षमा माँगने लगा। यह है शान्ति रखने का विलक्षण प्रभाव।

———

विपत्ति अनाम सम्पत्ति !

अवन्ती के नगर-सेठ दोंता एक बार घबराये हुए राजा विक्रमादित्य के पास पहुँचे और कहने लगे— 'महाराज ! आज रात का मैं बड़ी ही भयंकर दुर्घटना का शिकार हो जाता आप की कृपा से ही बचा हूँ अन्यथा और नहीं तो दब कर मर जाता। बात यह हुई कि अपने नये बनाये महल में कल प्रथम दिन मैंने बड़े समारोह के साथ मंगल-मुहूर्त में प्रवेश किया था। किन्तु मध्य रात्रि के समय जब मैं अर्ध जाग्रत स्थिति में सोया हुआ था तो अचानक आवाज आई कि 'मैं गिरता हूँ, मैं भय से अवसन्न हो गया और 'मत गिरो-मत-गिरो कहता हुआ बाहर भाग आया। मुझे समझ नहीं पड़ता यह क्या बात है !

राजा विक्रमादित्य ने वह रात सेठ के महल मे गुजारी। ज्यों ही अर्ध रात्रि में आवाज आई—'मैं गिरता हूँ' तो राजा ने निर्भयता से कहा— 'अरे गिरते हो तो जल्दी गिरो, देर क्यों करते हो ?" यह कहते ही सुवर्ण पुरुष (सोने का पोरसा) राजा के चरणों मे आ गिरा।

विपत्ति से डरो मत। उसे साहस के साथ निमंत्रण दोगे तो विपत्ति के बदले मैं संपत्ति का ही उपहार प्राप्त होगा।

बर्तनों के बच्चे !

एक सेठजी के पड़ौस में एक जाट रहता था। जाट ने एक दिन सेठजी से एक रात के लिये थाली, लोटा और कटोरी उधार माँगे।

सेठजी ने कहा—"बर्तनों की क्या ज़रूरत है? कहीं बर्तन भी उधार दिये जाते हैं?"

जाट ने कहा '—मेरे मेहमान आये हैं। बर्तनों की कमी है। रात-भर मेहमान रहेंगे। सुबह बर्तन लौटा जाऊँगा।'

सेठजी ने अनमन होकर बर्तन दे दिये।

अगले दिन जाट थाली, लोटा और कटोरी के अलावा एक छोटा थाली, एक छोटा लोटा और एक छोटी कटोरी भी लाया।

सेठजी ने कहा,—मेरे बर्तनों के साथ तुम और बर्तन क्यों लाये?'

जाट ने कहा,—सेठजी ये बर्तन मेरे नहीं हैं।'

सेठजी ने कहा,—तो मेरे भी नहीं हैं।'

जाटने कहा,—'आपके बर्तनों ने रात मे बच्चे दिये होंगे। इसलिए वे आपके हैं। आप उन्हें ले लें।'

सेठजी ने बड़ी खुशी के साथ बर्तन रख लिये।

कुछ दिनों बाद वह जाट सेठजी के पास फिर आया और बोला, 'सेठजी मुझे रात-भर के लिए पचास बर्तनों की आवश्यकता है। लड़की की ससुराल से काफी आदमी आ गये हैं।'

सेठजी ने बर्तन दे दिए और अगले दिन जाट ४० बर्तनों के साथ ५ और बर्तन लाया और कहने लगा 'सेठजी आप के बर्तन तो बच्चे देते हैं।

सेठजी ने बड़ी खुशी से बर्तन रख लिए और मन ही मन कहने लगे क्या उल्लू फँसा है।

कुछ महीनों बाद जाट घबराया हुआ सेठजी के पास आया और कहने लगा सेठजी! मेरी इज्जत आपके हाथों है। जाटों के राजा आये हैं। उनके साथ उनके दरबारी भी हैं। सो आप सात चाँदी के सौ बर्तन दे दें और नौकरों के लिए सौ पीतल के बर्तन। परसों आप को लौटा जाऊँगा।

सेठजी ने बड़ी खुशी से बर्तन दे दिए और इस आशा में थे बड़े प्रसन्न थे कि उनके बर्तनों के साथ बच्चे भी आयेंगे।

तीसरे दिन जाट सेठजी के पास मुँह लटकाये मूँछें और सिर मुँड़ाये आया और गिड़गिड़ा कर बोला —"सेठजी जुल्म होगया। आप के सब बर्तन मर गये। मैं क्रिया-कर्म करके आया हूँ। मूँछें और सिर भी मुँड़ा आया हूँ।"

सेठजी ने बिगड़ कर कहा —अरे क्या बकता है? मेरे हजारों रुपयों पर तूने पानी फेर दिया। कहीं बर्तन भी मरा करते हैं?

जाट ने गँवार हो कर कहा —सेठजी मैं क्या करूँ? जब आप इस बात को मानते हैं कि बर्तन बच्चे देते हैं। जो बर्तन बच्चे दे सकते हैं, वे मर भी सकते हैं। इस में आश्चर्य की क्या बात है?

लोभी सेठ हाथ मलता रह गया।

सास की सेवा

एक गाँव मे माँ, बेटा और पतोहू (पुत्र-वधु) तीनों एक घर में रहते थे। पतोहू जरा खचड़े स्वभाव की थी, सास को दु खित रखती। पति, स्त्री को डाँट-डाँट कर बेहया न बनाकर कुशलता से समझाने के किसी अच्छे मौक़े की तलाश में था। वह न माँ का पक्ष लेता, न स्त्री का। अपने को इन दोनों के झगडे से प्राय अलग रखता था।

स्त्री अपनी सास को टूटे कठवत (कठुए) में खाना दिया करती थी। सयोग वश, एक दिन माँ के हाथ से कठवत गिर कर दो टुकडे हो गया। बेटे ने माँ को डाँटा। लडके की इस हरकत से उसे अचभा हुआ। वह बोली 'बेटा ऐसा क्या अपराध हो गया। इस कठवतिया के टूटने में,यह तो पहले से ही "चिरोई हुई थी। दो पैसे का कठवत टूटने पर इतनी नाराजगी ?"

बहू भी सुन रही थी, उसे भी अपने पति की माँ के प्रति डाँट पर ताज्जुब था। मन में जरा खुश भी थी कि सास की कहा-सुनी हो रहा है। बेटे ने कहा—"माँ, कठवत के टूटने से मेरी नाराजगी का काई सम्बन्ध नहीं है। मुझे तो बुरा लगा कि तुमने कठवत नहीं, एक परम्परा तोड दी।" माँ ने पूछा—कैसे ? वह बोला—"तुम्हें तुम्हारी बहू टूटे कठतव में खाना देती है तो परम्परया जब इसकी बहू आवेगी तो इसे भी टूटे कठवत में खाना देगी। उसके आने तक यह टूटा कठवत घर में मौजूद रहना चाहिए था, जिसमे वह सारी परम्परा देख समझले कि साम के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है ?"

पति की इस गहरी चोट ने पत्नी को होश में ला दिया। तब से सास के प्रति उसका सारा व्यवहार बदल गया। अब तो सास की वह सेवा होने लगी कि सारा मुहल्ला वाह-वाह करने लगा।

स्वराज्य का उपहास

सन् १६२ में दिल्ली के दैनिक पत्र मे 'हास-परिहास' स्तम्भ में लिखा था कि एक सज्जन बिना टिकट सफर कर रहे थे। टिकट चैकर ने उन्हें पकड़ा तो बोले—"और कुछ दिन तुम तंग कर लो। अब स्वराज्य मिलने वाला है फिर तो जहाँ चाहेंगे बिना टिकट घूमा करेंगे।

स्वराज्य से पहले वह परिहास था और अब ? अब यह सत्य हो गया है। स्वराज्य क्या मिला जनता का विवेक ही भ्रष्ट हो गया। अधिकार की मारा-मारी है, अधिकार के साथ उत्तरदायित्व भी कुछ है, इसका कोई भान भी नहीं रहा।

यह कलियुग है !

किसी शहर का एक छोटा सा व्यापारी अपने व्यापार के लिए आस पास के छोटे-छोटे गाँवों मे फेरी लगाया करता था। साथ मे रसोई बनाने का सामान भी रखता था।

एक बार वह किसी गॉव मे पहुँचा तो उसे तो अवकाश नहीं था कि भोजन बनाने की झंझट में पडे। अत वह गाँव की एक गरीब बुढिया के पास पहुँचा और दो व्यक्तियों के भोजन का सामान देकर अपने डेरे पर काम करने चला आया। उसने सोच लिया था कि मुझे बनी-बनाई रोटी खाने को मिल जायगी और बुढिया भी मेहनत के बदले में कुछ खा लेगी।

बुढिया रोटी बनाने बैठी थी कि उसका लड़का आ पहुँचा। वह दो दिन का भूखा था। बुढिया ने सारा भोजन अपने बेटे को खिला दिया।

एक घण्टे बाद वह व्यापारी भोजन करने आया। 'माँ जी, भोजन तैयार है ?' 'हाँ, बेटा भोजन तैयार है।' व्यापारी थाली लेकर बैठा तो बुढिया ने छींके से उतार कर पहले दिन की बासी रूखी-सूखी रोटियाँ परोस दीं। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि "वह तो उसे ताजी रोटी बनाने के लिए सामान देकर गया था किन्तु ये रोटियाँ बासी कैसे हैं ?"

पूछने पर बुढ़िया ने उत्तर दिया—"बेटा यह कलियुग है। इसमें ऐसा ही हो जाता है। तू जानता नहीं समय बड़ा खराब आ गया है।

व्यापारी जरा चतुर था। उसने कहा— 'माँजी सचमुच समय बड़ा खराब है। क्या किया जाय, कलियुग जो ठहरा। पर मुझ से ये रोटियाँ यों तो खाई न जायेंगी। कोई हो तो छोटा-सा गिलास दे दीजिए, ताकि थोड़ा-सा दूध ही ले आऊँ।"

बुढ़िया झाबज में आ गई। उसने एक बड़ा पीतल का गंज लाकर उसके हाथ में थमा दिया। सोचा—बड़ा बरतन देने से दूध कुछ ज्यादा आयगा ताकि बचा हुआ मेरे भी काम आ जायगा।

वह दूध वाले के यहाँ पहुँचा। पूछा— "क्यों भाई दूध का क्या भाव है ?" उत्तर मिला—"रुपये का दो सेर।" व्यापारी ने कहा— भाई रुपया तो मेरे पास है नहीं। ऐसा करो रुपये के बदले में यह गंज ले लो। आठ आने का सेर भर दूध अपनी मिट्टी की हंडिया में दे दो और आठ आने वापस लौटा दो।"

घर पहुँचने पर बुढ़िया ने जो देखा तो आश्चर्य में पड़ गई।

'बेटा गंज तो तुम पीतल का ले गए थे यह मिट्टी का कैसे आया ?

'माँ जी ले तो मैं पीतल का गंज ही गया था पर हो गया यह मिट्टी का। मैं क्या करूँ कलियुग जो ठहरा।"

दोनों ने एक दूसरे को समझ लिया और कलियुग समाप्त हो गया।

बुद्धि का चमत्कार

एक विद्यार्थी ने अपने युग के एक महान् ख्याति प्राप्त चित्रकार से पूछा—' महाशय ! आप रंग किस चीज से मिलाते हैं ? आपके रंग बड़े ही सुन्दर होते हैं।"

चित्रकार ने सहज भाव में उत्तर मिला—"बुद्धि से।'

वस्तुत जीवनक्षेत्र में प्रत्येक काम करने से पहले मनुष्य को बुद्धि की अपेक्षा है। बुद्धि ही कृति में सुन्दरता लाती है।

भारत का अपमान

एक भारतीय युवक विद्यार्थी यूरुप की किसी लायब्रेरी में पहले-पहल गया और वहाँ किसी पुस्तक से एक सुन्दर चित्र निकाल लाया।

दूसरे दिन ही बोर्ड लगा दिया गया—"भारतीयों का प्रवेश निषिद्ध है। एक मूर्ख लालची की अप्रामाणिकता से समस्त देश का गौरव मिट्टी में मिल गया !

अध्ययन बड़ा या अनुभव

एक राजकुमार जो वर्षों के सतत अभ्यास के बाद ज्योतिष शास्त्र की विद्या में पारंगत हो चुका था, अपने पिता के सामने परीक्षा देने बैठा।—पिता ने मुट्ठी में कुछ दबा रखा था, पूछा—"बताओ मेरी मुट्ठी में क्या है?"

राजकुमार ने लंबी गणित करने के बाद उत्तर दिया—"आपकी मुट्ठी में जो चीज है वह गोलाकार है और उस में पत्थर जड़ा हुआ है।"

"हाँ ठीक है, पर बताइए क्या चीज है?"—राजा ने चीज का नाम जानना चाहा।

राजकुमार ने बहुत सोचा, कुछ ध्यान में न आया। ज्योतिष शास्त्र इतनी दूर तक तो ले आया था, परन्तु आगे तो अपने अनुभव और प्रतिभा को ही दौड़ लगानी थी। और वह राजकुमार में थी नहीं। बोला—"बताऊँ, चक्की का पाट है।"

अँगूठी को चक्की का पाट बताने वाला राजकुमार क्यों हँसी का पात्र हुआ? उस में यह तर्क बुद्धि न थी कि चक्की का पाट मुट्ठी में रह कैसे सकता है? शास्त्राध्ययन के साथ प्रतिभा का स्वतन्त्र विकास भी आवश्यक है।

—————

मे गायो को घास डलवाई जा रही है !! धर्म के आवरण में अधर्म को ढापने की कैसी दुस्साहसिकता है !!! मैं पूछता हूँ कि मदिर मे घी के दीपक तो जलेगे, किन्तु किस के द्वारा ? उनसे ही तो जलेगे, जिनका मनमाना शोषण किया जा रहा है ? इस प्रकार के दीपको में घी नही, बल्कि भूखो की चर्बी जला करती है ।

व्यापारी वर्ग ससार मे इसलिए नही आया कि अर्थ-पिपासा-पूर्ति के लिए वह निरीह जनता का शोषण करे ! पर आज तो यही हो रहा है । सेठजी की कोठी से सडक पर जूठन का पानी डाला जाता है और उस जूठन मे मिले हुए चावलो के कणो को उठाने के लिए भूखे और गरीब, कुत्तो की तरह उन पर झपटते हैं । यह सारी स्थिति वे अपनी आँखो से देखते हैं, फिर भी उन्हे तरस नही आता । वे अपने हिसाब में मस्त रहते हैं—दो लाख से पाँच लाख हो गए, और पांच लाख से दस लाख हो गए । मन्दिर मे तो घी के दीपक जलाते हैं, किन्तु किसी भूखे को अन्न का दाना भी नही दिया जाता ।

ठीक है, व्यापारी जब व्यापार करता है तो धन का सग्रह भी उसके पास होगा ही । परन्तु आचार्यो ने कहा है —

"शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सकिर ।"

"तू सौ हाथो से बटोर और हजार हाथो से बिखेर" , अर्थात्—सग्रह करने की जो शक्ति तुम मे है, उससे दस गुनी शक्ति उस सम्पत्ति को बाँटने की होनी चाहिए । जब सौ

हाथों से कमाने की शक्ति है तो हजार हाथों से बांटने की शक्ति भी प्राप्त कर।

जब इस प्रकार लक्ष्य नहीं लिया जाता है और स्वार्थ ही जीवन का एकमात्र केन्द्रबिन्दु बन जाता है तो वहाँ सामाजिक हिंसा आ जाती है।

चौथा वर्ण शूद्रों का है। उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से मानी गई है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि आज तो 'शूद्र' शब्द घृणा और तिरस्कार का पर्यायवाची-सा बन गया है। शूद्र का नाम लिया कि लोगों की त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं और अपने आपको ऊँचा मानने वाले लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं। आप समाज-सेवा के अपने पवित्र दायित्व को भुलाकर सिर्फ व्यक्तिगत लाभ के लिए काम करते हैं जब कि अधिकांश शूद्र आज भी समाज-सेवा का कठिन उत्तरदायित्व सेवा के लिये ही वहन कर रहे हैं। किन्तु जब वे इन्सान की तरह आपके पास बैठना चाहते हैं तो आप उन्हें पास बैठाना भी नहीं चाहते। यह कितने आश्चर्य की बात है!

आपकी मोटरों में कुत्ते और बिल्ली को तो जगह मिल सकती है। आपकी गोद में कुत्ते को स्नेहपूर्ण स्थान मिल सकता है। बिल्ली भले ही कितने चूहों को मार कर आई हो पर वह आपके चौके के कोने-कोने में बेरोक टोक चक्कर लगा सकती है और आप उसे प्यार भी कर सकते हैं किन्तु मानव-देहधारी शूद्र को यह हक हासिल नहीं है! इन्सान को इन्सान के पास बैठने का भी हक नहीं है! पास बैठने का हक देते हैं या

नही उसका फैसला बाद मे करेंगे, किन्तु आप तो धर्मस्थान मे भी उसे प्रवेश नही करने देते ! जब ऐसी विषमता है तो मै सोचता हूँ कि इससे बढकर और क्या सामाजिक हिंसा होगी कि एक ओर तो आप अपनी पवित्रता का ढोल पीटते रहे और दूसरी ओर दूसरो की छायामात्र से भी नफरत करते जायें।

एक जगह एक हरिजन भाई आता है और बडे प्रेम से उच्च विचार लेकर आता है। उसने माँस खाना और मदिरा पीना छोड दिया है। वह जैन-धर्मानुसार अष्टमी और चतुर्दशी का व्रत भी करता है। आपके धार्मिक जीवन की प्रमुख क्रियाएँ—'सामायिक' और 'पौषध' भी वह करता है। सन्तो के दर्शन भी करता है। परन्तु जब वह व्याख्यान सुनने आता है तो उसे निर्देश दिया जाता है—'नीचे बैठकर सुनो।'

वह बेचारा नीचे बैठकर सुनता है और आप चौक की ऊँचाई पर बैठ जाते है। अब इसमे अन्तर क्या पडा ? जो हवा उसे छूकर आरही है वह आपको भी लग रही है। तो अब आप ईश्वर के दरबार मे फरियाद ले जाइए कि हवा हमें भ्रष्ट कर रही है अत उसे इधर बहने से रोक दीजिए ! सूर्य का भी जो प्रकाश उस पर पड रहा है, वही आप पर भी पड रहा है ! सन्त की जो वाणी उसके कानो में पड रही है, वही आपके कानो मे भी पड रही है ! शास्त्र का जो पाठ बोला जा रहा है वह इतना पवित्र है कि जिसकी कोई सीमा नही है। तो उस पाठ की पवित्र ध्वनि को आप

अपने ही कानों में सुरक्षित रख लीजिए। दीवार खींच दीजिए, जिससे कि वह उद्घोष उसके कानों में पड़ कर अपवित्र न हो जाए। भला यह भी कोई युक्ति सगत बात है कि एक वर्ग अपनी मनमानी विशिष्टता को प्रदर्शित करने के लिए दूसरे वर्ग के समान अधिकारों पर अवाछनीय प्रतिबन्ध लगाए और सामाजिक नियमों का दुस्साहस के साथ उल्लघन करे।

इस अशोभनीय दृश्य को देखकर मैंने प्रयत्न किया कि उस हरिजन भाई को भी सर्वसाधारण के साथ ही बैठने की जगह मिल जाय। वस्तुत यह तो भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का अपमान है कि एक हरिजन तो जूतियों में बैठकर सुने और आप अपनी मनमानी विशिष्टता के कारण दरियों पर बैठकर सुनें। मेरी चेतावनी पर उन भाइयों म चेतना जागृत हुई और उन्होंने भगवान् महावीर की वाणी का आदर करके उस हरिजन बन्धु को दरी पर बिठलाना शुरू किया। फिर भी कुछ भाई तो ऐसे ही थे जो उसे दरी पर बैठा देख स्वय नीचे बैठते थे और नीचे बैठे-बैठे ही व्याख्यान सुनते थे। इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। यदि आज नहीं तो कल वे पूरी तरह समझ जाएँगे।

आज के इस प्रगतिवादी युग में भी ऐसे सकीर्ण लोग देखे गए हैं कि यदि हरिजन आया और सन्त के पैर छू गया तो फिर वे दूर खड़े खड़े ही वन्दना कर लेते है और साधु के चरण नहीं छूएँगे क्योंकि वे चरण अछूत जो हो गए है। किन्तु इसी बीच यदि कोई दूसरा आ गया और उसने चरण छू लिए तो वे सेठजी आए और उन्हीं चरणों को छू गए।

वोच मे दूसरे के छूने से शायद उनकी अछूत उतर गई और अव वे चरण छूने योग्य हो गए !

आज का मानव अपने मन की सकीर्णता मे कितना बुरी तरह उलझा हुआ है ? भगवान् महावीर ने अपने युग मे इस मानसिक सकीर्णता को सुलझाया था किन्तु वह पूरी तरह नही सुलझ पाई। उनके वाद ढाई हजार वर्ष की लम्बी परम्परा गुजरी और आचार्यो ने समय-समय पर अस्पृश्यता का तीव्र विरोध भी किया, फिर भी वह उलझन आज तक भी वनी हुई है। दुर्भाग्य से कई ऐसे भी साधु आए, कि जिन्होने जनता की रूढिवादी आवाज में आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन देने लगे। जिसके लिए जैन सस्कृति को एक दिन घोर सघर्ष करना पडा था, जिसके लिए नास्तिकता का उपालम्भ तक भी सहना पडा था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र सस्कृति घृणित अस्पृश्यता-वाद के दलदल मे फँस गई। यहाँ तक कि अस्पृश्यता के पक्ष मे शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि वह ऊँचा है, वह नीचा है और जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मो का फल भोग रहा है। किन्तु शास्त्र ने तो आरम्भ मे ही इतनी वडी वात कह दी थी कि—

"मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।" अर्थात्—सव मनुष्यो की जाति 'एक' ही है। मनुष्यो मे दो जातियाँ हैं ही नही। फिर भी सकीर्णतावश उसमे उच्चता और नीचता खोजी जाने लगी। इस वर्ग-भेद ने अखण्ड मानव परिवार को विभिन्न टुकडो मे बाँट दिया और जातिमद ऐसा चढा कि शास्त्रो की पवित्र आवाज क्षीण हो गई। हमने वास्त-

विकृता को भुला दिया और मनुष्य अपने मिथ्याभिमान के कारण दूसरे मनुष्य का अपमान करने को उतारू हो गया ।

एक हरिजन भाई पवित्र विचारों का अनुयायी हो चुका है । वह भगवान् महावीर के उपदेशों को स्वीकार कर चुका है उसके हृदय में जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा और अटूट प्रीति है फिर भी आप उसकी कोई परवाह नहीं करते और इन्सान की तरह बैठने का हक भी उसे नहीं देना चाहते । क्या यही आपका धर्म-वात्सल्य है ? भगवान् महावीर ने आपको सहधर्मी के साथ क्या ऐसा ही व्यवहार करना सिखाया था ? जब आप सहधर्मी के प्रति ऐसा व्यवहार कर सकते हैं तो फिर दूसरों के साथ आप कटु व्यवहार क्यों न करेंगे ?

उत्तर प्रदेश में पहले ओसवाल और अग्रवाल एक दूसरे के यहाँ भोजन नहीं करते थे । समय और समझ के प्रभाव से अब कुछ ठीक-ठीक समझौता होता आ रहा है । यह संक्रामक रोग तो यहाँ तक फैला हुआ है कि ओसवालों और अग्रवालों में भी अनेक टुकड़े हो गए और वे मूलतः एक वर्ग के होते हुए भी एक-दूसरे उप वर्ग के हाथ का भोजन नहीं करते ।

हमारी मध्यकालीन संस्कृति में कुछ ऐसी जड़ता आ गई थी कि वह सब जगह से हटकर एकमात्र चौके में बंद हो गई । लोग न जाने कैसे समझ बैठे कि अमुक का छुआ खा लिया तो धर्म चला जायगा ।

एक ओर अद्वैत के उपासक उद्घोषक तथा बड़े-बड़े

आचार्य वेदान्त के सूत्र भी जनता के सामने लाते रहे कि सारा ससार पर-ब्रह्म का ही रूप है—'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या।' अर्थात्–"एक ब्रह्म ही सत्य है और ससार के अन्य सब रूप मिथ्या हैं।" दूसरी ओर अछूत की छाया मात्र से उनका ईश्वर और धर्म भागता है।

वेदान्त तो यह कहता है–पानी भरे हजार घडे रखे हैं। उनमे कुछ सोने के है, कुछ चाँदी के हैं, कुछ पीतल और ताँबे के हैं और कुछ मिट्टी के हैं। परन्तु उन सब मे चन्द्रमा का प्रतिविम्ब एक समान ही पडता है। इसी प्रकार ससार के सारे पदार्थों मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब समान रूप से पड रहा है।

हमारे साथी कितने प्रगतिवादी हैं। जब कभी वे धर्म-सम्बन्धी बाते करते हैं और उमङ्ग में आते हैं तो ऐसा मालूम पडता है कि सच्चा ब्रह्म-ज्ञान इन्ही को मिल गया है और वे हिमालय के ऊपर बैठ गए है। किन्तु जब खान-पान की बात सामने आती है तो उनका ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौन-सी कन्दरा में छिप जाता है ? उस समय ऐसा लगता है, मानो उनकी एक टाँग हिमालय की ऊँची चोटी पर है और दूसरी पाताल लोक के अतल गह्वर मे। वास्तविक प्रगति की ऐसी स्थिति नही होती। जीवन इस तरह प्रगति नही कर सकता।

इस प्रकार एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक समूह का दूसरे समूह पर घृणा-द्वेष प्रदर्शित करना, सामाजिक हिंसा है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज बहुतेरे लोग

सामाजिक हिंसा को पाप या अधर्म नहीं बल्कि धर्म मानते हैं। गृहस्थों की तो बात दूर रही साधु-समाज भी इस सामाजिक अपवाद से अछूता नहीं रहा है। उनकी गोचरी के विषय में भी यह खटराग चल रहा है। शास्त्रों की दिव्य सूचनाएं हमे प्रकाश पर प्रकाश दे रही हैं फिर भी आज समाज कल्पित मान्यताओं के अन्धकार मे बुरी तरह भटका हुआ है।

मेरे एक ब्राह्मण भक्त हैं। वे मिल मालिक भी हैं। पहले वे जैन-धर्म के कट्टर विरोधी समझे जाते थे किन्तु जब वे मेरे सम्पर्क मे आए तो उनका वह विरोध नहीं रहा। कार्यक्रम के अनुसार मैं जहाँ कहीं होता हूं बहुधा वे भेंट के लिये आया करते हैं। जब वे एक बार बिहार प्रान्त से लौटकर आए तो बोले— महाराज धर्म का तो नाश हो गया। धर्म नाम का कोई चिन्ह अब रहा ही नहीं।

मैने पूछा—क्या बात हुई ?

वे बोले—कुछ पूछिए ही नहीं! स्टेशन पर मैंने पानी माँगा तो पानीवाले ने कहा—लीजिए! मैंने पूछा—कैसा पानी है? तब उसने कहा—पीने का साफ पानी है। मैंने फिर पूछा—अरे भाई साफ तो है, पर है कैसा? वह बोला—ठंडा है साहब! विवश होकर मुझे पूछना ही पड़ा—किसका पानी है? उसने धीरे से कह दिया कि कुएं का है और ताजा है। फिर मुझे साफ शब्दों में कहना ही पड़ा—मैंने कुएँ या तालाब का नहीं पूछा है—मैं पूछता हूँ कि यह पानी हिन्दू का है

या मुसलमान का ? तब वह बोला—पानी कौन होता है साहब ? पानी न तो हिन्दू होता है और न मुसलमान ही, पानी तो पानी है। अतएव आप यह पूछ सकते हैं कि पानी नदी का है, तालाब का है या कुँए का ? ठडा है या गरम है ? साफ है या गन्दा है ? किन्तु पानी न तो हिन्दू है और न मुसलमान।" तो महाराज, जब उसने यह कहा तो मैंने पानी लिया ही नही। दो, चार स्टेशनो तक मैं प्यासा ही रहा। आखिर कब तक प्यासा रहता ? जब नही रहा गया तो अन्तत वह पानी पीना ही पडा।

मैंने उन सज्जन से पूछा—अब क्या करेंगे ?

वे बोले—गङ्गाजी जाएँगे और स्नान करके शुद्ध हो जाएँगे।

मैंने कहा—गङ्गाजी जाने से क्या होगा ? वह पानी तो अन्दर चला गया और पेशाब के द्वारा बाहर भी निकल गया और आपकी मान्यता के अनुसार तो सस्कार चिपक ही गये हैं। फिर आप क्या करेंगे ? और भाई, इस जमीन पर चलना कब छोडेगे, क्योकि इसी पर शूद्र भी चला करते हैं ? शूद्रो की चली जमीन पर चलने से भी तो बुरे सस्कार चिपक जाते हैं न ?

जब उन्हे विचार आया तो गम्भीर भाव से बोले—क्या वे पुरानी परम्पराएँ गलत थी ? मैंने कहा—हाँ, ऐसी परम्पराएँ निस्सन्देह गलत और निराधार हैं।

अपनी गलतियो को, चाहे वे एक हो या हजार, सब के सामने हम स्पष्टत स्वीकार करेंगे। दुर्भाग्यवश

साधुओं में भी यह मानसिक दुर्बलता है जो उन्हें आगे नहीं बढ़ने देती। गृहस्थों को मान्यतियाँ और पूर्से उन्हें भी तंग कर रही हैं। इस तरह समाज विभिन्न टुकड़ों में बँट जाता है और परिणाम यह होता है कि हम अनेक बार धर्म-स्नेहियों का भी यथोचित आदर नहीं कर पाते। कई वर्ग हो जाते हैं वे मांस और शराब को हाथ तक नहीं लगाते। हमारे प्रत्येक धार्मिक आयोजन में भी शामिल होते हैं फिर भी उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता। यहाँ तक कि पानी और रोटी का भी सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी हम जैन धर्म के विश्वधर्म होने का दावा करते हैं और गर्व के साथ कहते हैं कि नरक में स्वर्ग में और तिर्यञ्च योनि में भी सम्यक्त्वी भाई हैं, जो जिन-धर्म का पालन कर रहे हैं।

एक ओर तो हमारा यह सांस्कृतिक सौहार्द एवं व्यापक दृष्टिकोण है और दूसरी ओर हमारा यह संकीर्ण मनोभाव और क्षुद्र व्यवहार है। क्या दोनों में अणुमात्र भी सामञ्जस्य है? नरक और स्वर्ग के धर्मात्माओं को स्वधर्मी भाइयों की बात करने वाले अपनी ही बगल में बैठे इन्सान को जोकि धर्माराधन कर रहा है अपनाने में ही हिचक जाते हैं। अरे उसको तो स्वधर्मी बन्धु के रूप में गले लगाना चाहिए। यदि आपके हृदय में उसके प्रति अणुमात्र भी प्रेम नहीं जगा अपितु उसे दुरदुराते हो रहे तो समझना चाहिए कि आपके हृदय में अभी तक धर्म के प्रति सच्चा प्रेम जागृत नहीं हुआ है। जो धर्म से प्रेम करता है वही

सच्चा धर्मनिष्ठ है और वह धर्मात्माओ से प्रेम किये विना कभी नही रह सकता।

इस प्रसग पर मुझे बुद्ध के एक शिष्य 'आनन्द' की वात याद आती है। 'आनन्द' किसी गाँव मे गए तो उन्हे प्यास लग आई। उन्होने देखा कि एक वालिका कुँए पर पानी भर रही है। वे उसके पास पहुँचे और बोले—"वहिन, पानी पिला दो।"

वालिका ने कहा—मैं चाण्डाल की कन्या हूँ।
उस वालिका के इस स्पष्ट कथन के उत्तर मे आनन्द ने वहुत ही सुन्दर वात कही है। इतनी सुन्दर और आदर्शयुक्त कि २५०० वर्षो मे फिर कभी वैसी वात सुनने को नहीं मिली। 'आनन्द' ने अपने स्वाभाविक सहज भाव से कहा—"बहिन, मैने जात तो नही माँगी। केवल पानी माँगा है। मुझे तुम्हारी जात नही पीना है, पानी पीना है।" आनन्द के इस आदर्शपूर्ण स्पष्टीकरण से शूद्र वालिका का जाति-सकोच विलीन हो गया और उसने पानी पिला दिया।

आनन्द ने आनन्द पूर्वक पानी पिया। शूद्र वालिका सोचने लगी—भारतवर्ष में क्या अब भी ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जो जाति नही, पानी पूछते है। और तव उस वालिका ने साहस के साथ पूछा 'क्या भूतल पर कोई ऐसी जगह भी है, जहाँ हम भी दूसरो की भाँति बैठकर अपना जीवन प्रशस्त कर सकें?'

आनन्द ने कहा—क्यो नही? सम्पूर्ण भूमडल पर प्रत्येक जाति और वर्ण का समान अधिकार है। जहाँ

एक ब्राह्मण आ सकता है वहां तुम भी पहुँच सकती हो। बुद्ध के समवसरण मे जितना आदर एक ब्राह्मण को मिलता है उतना ही चाण्डाल को भी मिलेगा।

अन्त मे चाण्डाल कन्या बुद्ध की शरण मे जाती है और साध्वी बन जाती है।

जब ऐसी आदर्श बातें आती हैं तो निस्सन्देह हृदय गद्गद हो जाता है। हम अपने जैन-संघ की गौरव-गाथाएँ भी सुनते हैं और जानते हैं कि उसने भी कितना उदार एव व्यापक दृष्टिकोण अपनाया था। महात्मा हरिकेशबल और मुनिवर मेतार्य की कथाएं जैन धर्म और जैन-संघ की अति महान् उज्ज्वल कथाएँ हैं जो हमें आज भी प्रकाश दे रही हैं। किन्तु दुर्भाग्य से हमने अपनी आँखें मूँद ली हैं और कूपमण्डूक की भाँति हम अन्धकार मे ही अपना कल्याण खोज रहे हैं। हमने अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर कभी नजर नहीं डाली। जिसका दुखद परिणाम यह हुआ कि हम सामाजिक हिंसा से आज भी हम चिपके हुए हैं। समय और परिस्थितियो के परिवर्तन ने अब हमारे सामने गहराई से सोचने और समझने का सुअवसर प्रदान किया है। जिसका सदुपयोग इस रूप में करना है कि हम सत्य के दिव्य प्रकाश मे प्रचलित सामाजिक परम्पराओं को देखे उनकी सत्-परीक्षा करें और उन के अभिशाप सामाजिक हिंसा से बचने की भरसक चेष्टा करें।

— २ —

जातिवाद का भूत

यह पहले ही वतलाया जा चुका है कि जीवन मे हिसा का रूप एक नही है। वह सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा अन्य क्षेत्रो मे विभिन्न रूपो मे चल रही है। अतएव जहाँ कही और जिस किसी भी रूप मे हिंसा हो रही है, उसे वहाँ उसी रूप मे समझने की आवश्यकता है। इसके विना अहिंसा के राज-मार्ग पर ठीक तरह नही चला जा सकता। अपने वौद्धिक विश्लेषण के द्वारा जो अन्धकार को अन्धकार समझ लेते हैं और साथ ही यह भी जान लेते हैं कि यह अन्धकार जीवन को प्रगति की प्रेरणा देने वाला नही है, वही प्रकाश मे आने का प्रयत्न कर सकते है और फिर अपनी जीवन-यात्रा अच्छी तरह तय भी कर सकते है। जहाँ अन्धकार है वहाँ भाँति-भाँति की गडवडी पैदा होती रहती हैं। घर मे चोरो के घुस आने पर घर वाले लडने को तो तैयार होते हैं चोरो से, किन्तु लाठियाँ बरसाने लगते हैं अपने ही घर वालो पर। अन्धकार

मे अपने-पराये का कोई भेद मालूम नही देता। इस प्रकार के अधकार को जीवन न मानकर मृत्यु का प्रतीक समझना चाहिए। सफल जीवन के लिए तो दिव्य प्रकाश ही चाहिए।

हिंसा भी एक प्रकार का अधकार है और आज वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म फैला हुआ है। किन्तु यह निश्चित है कि जब तक वह जीवन को किसी भी रूप म स्पर्श किए हुए रहेगा तब तक जीवन का सही मार्ग नही मिलेगा। अतएव यदि प्रकाश म प्रवेश करना है तो इसके लिए अधकार का भी समुचित ज्ञान प्राप्त करना होगा। जब तक हम हिंसा क अधकार को भली-भाँति न समझ ल तब तक अहिंसा के प्रकाश की उज्ज्वल किरण हमे प्राप्त नही हो सकती।

पिछल प्रवचन म मैंने सामाजिक हिंसा का विवेचन करते हुए बतलाया था कि मनुष्य जाति एक है और वह प्राणि-ससार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। मनुष्य का जीवन बहुत बडे सौभाग्य स प्राप्त होने वाली एक बहुमूल्य निधि है। जैन शास्त्र और दूसरे शास्त्र भी यही कहते हैं कि देवता बनना आसान है किन्तु मनुष्य बनना कठिन है। चौरासी लाख जीव-योनियो में भटकते हुए बडी कठिनाई से मनुष्य का चोला मिलता है। इन्सान की ऊँचाई वस्तुत बहुत बडी ऊँचाई है।

ज्यो ही मानव-जीवन की महत्ता का विचार हमारे मन म आता है त्यों ही एक अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने उपस्थित हो जाता है। प्रश्न यह है कि—मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए? मनुष्य यदि मनुष्यता का मूल्य

समझता है तो उसे दूसरे मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

इन्सान का चोला मिल जाने पर भी इन्सान को यदि इन्सान की आत्मा नही मिली, हाथ-पैर आदि अवयव इन्सान के मिल गए, किन्तु यदि भीतर हैवानियत ही भरी रही तो यह बाहर का मानवीय चोला किस काम का ? घृणा, द्वेष, अहकार—ये सब पशुता की भावनाएँ हैं, मनुष्यता की नही। मनुष्य के चोले मे भी यदि ये सव भावनाएँ भरी हैं, तो समझ लेना चाहिए कि वहाँ वास्तविक मनुष्यता नही आ पाई है।

अखण्ड मानव-जाति पहले-पहल उद्योग-धधो की भिन्नता के कारण अनेक टुकडो मे विभक्त हुई। कहना तो यह चाहिए कि मनुष्य जाति की सुविधा के लिए ही उद्योग अलग-अलग रूपो मे बाँटे गये थे और अलग-अलग पेशा करते हुए भी मनुष्य-मनुष्य मे कोई भेद नही था। किन्तु जव अहकार और द्वेष की भावनाएँ तीव्र हुई तो धधो के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्गों मे ऊँच-नीच की भावना अकुरित होने लगी। फिर वह फूली और फली। उसके जहरीले फल सवत्र फैले और उन्होने मानव-जाति की महत्ता और पवित्रता को नष्ट कर दिया। मनुष्य समझ बैठे कि अमुक धधा करने वाला वर्ग ऊँचा है और अमुक धधा करने वाला वर्ग नीचा।

क्या वह भेदभाव यही खत्म हो गया ? नही, वह बढ़ता ही चला गया और एक दिन उसने बहुत विचित्र एव विकृत रूप ग्रहण कर लिया। धीरे-धीरे धधो की बात उड गई और

जन्म से ही उच्चता और नीचता पवित्रता और अपवित्रता की बात जोड़ दी गई।

जब तक धंधे का प्रश्न था समस्या विकट नहीं थी और भेद-भाव भी स्थायी नहीं था क्योंकि मनुष्य इच्छा होते ही अपना धंधा बदल भी सकता था। किन्तु जन्म कैसे बदले? परिणाम यह हुआ कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद पैदा करने वाली फौलादी दीवारें खड़ी कर दी गईं और मानव परिवार का संघटन छिन्न भिन्न हो गया। निस्सन्देह उसी विघटन का यह दुःखद परिणाम है कि आज 'शान्ति' और 'प्रेम' के स्थान पर 'अशान्ति' एवं 'घृणा' का साम्राज्य है।

हमारे सामने आज यह जटिल प्रश्न उपस्थित है कि इस सम्बन्ध में जैन-धर्म क्या प्रकाश देता है? वह 'जन्म' से पवित्रता मानता है या 'कर्म' से? किसी ने ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य के कुल में जन्म ले लिया तो क्या वह जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य हो गया? और क्या जन्म मात्र से उसमें श्रेष्ठत्व आ गया? अथवा ब्राह्मण आदि बनने के लिए और तन्मूलक उच्चता प्राप्त करने के लिए क्या कुछ कर्त्तव्य-विशेष भी करना आवश्यक है?

इन्सान जन्म से क्या लेकर आया है? वह हड्डी और माँस का ढेर ही साथ में लाया है। क्या किसी की हड्डियों पर 'ब्राह्मणत्व' की किसी के मांस पर 'क्षत्रियत्व' की या किसी के चेहरे पर 'वैश्यत्व' की मोहर लगी आई है? या ब्राह्मण किसी और रूप में और दूसरे वर्ण किसी और रूप में आए हैं?

आखिर, शरीर तो शरीर ही है। वह जड पुद्गलो का पिण्ड है। उसमे जाति-पांति का किसी भी प्रकार का कोई नैसर्गिक भेद नही है। यह मृत्-पिण्ड तो आत्मा को रहने के लिए मिल गया है और कुछ समय के लिए आत्मा रहने के लिए उसमें आ गया है। वस्तुत यह अपने आप मे पवित्र या अपवित्र नही है। पवित्रता और अपवित्रता का आधार आचरण की शुद्धता या अशुद्धता है। आचरण ज्यो-ज्यो पवित्र होता जाता है, त्यो-त्यो शुद्धता भी वढती जाती है। इसके विपरीत अपवित्रता के आचरण से अशुद्धि भी वढती जाती है।

यह आवाज, आज की नई आवाज नही है। भारत मे जव जन्मगत उच्चता और नीचता की भावनाएँ घर किये वैठी थी, तव भी विचारक लोग प्राय यही कहते थे और तव से आज तक भी वे यही कहते आ रहे हैं। निस्सन्देह उस आचरणमूलक उच्चत्व की प्रेरणा का ही तो यह फल प्रकट हुआ कि इन्सान ने किसी भी उच्च या नीच जाति में जन्म लिया हो, किन्तु फिर भी उसने श्रेष्ठ होने और उच्चता प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। उसने विचार किया कि मैं जन्म से उच्च नही बन गया हूँ। यदि मैं सत् प्रयत्न करूँगा, जीवन को सदाचार के पथ पर अग्रसर करूँगा, और अपनी प्राप्त सामग्री को अपने आप में ही समेट कर नही रखूँगा, वल्कि दूसरो के कल्याण मे भी उसका यथाशक्ति उपयोग करूँगा तो जीवन की पवित्रता को प्राप्त कर सकूँगा।

वह पवित्रता शुभ कर्म द्वारा ही प्राप्त होगी जन्म से नहीं। यह भावना भारत की जनता के हृदय में निरन्तर गूंजती रही और भारतीय जन-समाज उस पवित्रता की ओर दौड़ भी लगाता रहा। जो ब्राह्मण के कुल में जन्मा था वह भी दौड़ा और जो क्षत्रिय-कुल में पैदा हुआ था वह भी दौड़ा। क्योंकि उसे मालूम था कि पवित्रता अकेले जन्म लेने से नहीं आएगी उसे तो उच्च कर्तव्यो द्वारा ही प्राप्त करना होगा। वह प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकेगी अन्यथा नहीं।

आप इन्सान के रूप में ही जन्मे हैं और मैंने भी इन्सान के रूप में ही जन्म लिया था। क्या आपका 'श्रावकपन' और मेरा 'साधुपन' शरीर के साथ ही आया था ? नहीं शरीर उसे साथ में लादकर नहीं लाया। उसे तो आचरण और साधना के द्वारा यहाँ पर ही प्राप्त करना होता है।

इस प्रकार उस युग में कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न रहा हो प्रायः सभी ने पुरुषार्थ की साधना के द्वारा ही अपेक्षित पवित्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसे पाने के लिए सदाचार के पथ पर निरन्तर दौड़ लगाते रहे। किन्तु दुर्भाग्य और परिस्थितियों के प्रकोप से विचार उलट गए और ऐसी विचित्र धारणा बन गई कि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेने मात्र से 'पवित्रता' प्राप्त हो गई और जैन कुल में जन्म लेने मात्र से ही 'जैनत्व' मिल गया। सोचिए जब इस प्रकार जन्म लेने मात्र से पवित्रता मिल जाने का विचार दृढ़ हो गया तो फिर नैतिक पवित्रता के लिए कौन प्रयत्न करता ? और पवित्रता के लिए पुरुषार्थ

करने की आवश्यकता ही क्यो अनुभव की जानी चाहिए ? इस सम्बन्ध मे हमारे यहाँ कहा गया है —

"अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वत व्रजेत् ?"

पुराने समय मे शहद के लिए पर्वत पर टक्करे खानी पडती थी और बहुत कठिनाई से शहद प्राप्त किया जाता था। उस समय के एक आचार्य कहते है कि यदि गाँव के बाहर खडे हुए अकौवा (आकडे) के पौधे की टहनियो पर ही शहद का छत्ता मिल जाए तो नदी नालो को कौन लाँघे ? पर्वतो पर जाकर कौन टक्करे खाए ?

मनुष्य का स्वभाव है कि पुरुषार्थ के बिना ही यदि इच्छित वस्तु मिल सकती हो तो फिर कोई पुरुषार्थ क्यो करेगा ? यह एक लोक स्वभाव के सिद्धान्त की बात है। हम साधु भी जब अनजान गाँवो मे गोचरी के लिए जाते हैं, तब यदि सीधे रूप मे अनायास ही कुछ घरो से गोचरी मिल जाय और गोचरी के लिए कदम बढाते ही 'पधारिये महाराज' कहने वाले खडे मिल जायें तो व्यर्थ ही दूर-दूर के गली-कूचो मे चक्कर क्यो लगाते फिरेंगे ? जगह-जगह भटक कर अलख क्यो जगाएँगे ? कथन का अभिप्राय यही है कि जब सहज रूप से, गम्भीर पुरुषार्थ किये बिना ही साधु-मर्यादा मे इच्छित वस्तु मिल जाती है तो व्यर्थ ही दूर नही जाने वाले है। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए इतना पुरुषार्थ करना पडे कि सारा जीवन ही उसके लिए खर्च कर देना आवश्यक हो, किन्तु वही चीज जब बिना पुरुषार्थ के ही प्राप्त हो जाय तो किसे पागल कुत्ते ने काटा है जो

उसके लिए दूर-दूर भटकता फिरे कठिनाइयां झेलता रहे और साधना की मुसीबत उठाए ?

इस मानव-स्वभाव के अनुसार जब से हमने पवित्रता का सम्बन्ध जन्म के साथ जोड़ दिया तभी से मानवीय सद्गुणों की ऊँचाई प्राप्त करने के सभी प्रयत्नों में शिथिलता आयी। वही से जनता का नैतिक पतन आरम्भ हुआ। तभी से मनुष्य इतना गिरा कि ऊँचा उठ ही नहीं सका।

वैदिक धर्म में एक कहानी आती है। एक वेश्या थी जिसकी कोई जात-पांत नहीं होती। वह संसार की उलझनों में उलझी हुई थी। उसने एक तोता खरीद लिया और उसे 'राम राम' रटाना शुरू किया। केवल इसलिए कि आने वालों का मनोरंजन हो। इस सम्बन्ध में पुराणकार कहते हैं—जब वह वेश्या मरी तो यम के दूत भी उसे लेने आए और विष्णु के दूत भी। यम के दूत तो नरक का यह परवाना लेकर आए थे कि इसने दुनिया भर के पाप किए हैं और अपनों तथा दूसरों की तरुणाई को नरक की नाली में डाला है इस कारण इसे नरक में ले जाना है।

परन्तु विष्णु के दूत उसे स्वर्ग में ले जाने का परवाना लेकर आए थे। वे उसे स्वर्ग में इसलिए ले जाना चाहते थे कि वह प्रभु की भक्त है। वह तोते को 'राम राम' रटाती रही है अतः उसकी सीट स्वर्ग में रिजर्व हो चुकी है।

इस प्रश्न को लेकर दोनों तरफ के दूतों में संघर्ष हो गया। यम के दूतों ने कहा—तुम करते क्या हो ? पागल तो नहीं हो गए ? अरे यह तो वेश्या है दुराचारिणी है! भला

इसको स्वर्ग में कौन बुला सकता है ?

विष्णु के दूत कहने लगे—इस वेश्या ने जो अनगिनत 'राम-राम' बोला है, क्या वह सब व्यर्थ हो जाएगा ? राम के भक्तों के लिए तो स्वर्ग में स्थान निश्चित है, नरक कदापि नहीं । भगवान् विष्णु उसे स्वर्ग में बुला रहे हैं ।

यमदूत बोले—तुम बड़े नादान मालूम होते हो ! इसने 'राम-राम' कहाँ जपा है ? यह तो सिर्फ तोते को ही रटाती रही है और वह भी इसलिए कि इसका अनैतिक व्यवसाय सफलता के साथ चलता रहे ! यदि तुम इतने सस्ते भाव में आदमी को स्वर्ग में ले जाओगे तो स्वर्ग को भी नरक बना डालोगे ।

आखिर, यम के दूतों और विष्णु के दूतों में संघर्ष छिड़ गया । किन्तु विष्णु के दूत बलवान् थे, अतः उन्होंने यम-दूतों को भगा दिया और वेश्या को स्वर्ग में ले गए । इस कथानक की पुष्टि में कहा भी गया है —

"सुआ पढ़ावत गणिका तारी ।"

इसी तरह किसी तीर्थ में पहुँचने मात्र से यदि स्वर्ग मिल जाए तो फिर कोई कर्त्तव्य क्यों करे ? मुँह से भगवान् का जरा नाम ले लिया और स्वर्ग में सीट रिजर्व हो गई ! बस, छुट्टी पाई, कैसा सीधा और सस्ता उपाय है । धर्म और स्वर्ग जब इतने सस्ते हो गए हों, तब कौन उनके लिए बड़ा मूल्य चुकाए ? क्यों प्रबल पुरुषार्थ किया जाए ? साधना का संकट भी कौन झेले ?

मानव-समाज में यह जो भ्रमपूर्ण धारणा फैली हुई है,

उसी का यह परिणाम हुआ कि पवित्रता स्वयं नीचे गिर गई और पवित्रता के स्थान पर मनुष्यों के हृदयों में अहंकार, द्वेष घृणा आदि विकार पैदा हो गए। इसके लिए भगवान् महावीर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं —

> भणन्ता अकरेन्ता य बन्ध-मोक्ख पइण्णिणो।
> वायावीरियमित्तेण समासासेन्ति अप्पयं॥
> न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं।
> विसन्ना पाव-कम्मेहिं बाला पण्डियमाणिणो॥
>
> — उत्तराध्ययन ६, १०-११।

अर्थात्—"तुम जो संस्कृत भाषा और प्राकृत-भाषा आदि के मनचाहे फव्वारे अपने मुख से छोड़ रहे हो और यह समझ भी रहे हो कि इनका पाठ कर लेने मात्र से ही मोक्ष मिल जायगा वस्तुतः यह एक भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सारे संसार की नाना प्रकार की विद्याएँ और भाषाएँ सीख लेने पर भी तुम्हारा परित्राण नहीं हो सकता। यदि तुम कल्याण चाहते हो और निर्वाण पाने की उत्कट अभिलाषा भी रखते हो तो तुम्हें सदाचरण करना पड़ेगा। एक उदाहरण देखिए—

कोई बीमार किसी वैद्य से एक नुस्खा लिखवा लाए, जिसमें उत्तम से उत्तम औषधियाँ लिखी हों और उसे सुबह शाम पढ़ लिया करे, तो क्या उसकी बीमारी दूर हो जाएगी? नहीं नुस्खा पढ़ लेने मात्र से बीमारी दूर नहीं हो सकती। यदि कहीं ऐसा पाया जाए तब तो यह भी माना जा सकता है कि शास्त्रों के पाठ कर लेने और उनका

देने से ही पवित्रता प्राप्त हो जाएगी। किन्तु ऐसा होना कभी सम्भव नही है, और न होगा ही। एक साधक ने कहा है—

कायेनव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु कि भवेत् ?
चिकित्सापाठमात्रेण, न हि रोग शम व्रजेत् ॥

—बोधिचर्यावतार

अर्थात्—जो भी शास्त्र मुझे पढना है, उसे मै जीवन से पढूंगा, केवल जीभ से ही नही पढूगा। भला, जिह्वा के उच्चारण मात्र से क्या होने वाला है ? आयुर्वेद की पुस्तको के रट लेने और चरक तथा सुश्रुत को सीख लेने मात्र से कोई नीरोग नही हुआ है। हजार वर्ष तक रटते रहिए तब भी उससे साधारण-सा बुखार और जरा-सा सिर-दर्द भी दूर नही होगा, उल्टा शरीर गलता जायगा और सडता जायगा।

जैसे इस बात को हम सभी भली-भाँति समझते है कि आयुर्वेद को कठस्थ कर लेने मात्र से रोग दूर नही होता। यही बात ससार के धर्म-शास्त्रो के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिए। जितने भी धर्म-शास्त्र हैं, सब हमारी चिकित्सा करने के लिए ही हैं। जिस प्रकार आयुर्वेद से शरीर की चिकित्सा-विधि जानी जाती है, उसी प्रकार धर्म-शास्त्र से मन और आत्मा की चिकित्सा होती है। हमारे भीतर जमी हुई वासना और विकार ही मन और आत्मा की बीमारी है। किसी को क्रोध की, किसी को मान की, किसी को माया की, और किसी को लोभ की विभिन्न बीमारियाँ सता रही हैं। किसी भी धर्म-शास्त्र को ले

लीजिये उसमें इन सभी बीमारियों की चिकित्सा का समुचित विधान है परन्तु उन शास्त्रों को पढ़ लेने मात्र से कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है। शास्त्रों को व्यावहारिक जीवन में उतारने से ही लाभ हो सकता है। हरिश्चन्द्र की कहानी पढ़ने या सुनने मात्र से सत्यवादी नहीं बना जा सकता किन्तु हरिश्चन्द्र के सत्याचरण का अनुसरण करने से ही सत्यवादी बन सकते।

आपने सुदर्शन की कथा तो सुनी होगी? भला उसने अपने जीवन की पवित्रता के लिए क्या नहीं किया? सती सीता और सती मदनरेखा ने कितनी आपत्तियाँ सहन की? फिर भी वे सही रास्ते को पकड़े रहे और उसी रास्ते पर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाते गए! इसीलिए वे इतिहास के पृष्ठों में आज भी अमर हैं।

अभिप्राय यह है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता की मंजिल पर जो भी पहुँच चुके हैं और जिनकी स्तुति तथा आराधना करके हम अपने आपको आज भाग्यशाली समझते हैं वे केवल पुरुषार्थ के द्वारा ही महान् बने थे। बड़ी-बड़ी साधनाओं के बल पर ही उन्होंने सफलता पाई थी। वे अहिंसा और सत्य के आदर्श आचरण के द्वारा ही महत्ता पूज्यता उच्चता और पवित्रता को प्राप्त कर सके थे। जन्म से किसी को पवित्रता और उच्चता प्राप्त नहीं हुई, और हो भी कैसे सकती है? साधना के सिवाय महत्ता प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं है।

जो लोग अमुक कुल में जन्म लेने मात्र से पवित्रता

प्राप्ति के भ्रम मे है, वे अपने आपको और दूसरो को भी धोखे मे रखते है। जो धन को ही उच्चता प्राप्त करने का साधन मानते हैं, वे भी गलत मार्ग पर चल रहे हैं। इन गलत विचारो का नतीजा यह हुआ है कि समाज मे से उच्च चारित्र का प्राय लोप-सा हो गया और जन-जीवन से सदाचार और सत्य के चिन्ह भी धूमिल हो गए है। आज एक ही व्यापक मनोवृत्ति सर्वत्र दिखाई दे रही है और वह यह कि—यदि बडा बनना है तो खूब धन कमाओ, तिजोरियाँ और तहखाने भरो! जो जितनी बडी धन-राशि का स्वामी होगा, उतना ही बडा माना जायगा!! इस तरह परमात्मा की उपासना का तो केवल नाम रह गया और सर्वत्र धन की उपासना होने लगी। चाहे न्याय से मिले या अन्याय से, किसी की जेब काटने से मिले या गला घोटने से, बस, धन मिलना चाहिये। यदि वह मिल गया तो बडप्पन मिल गया। समाज मे और बिरादरी मे सम्मान बढ गया और ऊँचा आसन भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार धन ने आज भगवान् का आसन छीन लिया है और पूँजी ने प्रभु का रूप धारण कर लिया है। वस्तुत भगवान् का नाम लेकर लोग धन की ही उपासना मे लीन हो रहे हैं।

औरो की बात जाने भी दीजिए, अपने समाज की शिक्षा सस्थाओ की तरफ ही दृष्टि डालिए। समाज मे जो गुरुकुल, विद्यापीठ, विद्यालय या विश्वविद्यालय चल रहे हैं, उनका मुख्य उद्देश्य विद्या-प्रसार के द्वारा अविद्या का उन्मूलन करना है, जिससे कि मानव-समाज सभी प्रकार के दुराचार-

अन्य सामाजिक अपवादों से सर्वथा मुक्त होकर मनुष्यत्व की अभिवृद्धि व्यक्तित्व का विकास तथा चारित्र का निर्माण कर सके। सद्-शिक्षा के द्वारा जब मनुष्य तथाकथित सद्गुणों का समुचित संग्रह कर लेता है तब उसकी अन्तः प्रेरणा धार्मिक अनुष्ठान की ओर स्वतः प्रेरित हो जाती है। परन्तु उनके प्रबन्ध-अधिकारी भी धन की पूजा से ऊँचे नहीं उठ पाते। जब कभी इन शिक्षा-संस्थाओं में कोई उत्सव या समारोह होता है तो सर्वप्रथम पूँजीपतियों की तरफ ही अधिकारी वर्ग की याचक-दृष्टि दौड़ती है। सभापति बनाने में शिक्षा-ज्ञान को कोई मापदण्ड नहीं बनाएगा। यह जानने की कोई परवाह भी नहीं करेगा कि वह जनता को क्या देने चला है या सिर्फ धन की ही माम लेकर खड़ा है! बड़प्पन की नाप-तौल का आज एकमात्र मापक धन रह गया है। जिसके पास ज्यादा धन है वही ज्यादा बड़ा है। हजार बार प्रयत्न करके शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारी उसी धनिक के पास जाएँगे उसे ही सभापति बनाएँगे। उसके आचरण के सम्बन्ध में कुछ मालूम ही नहीं करेंगे और यहाँ तक कि उसके सम्पूर्ण दुराचरणों पर पर्दा डाल देंगे उसके समस्त दुर्गुणों को फूलों के ढेर से ढँक देने की भरसक कोशिश करेंगे।

परन्तु दुर्गुणों की दुर्गन्ध क्या कभी प्रशंसा के फूलों की सुगन्ध से पवित्र हो सकती है? ऐसा सोचना भी जड़-बुद्धि का परिचायक है। गहराई से विचार कीजिए कि एक जगह मैला पड़ा है। किसी ने उसे फूलों से ढँक दिया है। थोड़ी-सी देर के लिए दुर्गन्ध भले ही छिप गई है किन्तु आखिर तक

नही छिपी रहेगी और वह गन्दगी फलो को भी गन्दा करके ही रहेगी । सदाचार-विहीन व्यक्ति के विषय मे भी यही बात है । फिर जो व्यक्ति दुराचारी है ही, उसे केवल धन की बदौलत सम्मान देकर और उसके अभिनन्दन में मानपत्र भेट करके आप भले ही सातवे आसमान पर चढा द किन्तु इससे वह अपनी या समाज की भलाई नही कर सकेगा । वह उस सम्मान को पाकर अपने दुर्गुणो के प्रति अरुचि और असन्तोष अनुभव नही करेगा, अपने दोषो को घृणा की दृष्टि से नहीं देखेगा, उनके परित्याग के लिए भी तत्पर नही होगा, अपितु अपने दोषो के प्रति उत्तरोत्तर सहनशील ही बनता जाएगा । इस प्रकार यदि उसके दोषो को और आचरण हीनता को प्रकारान्तर मे प्रतिष्ठा मिलेगी तो समाज मे वे दोष घर कर जाएँगे ।

कथन का आशय यही है कि आज समाज मे व्यक्तित्व को नापने का मापक 'पैसा' बन गया है । जिसके पास जितना अधिक 'पैसा' है, वह उतना ही बडा आदमी है । साधारण आदमी, जिसके पास पैसा नही है, किन्तु जीवन की अपेक्षित पवित्रता है, अच्छे विचार हैं और विवेक-बुद्धि है, क्या उसे कभी कुर्सी पर बैठे देखा है ? सभापति बनते देखा है ? समाज मे आदर पाते देखा है ? यह बात रहस्यपूर्ण इसलिए है कि समाज मे 'धन' की कसौटी पर ही बडप्पन को परखा जाता है और सदाचारी निर्धन की कोई पूछ नही होती ।

मैंने तो अनेक बार देखा है और आए दिन इस तरह की अशोभनीय घटनाएँ हर कोई भी देख सकता है । एक

व्यक्ति के घर मे सुन्दर और सुलक्षणी पत्नी मौजूद है सारी व्यवस्था है और गृहस्थी की गाडी भी ठीक-ठीक चल रही है किन्तु उसने किसी तरह पैसा कमा लिया तो तुरन्त दूसरा विवाह कर लिया। समाज मे कुछ हलचल हुई तो किसी सभा या समिति को दस-बीस हजार रुपया फेंककर सभापति बन गये। बस सारी काली करतूतो पर कलदार (धन) की सफेद कलई पुत गई और समस्त दुर्गुण छिप गए। समाज के वायुमडल मे जितनी हवाए उसके प्रतिकूल चल रही थी सब अनुकूल दिशा मे बहने लगी और उसे वही पहले-सा आदर सम्मान मिलने लगा। उसकी पहली पत्नी अपनी भाग्य की दशा पर कोने में बैठी किस तरह आँसू पोछ रही है और उसकी क्या व्यवस्था चल रही है। उधर दूसरी पत्नी क्या-क्या गुल खिला रही है इन सब बातो को अब कोई नही पूछता।

तो अभिप्राय यही है कि आज मनुष्य के सामने उच्चता को नापने का मापक केवल धन रह गया है। जिसने धन कमा लिया वही श्रेष्ठ बन गया। धन यदि न्याय से प्राप्त किया जा सकता है तो अन्याय से भी प्राप्त किया जाता है। पर, क्या सद्बुद्धि और सदाचार भी कभी अन्याय से प्राप्त किया जा सकता है? इन्हे प्राप्त करने का एक ही मार्ग है और वह है काँटो का मार्ग। जो अपने जीवन को जितना-जितना इस कठिन मार्ग पर बढाता जायगा वह उतना ही ऊँचा उठता जायगा। सत्य और सदाचार की राह पर जाने वालो को शूली की सेज मिलेगी और उन्हे अपना सारा जीवन काँटो का मार्ग तय करने मे ही गुजारना पडेगा।

आमतौर से जब कोई अपरिचित व्यक्ति सामने आता है तो यह प्रश्न किया जाता है—कौन है आप ? वह शीघ्र ही उत्तर देता है—ब्राह्मण हूँ, या क्षत्रिय हूँ, या वैश्य हूँ, या अग्रवाल अथवा ओसवाल हूँ। परन्तु मैं यह पूछना हूँ कि तुम जो अपने को ब्राह्मण आदि कहते हो तो यह ब्राह्मण-पन आदि क्या आपकी आत्मा के साथ अनादिकाल से चला आ रहा है ? क्या यह क्रम अनन्त-काल तक इसी तरह चलता जायगा ? और जब मोक्ष प्राप्त होगा तो जाति की इन गठरियो को क्या वहाँ भी सिर पर लाद कर ले जायेंगे ?

यद्यपि वैदिक धर्म जाति-पाँति का प्रमुख समर्थक समझा जाता है, पर वहाँ भी हमे ऐसे उदात्त विचार प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं जिनमे जाति या वर्ण की निस्सारता प्रकट की गई है। गुरु और शिष्य का एक छोटा-सा सवाद वहाँ आता है।

ससार-सागर से पार जाने की इच्छा रखने वाला कोई मुमुक्षु शिष्य किसी गुरु के पास जाता है। गुरु उससे पूछते हैं—सौम्य, तुम कौन हो ? और क्या चाहते हो ?

शिष्य—मैं ब्राह्मण का पुत्र हूँ। अमुक वश मे मेरा जन्म हुआ है। मैं ससार-सागर से तिरना चाहता हूँ।

गुरु—वत्स, तुम्हारा शरीर तो यही भस्म हो जायगा, फिर ससार-सागर से किस प्रकार तिरोगे ? नदी के इसी किनारे पर जो भस्मीभूत हो गया हो, फिर वह तिरकर उस किनारे पर कैसे पहुँच सकता है ?

गुरु के इस प्रकार कहने पर शिष्य का ध्यान आत्मा

की ओर उन्मुख हुआ। उसने कहा—देव मैं असग हूँ और शरीर असग है। मृत्यु आने पर शरीर ही भस्म होता है। मैं अर्थात्—आत्मा नही क्योंकि वह तो नित्य है। वह भस्म नही होगा। केवल शरीर ही जन्मता है मरता है और वह मिट्टी भी बन जाता है। शस्त्र उसे छेद सकते हैं अग्नि उसे जला सकती है पर आत्मा तो सनातन है। जिस प्रकार पक्षी घौसले मे रहता है उसी प्रकार मैं (आत्मा) भी इस शरीर मे रहता हूँ। जैसे पक्षी एक घौसला छोडकर दूसरे घौसले मे रहने लगता है मै भी एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करता हूँ। केवल शरीर ही आते और जाते रहते हैं किन्तु मै (आत्मा) ज्यों का त्यो अविचल रहता हूँ।

इस प्रकार शिष्य ने जब शरीर और आत्मा का स्पष्ट भेद समझ लिया तो गुरु कहते हैं—वत्स तुम ठीक कहते हो। तुम शरीर नही वस्तुत आत्मा हो। तुम घौसला नही वास्तव मे पक्षी हो। फिर तुमने पहले मिथ्या भाषण क्यो किया था कि मै ब्राह्मण हूँ और अमुक वश में मेरा जन्म हुआ है ?

अन्त मे शिष्य भली-भाँति समझ जाता है कि—'मै ब्राह्मण हूँ'—यह विचार गलत है और जब तक जाति का अभिमान बना रहेगा तब तक आत्मा ससार-सागर से नही तिर सकता।

हमारे यहाँ भी जाति और कुल के मद को त्याज्य बतलाया गया है और जब तक इनका मद दूर नही होता

तब तक साधक की दृष्टि सम्यक् नहीं हो सकती। परन्तु इस तथ्य को साधारण जनता कब समझती है ?

कहा जा सकता है कि जैन-धर्म अनेकान्तवादी धर्म है। वह जात-पांत को भी मोक्ष का कारण मान सकता है। पर ऐसा कहना अनेकान्तवाद की मजाक बनाना है। क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध कर देगा कि आदमी के सिर पर सींग होते भी है और नही भी होते है ? और मैं कहूँ कि नही होते तो क्या मुझे एकान्तवादी बनाया जायगा ? यदि कोई मुझसे यह प्रश्न करे कि साधु के लिए व्यभिचार करना अच्छा है या बुरा है ? तो क्या आप यह चाहेंगे कि यहां भी मैं आपके अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर कहूँ कि व्यभिचार करना अच्छा भी है और बुरा भी है ? यदि कोई साधु पैसा रखता है और मैं कहता हूँ कि यह गलत चीज है तो क्या आप वहाँ भी अपने अनेकान्तवाद का प्रदर्शन करेंगे ?

वास्तव मे अनेकान्तवाद का सिद्धान्त 'सच' और 'झूठ' को एक रूप मे स्वीकार कर लेना नहीं है। जिन महापुरुषों ने अनेकान्त की प्ररूपणा और प्रतिष्ठा की है, उनका आशय यह नही था। उन्होने अनेकान्तवाद को भी अनेकान्तवाद कहकर इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है कि हम 'सम्यक् अनेकान्त' को तो सहर्ष स्वीकार करते हैं, किन्तु मिथ्या 'अनेकान्त' को स्वीकार नही करते। इसी प्रकार 'सम्यक् एकान्त' को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु 'मिथ्या एकान्त' को अस्वीकार करते हैं।

'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनय-साधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात् ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥"
—आचार्य समन्तभद्र

आप प्रश्न कर सकते हैं कि यदि जन-धर्म में जाति और कुल का अपने आप मे कोई महत्व नही है तो शास्त्र मे "जाइसपन्ने' और 'कुलसपन्ने' पाठ क्यो आए हैं ? इस प्रश्न पर हमें अपनी सूक्ष्म बुद्धि और विवेक शीलता के साथ विचार करना है ।

जाइसपन्ने' और कुलसपन्ने' का अर्थ यह है कि सस्कार और वातावरण से कोई 'जातिसपन्न' और कुलसपन्न' हो भी सकता है । कोई जाति ऐसी होती है जिसका वातावरण प्रारम्भ से ही ऐसा बना रहता है कि उस जाति मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति मांस नही खाता और मदिरा-पान नही करता । ऐसी जाति मे यदि कोई प्रगति तथा विकास करना चाहता है तो वह जल्दी आगे बढ़ सकता है क्योंकि उसे प्राथमिक तैयारी के उपयोगी साधन अपने समाज के वातावरण म ही मिल जाते हैं । फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति का यह महत्व मांस न खाने और मदिरा न पीने के ही कारण है उस जाति मे जन्म लेने से नही । कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं जो मांस-मदिरा का सेवन न करने वाली जाति मे जन्म लेकर भी सगति-दोष से मांस-मदिरा का सेवन करने लगते हैं । उनके लिए जाति का प्रश्न कोई महत्व नही रखता है ।

यह समझना निरी भूल है कि केवल वातावरण के द्वारा

ब्राह्मण का लडका विना पढे ही सम्कृत का ज्ञाता वन सकता है। हजारो ब्राह्मण ऐसे भी हैं जो पथ-भ्रष्ट होकर दर-दर भटक रहे हैं और प्रथम श्रेणी के वज्र-मूर्ख है। उनमे शूद्र के वरावर भी सस्कृति, सदाचार और ज्ञान नही हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जातिगत वातावरण या सम्कार एक सीमा तक ही व्यक्ति के विकास मे सहायक होते है, किन्तु सर्वाङ्ग में नही।

वहुतेरे ओसवाल, अग्रवाल और जन्म के जैन अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण गाँव के गाँव दूसरे धर्मों के अनुयायी हो गए। जव हम वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कि तीस-तीस वर्ष हो गए, और जैन-धर्म का कोई उपदेशक वहाँ पहुँचा ही नही। उन्हे जैसा वातावरण मिला, विवश होकर वे वैसे ही वन गए। अव आप विचार कीजिए कि जब उनमें भी जाति के सस्कार आ रहे थे, फिर वे कहाँ भाग गए? वास्तव में उन्हे जातीय सस्कार तो मिले थे, किन्तु अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण वे पथ-भ्रष्ट होने के लिए विवश हुए।

इसके विपरीत किसी भी जाति मे मनुष्य का जन्म क्यो न हुआ हो, यदि वातावरण अनुकूल मिल जाए तो मनुष्य प्रगति कर लेता है। इस प्रकार जाति को कोई महत्व नही दिया जा सकता है, क्योंकि हड्डी, मॉस और रक्त मे कोई फर्क नही है। वह तो प्रत्येक जाति मे एक समान ही होता है।

आइए, अब तनिक जैन-धर्म की बारीकी में भी चलें।

जैन-धर्म के अनुसार दया अहिंसा या कोई दूसरे पवित्र गुण हड्डियों में रहते है या आत्मा मे ? और एक जाति मे जन्म लेने वाले सब आत्मा यदि एक-से सद्गुणों से सम्पन्न है तो उनमे विभिन्नता क्यों दिखाई देती है ? पवित्र जाति में जन्म लेने वाले सब आत्मा पवित्र क्या नही होते ? और जाति-भेद के कारण जिसे अपवित्र कहते है उस जाति में जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र क्यो नही होते ? महात्मा हरिकेशी जाति से चाण्डाल थे। उन्हे अपने माता-पिता से कौन-से उच्च सस्कार मिले थे ? क्या वे हड्डियों मे पवित्रता लेकर जन्मे थे ? नही उनके जीवन का मोड चिन्तन मनन और सुन्दर वातावरण से हुआ जन्मगत जातीय सस्कारो से नही। वास्तव मे मनुष्य वातावरण से बनता है और वातावरण से ही बिगड़ता भी है। मनुष्य के उत्थान और पतन के लिए यदि किसी को महत्त्व दिया जा सकता है तो वह वातावरण ही है। जातिगत जन्म के आधार पर पवित्रता या अपवित्रता मानना बहुत बड़ी भूल है।

जैन-धर्म की परम्परा मे हम देखते है कि शूद्र भी साधु बन सकता है और वह आगे का ऊँचा से ऊँचा रास्ता भी तय कर सकता है। सैकड़ो शूद्रों को मोक्ष प्राप्त होने की कथाएँ हमारे यहाँ आज भी मौजूद है। कथन का अभिप्राय यही है कि हजारो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य साधु बनकर भी जीवन की पवित्रता कायम नही रख सके और फलतः पथ भ्रष्ट हो गए तो फिर 'आदमपने' होने से भी क्या लाभ

हुआ ? इसके विपरीत हरिकेशी और मेतार्य जैसे शूद्र पवित्र एव अनुकूल वातावरण मे आकर यदि जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सके और मुक्ति के अधिकारी भी बन सके तो 'जाइसपन्ने' न होने पर भी कौन-सी कमी उनमे रह गई ? जैन-धर्म किस को वन्दनीय और पूजनीय मानता है ?

'जाइसपन्ने' और 'कुलसपन्ने' पदो मे जाति और कुल का अर्थ वह नही है, जिसे आजकल सर्व साधारण लोग जाति और कुल के रूप मे समझते है । ओसवाल या अग्रवाल आदि टुकडे शास्त्र मे जाति नही कहलाते । शास्त्र मे जाति का अर्थ है—'मातृ-पक्ष' , और कुल का अर्थ है—'पितृ-पक्ष' । इस सम्बन्ध मे कहा भी है—

"जातिर्मातृपक्ष , कुल पितृपक्ष ।।'

अर्थात्—माता के यहाँ का वातावरण अच्छा होना चाहिये । जिस माता के यहाँ सुन्दर वातावरण होता है, उसके बालक का निर्माण सुन्दर होता है । जिस प्रकार माता के उठने-बैठने, खाने-पीने और बोलने आदि प्रत्येक कार्य का बच्चे पर अवश्य ही असर पडता है, इसी प्रकार कुल अर्थात्—पितृ-पक्ष का वातावरण भी अच्छा होना चाहिए । जिस बालक के मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का वातावरण ऊँचा, पवित्र और उत्तम होता है, वह बालक अनायास ही अनेक दुर्गुणो से बचकर सद्गुणी बन सकता है ।

हालांकि एकान्त रूप से यह नही कहा जा सकता कि ऐसा बालक सद्गुणी ही होगा । कई जगह अपवाद भी पाए जाते हैं । फिर भी आमतौर पर यह होता है कि जिस बालक

के माता और पिता का पक्ष सुन्दर, सदाचारमय वातावरण से युक्त होता है और जिसे दोनों तरफ से अच्छे विचार मिलते हैं वह जल्दी प्रगति कर सकता है और वही 'जाति सम्पन्न' तथा कुलसम्पन्न' कहलाता है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि यह एक व्यावहारिक बात है। इसके लिए ऐसा कोई सुनिश्चित नियम नहीं है कि जिसकी जाति अर्थात्—मातृ-पक्ष (अर्थात्—ननिहाल) उत्तम वातावरण वाला है उसका व्यक्तित्व उत्तम ही होगा और जिसका मातृ-पक्ष गिरा हुआ होगा उसका व्यक्तित्व भी गिरा हुआ ही होगा। किसी बालक और युवा पुरुष का व्यक्तित्व इतना प्रबल और प्रभावशाली होता है कि उस पर मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वह स्वयं ही अच्छे या बुरे वातावरण का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार कभी-कभी उल्टे पासे भी पड़ जाते हैं। बहुतेरे ऐसे व्यक्ति भी होते हैं कि उनके लिए चाहे कैसा ही वातावरण तैयार किया जाए, वे उसमें आते ही नहीं अपितु सदैव उसके प्रतिकूल ही चलते हैं।

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को बदलने के लिए भरसक प्रयत्न किये थे? उसने सोचा था कि जैसा नास्तिक और राक्षस मैं हूँ प्रह्लाद को भी वैसा ही बना लूँ। इसे ईश्वर का नाम सुनने को भी न मिले। इसके लिए हिरण्यकश्यप ने कितना प्रबल प्रयत्न किया? किन्तु प्रह्लाद ऐसे प्रगाढ़ संस्कार लेकर आया था कि वह बदल नहीं सका उसकी ईश्वर-भक्ति में कोई दखल नहीं दे

सका और वह अपनी दिशा की ओर निरन्तर बढता ही गया। इस प्रकार प्रह्लाद उस दैत्य के कुल मे देवता के रूप मे आया था। उग्रसेन के यहाँ कस का जन्म लेना प्रहलाद के सर्वथा विपरीत उदाहरण है। कस के समान और भी अनेक व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिनके माता-पिता के यहाँ का वातावरण बहुत उत्तम रहा, उत्तमता बनाए रखने के लिए अथक प्रयत्न भी किए गए, किन्तु फिर भी ऐसे बालको ने जन्म लिया कि उन्होने अपने आचरण से सब को अपवित्र बना दिया और अपनी जाति और कुल के उज्ज्वल मस्तक पर कालिमा पोत दी।

अस्तु, अभिप्राय यही है कि मातृ-पक्ष (ननिहाल) और कुल (पितृ-पक्ष) का वातावरण यदि पवित्र है तो व्यक्ति जल्दी प्रगति कर सकता है। यही 'जातिसम्पन्न' और 'कुलसम्पन्न' का रहस्य है।

शास्त्र मे जीवो का वर्गीकरण करने के लिए भी 'जाति' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके अनुसार शास्त्र-कारो ने ससार के समस्त जीवो को पांच जातियो में विभक्त किया है। वे जातियाँ हैं—एकेन्द्रिय-जाति, द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पचेन्द्रिय-जाति। शास्त्र के इस वर्गीकरण के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र हो, एक ही पचेन्द्रिय-जाति में आता है।

इस प्रकार जब शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाता है तो मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेदभाव नही रह जाता। फिर भी कुछ लोगो ने एक वर्ग को जन्म से ही

पवित्र और श्रेष्ठ समझ लिया है चाहे उसका आचरण कितना ही निम्न स्तर का क्यों न हो। दूसरे वर्ग को जन्म से ही अपवित्र और नीच मान लिया गया है चाहे उसका आचरण कितना ही उत्तम क्यों न रहा हो। इस प्रकार जो वाञ्छनीय उच्चता सदाचार में रहनी चाहिए थी उसे जाति या वर्ण में कैद कर दिया गया है। वस्तुतः यही 'सामाजिक हिंसा' है। इस प्रकार की सामाजिक हिंसा व्यक्ति की हिंसा से किसी भी अंश में कम भयानक नहीं है। आज भी अधिकांश लोग इस हिंसा के शिकार देखे जाते हैं। जब आप हिंसा के स्वरूप का विचार करें तो इस 'सामाजिक हिंसा' को न भूल जाएँ।

—: ३ :—

मानवता का भीषण कलंक

यह पहले वतलाया जा चुका है कि 'अहिंसा' का रूप वहुत व्यापक है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपो मे हिंसा परिलक्षित होती है। जिस किसी भी क्षेत्र मे और जिस किसी भी रूप मे, जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, वाह्य या आन्तरिक हिंसा हो रही है, उस क्षेत्र मे और उस रूप मे हिंसा का व्यापक विरोध, प्रतिरोध एव निरोध होना ही 'अहिंसा' है। इस दृष्टिकोण से देखने पर भली-भाँति ज्ञात हो सकेगा कि अहिंसा का स्वरूप वहुत व्यापक है और उसके रूप भी अनेक हैं। यही कारण है कि पिछले दिनो मैंने अहिंसा को अनेक वर्गों में विभक्त करके आपके समक्ष प्रस्तुत किया है। अहिंसा के विराट स्वरूप का चिन्तन करते हुए यह तो सभव नही है कि उस पर पूर्ण प्रकाश डाला जा सके। फिर भी जव हमने अहिंसा के महत्व को स्वीकार किया है, उसके औचित्य को अपने जीवन का आदर्श माना है, और उसकी परिधि में रहकर ही जीवन-व्यवहार चलाने का सत्य सकल्प किया है,

साथ ही यह भी मान लिया है कि अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति समाज और विश्व का त्राण सभव है तो हम पर यह कर्तव्य और दायित्व आ जाता है कि हम अधिक से अधिक गहराई मे उतर कर अहिंसा को समझे और दूसरो को भी समझाएँ।

अहिंसा को भली भाँति समझने के लिए पहले हमे उसके दो रूपो पर विचार करना होगा। उन मे से एक रूप वह है जिसे हम 'आन्तरिक' कह सकते है। तात्पर्य यह है कि एक हिंसा वह होती है—जो क्रोध मान माया लोभ एव वासना के रूप मे भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। हम अपने ही कुप्रयत्नो से अपने आत्मा की हत्या करते रहते हैं। इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण लीजिए—एक व्यक्ति दूसरे के बड़प्पन को नही सह सकता है। वह मन ही मन उसे देखकर जलता है और उस जलन मे वह अपनी ही हिंसा कर लेता है। यदि किसी के सद्गुणो को देखता है और किसी की प्रशसा सुनता है तो भी वह मन ही मन मे जलता है और अपने अहम् भाव मे दूसरे के सद्गुणो को स्वीकार नही करता। इतना ही नही बल्कि वह दूसरे के सद्गुणो से घृणा भी करता है। ऐसा करने वाला एक प्रकार से अपनी आत्म-हत्या ही कर रहा है।

जब कोई आदमी बदूक या पिस्तौल से अपने को गोली मार लेता है तो यह समझा जाता है कि आत्म हत्या की गई है परन्तु वह तो शरीर की हत्या है आत्मा की नही। किन्तु मनुष्य जब किसी बुराई को अपने

इसके विपरीत यदि हम शास्त्रो का सहारा न लेकर केवल अपनी बुद्धि और शुष्क तर्क के बल पर ही खडे हो गए तो हमे न तो शास्त्रो का ही उचित ज्ञान रहेगा और न अपना ही पता रहेगा और न हम देश तथा समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूपेण पालन कर सकगे।

हाँ, तो सामाजिक हिंसा का रूप आपके सामने रखा जा रहा है। आपके सामने जो इन्सानो की दुनिया है और मनुष्यो का जो विस्तृत ससार आपके सामने से गुजर रहा है, उसके साथ आपका क्या सम्बन्ध है ? आप अपने पार्श्ववर्ती मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करते हैं ? वह व्यवहार घृणा और द्वेष का है अथवा सम्मान और सत्कार का ? वह दूसरो को घायल करने की क्रूरता है या घाव पर मरहम लगाने की उदारता ?

इन प्रश्नो पर हमे ईमानदारी के साथ विचार कर लेना चाहिए। वह हिंसा, जो समुदाय के रूप मे होती है, आज विराट बन गई है। और इस पर भी तुर्रा यह है कि अधिकाश लोग हिंसा करते हुए भी उसे हिंसा नही समझते। इस तरह आज के जीवन मे एक बहुत बडी गलतफहमी फैल गई है।

एक अखण्ड मानव-जाति अनेकानेक जातियो, उप-जातियो मे बँट गई है और उसके इतने टुकडे हो गए हैं कि यदि गिनने चले तो गिनते-गिनते थक भी जाएँगे और फिर भी पूरे भेद-प्रभेदो को गिन न सकेगे। यद्यपि कही-कही एक जाति का दूसरी जाति के साथ ऊपर से

प्रेम-भाव मालूम होता है किन्तु उनमें भी अन्दर की तह में ऊँच नीच की चौड़ी खाई खुदी हुई है। भीतर-ही भीतर संघर्ष चल रहा है फलत कोई अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने का मिथ्या अहंकार प्रदर्शित कर रहा है। बाहर के सुरभित फूलों मे अन्दर के काँटे बराबर हैं। या तो जीवन में सब साथ-साथ चलेंगे भी और एक-दूसरे को सहयोग भी देते रहेंगे किन्तु मन के काँटे दूर नही होते और वे निरन्तर एक-दूसरे को चुभते ही रहते है।

दूसरी साधारण जातियों को इस समय छोड़ दीजिए। एक ओसवाल और दूसरी श्रीमाल जाति है जो एक डठल के ही दो फूल हैं किन्तु उनमें भी आपस मे संघर्ष चारी है फलत कहीं-कहीं उनमें परस्पर झगड़े भी देखा गया है। यहाँ तक कि साधु होने के नाते या अपने ही सम्प्रदाय के विशिष्ट साधु होने के नाते कभी-कभी मुझे भी हस्तक्षेप करना पड़ा है। ओसवाल और श्रीमाल परस्पर मे अपने आप को ऊँचा और दूसरे को हीन समझकर कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार भी तोड़ बैठते हैं।

भीतर की जलन कभी-कभी विस्फोट के रूप मे बाहर आ जाती है तो परिवार के परिवार लड़ पड़ते हैं और आपस के मधुर सम्बन्ध भी कटुता मे बदल जाते हैं सब के बीच विद्वेष की आग सुलग उठती है। यह आग ओसवालो मे या अग्रवालो मे या दूसरी जातियों में जहाँ भी जल रही है वहाँ बड़े-बड़े विचारक भी कभी-कभी उसमें

अन्दर डाल लेता है और उसी मे निरन्तर गलता है और सडता रहता है तो यह बदूक या पिस्तौल से गोली मार लेने की अपेक्षा भी बहुत बडी हिंसा है, क्योकि यह बुराई हमारे सद्‌गुणो का सर्वनाश कर डालती है। इस प्रकार भीतर ही भीतर होने वाली हिंसा 'आन्तरिक' है और यह भाव-हिंसा का परिचायक है।

हिंसा का दूसरा रूप 'बाह्य' (बाहरी) है। वास्तव मे हमारे अन्दर की ही बुराई बाहर की हिंसा को प्रेरित करती है।

इस प्रकार जैन-धर्म के अनुसार हिंसा के दो नाले हैं, दो प्रवाह हैं। एक अन्दर ही प्रवाहित रहता है, और दूसरा बाहर। हिंसा को यदि अग्नि कहा जाय तो समझना चाहिए कि हिंसा की अग्नि भीतर भी जल रही है, और बाहर भी।

यदि इस दृष्टिकोण को सामने रखकर विचार करते हैं तो अहिंसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक प्रतीत होता है। किन्तु यह जितना व्यापक है, उतना ही जटिल भी है। जो सिद्धान्त जितना अधिक व्यापक बन जाता है वह प्राय उतना ही अटपटा भी हो जाता है और साथ ही उलझ भी जाता है। यही कारण है कि जीवन-क्षेत्र मे कभी-कभी अहिंसा के सम्बन्ध मे भाँति-भाँति की विचित्र भ्रान्तियाँ देखी जाती हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि लोग कभी हिंसा को अहिंसा, और अहिंसा को हिंसा समझ बैठते हैं। इस प्रकार की भ्रान्तियो ने प्राचीन काल में और आधुनिक काल में भी अनेक प्रकार के मतमतान्तरो को जन्म दिया है। जहाँ

ऐसा है, अहिंसा है करुणा एवं दया है दुर्भाग्य से वहाँ हिंसा समझी जा रही है और एकान्त पाप समझा जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि सिद्धान्त के अनुसार जो वास्तविक अहिंसा' है उसी को मनुष्य के भ्रान्त मन ने 'हिंसा' समझ लिया है।

इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हिंसा हो रही है बुराई पैदा हो रही है और गलत काम से किसी को दुःख और कष्ट पहुँच रहा है और फलस्वरूप दूसरे प्राणियों के अन्दर प्रतिहिंसा की प्रतिशोधनकारी लहर पैदा हो रही है किन्तु दुर्भाग्य से उसे अहिंसा' का नाम दिया गया है। यही कारण है कि जब धर्म के नाम पर या जात-पाँत के नाम पर हिंसा प्रवर्धित होती है तो उसे हम अहिंसा समझ लेते हैं। इस तरह मानव जाति का चिन्तन इतना उलझ गया है कि कितनी ही बार हिंसा के कार्यों को अहिंसा का और अहिंसा के कार्यों को हिंसा का रूप दिया गया है।

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा-सम्बन्धी उलझनें होने पर भी हमें आखिर विचार तो करना ही होगा। बल्कि ये मुख्य उलझन है इसलिए इस विषय में क्रमश: विचार करना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। हम इन विचारों को अपने आप में सोच लेना चाहते हैं। हालांकि हमारी बुद्धि बहुत सीमित है, किन्तु जहाँ तक आत्मा का सद् सहयोग काम देता है और हमारा चिन्तन-मनन हमारी सहायता करता है वहाँ तक तो हमें आगे बढ़ना ही चाहिए।

इसके विपरीत यदि हम शास्त्रों का सहारा न लेकर केवल अपनी बुद्धि और शुष्क तर्क के बल पर ही खडे हो गए तो हमे न तो शास्त्रो का ही उचित ज्ञान रहेगा और न अपना ही पता रहेगा और न हम देश तथा समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूपेण पालन कर सकेंगे।

हाँ, तो सामाजिक हिंसा का रूप आपके सामने रखा जा रहा है। आपके सामने जो इन्सानो की दुनिया है और मनुष्यो का जो विस्तृत ससार आपके सामने मे गुजर रहा है, उसके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आप अपने पार्श्ववर्ती मनुष्यो के साथ कैसा व्यवहार करते हैं? वह व्यवहार घृणा और द्वेप का है अथवा सम्मान और सत्कार का? वह दूसरो को घायल करने की क्रूरता है या घाव पर मरहम लगाने की उदारता?

इन प्रश्नो पर हमे ईमानदारी के साथ विचार कर लेना चाहिए। वह हिंसा, जो समुदाय के रूप में होती है, आज विराट बन गई है। और इस पर भी तुर्रा यह है कि अधिकाश लोग हिंसा करते हुए भी उसे हिंसा नही समझते। इस तरह आज के जीवन में एक बहुत बडी गलतफहमी फैल गई है।

एक अखण्ड मानव-जाति अनेकानेक जातियो, उप-जातियो मे बँट गई है और उसके इतने टुकडे हो गए हैं कि यदि गिनने चले तो गिनते-गिनते थक भी जाएँगे और फिर भी पूरे भेद-प्रभेदो को गिन न सकेंगे। यद्यपि कही-कही एक जाति का दूसरी जाति के साथ ऊपर से

प्रेम भाव मालूम होता है किन्तु उनमे भी अन्दर की तह मे ऊँच नीच की चौडी खाई खुनी हुई है। भीतर-ही भीतर संघर्ष चल रहा है फलत कोई अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने का मिथ्या अहकार प्रदर्शित कर रहा है। बाहर के सुरभित फूलों म अन्दर के काँटे बराबर हैं। यो तो जीवन में सब साथ-साथ चलते भी और एक-दूसरे को सहयोग भी देते रहेगे किन्तु मन के काँटे दूर नही होते और वे निरन्तर एक-दूसरे को चुभते ही रहते है।

दूसरी साधारण जातियो को इस समय छोड दीजिए। एक ओसवाल और दूसरी श्रीमाल जाति है जो एक वृक्ष के ही दो फल हैं किन्तु उनमे भी आपस मे संघर्ष जारी है फलत कही-कही उन्हे परस्पर लडते भी देखा गया है। यहाँ तक कि साधु होने के नाते या अपने ही सम्प्रदाय के विशिष्ट साधु होने के नाते कभी-कभी मुझे भी हस्तक्षेप करना पडा है। ओसवाल और श्रीमाल परस्पर में अपने आप को ऊँचा और दूसरे को हीन समझकर कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार भी तोड बैठते हैं।

भीतर की जलन कभी-कभी विस्फोट के रूप मे बाहर आ जाती है तो परिवार के परिवार लड पडते हैं और आपस के मधुर सम्बन्ध भी कटुता में बदल जाते है सब के बीच विद्वेष की आग सुलग उठती है। यह आग ओसवालो मे या अग्रवालो मे या दूसरी जातियो में जहाँ भी जल रही है वहाँ बडे-बडे विचारक भी कभी कभी उसमें

हिस्सा लेने के लिए विवश हो जाते है और उसमे कुतर्क का घी डालकर बुझती शिखा को और अधिक प्रज्वलित कर देते हैं। इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा होती है और इस पर हम सोचते हैं कि जो लोग अपने जाति-बान्धवो के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करते हैं और उनसे भी लडते हैं, फिर वे छह करोड शूद्रो या अछूतो के साथ इन्सानियत का सद्-व्यवहार किस प्रकार कर सकेंगे ?

ऐसे लोग बडी गडबड मे पडे हुए हैं। भगवान् महावीर ने जो कठिन साधना की और उसके प्रतिफल मे जो महान् क्रान्ति आई और परिवर्तन का प्रवाह आया, उसमें बडे-बडे पुरोहितो ने अपनी उच्चता का अहकार छोड दिया और भगवान् के चरणो मे आकर सारे भेदभाव भुला दिए। उनके दिलो मे अपार करुणा प्रवाहित हो गई। दया का सागर ठाठें मारने लगा। किन्तु खेद है, उस महान् तत्त्व को आगे चलकर जब स्वय जैनो ने भी नही पहचाना तो फिर दूसरे कैसे पहचानें ? दूसरो ने तो इस दिशा मे हमारा सदैव विरोध ही किया है और निहित स्वार्थों की पूर्ति के लोभ वश अछूतो का पक्ष लेने के कारण हमें भी एक प्रकार से अछूत करार दे दिया गया।

एक जगह मैं ठहरा हुआ था। पास ही एक हलवाई की दूकान थी। वहाँ एक कुत्ता आया और मुँह लगाने लगा तो हलवाई ने डडा उठाया और कहा—दूर हट सरावगी !' यह शब्द सुनकर मैंने विचारा—यह 'दूर हट सरावगी' क्या चीज है ? और इस हलवाई के मन मे यह

मय प्रयोग क्या है ? मेरा मन इतिहास के पन्ने उलट गया। मालूम हुआ कि किसी जमाने में हमने अछूतों के पक्ष में नारा लगाया था और कहा था कि इन्सान के साथ इन्सान का-सा व्यवहार होना चाहिए। इस पर हमें भी अछूत हो करार दे दिया गया और सरावगी (श्रावक) को कुत्ते की पशु श्रेणी में रखा गया।

अब आप गहराई में उतरकर इस विषय में सोचेंगे तो मालूम होगा कि आप अपने को भले ही ऊँचा समझते हो परन्तु दूसरे लोग आपको भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं अपवित्र समझते हैं और चौके में बिठाने से परहेज करते हैं। यहाँ तक कि हम साधुओं को भी चौके में नहीं जाने देते। दिल्ली जैसे शहरों से दूर किसी देहात में जाने पर यही व्यवहार देखा जाता है कि—"अलग रहिए महाराज हम बाहर ही लाकर दे देंगे।

जब इस प्रकार की विपरीत भावनाएं नित्यप्रति देखने को मिलती हैं तो हम सोचते हैं कि इसमें जनता का दोष नहीं है। हम स्वयं भी तो इन्हीं संकीर्ण भावनाओं के शिकार हैं।

यहाँ तक कि आप जिन्हें नफरत की निगाह से देखते हैं वे भी इस अछूत से भेदभाव में भरे हुए हैं। आप छोटी जाति से घृणा करते हैं और वह छोटी जाति भी अपने से छोटी समझी जाने वाली जाति से घृणा करती है। इस दुखद दृश्य को देखकर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

हम देखते हैं कि यह एक ऐसा रोग है, जो ऊपर से नीचे तक फैल गया है, जडो में जम गया है। फलत इसका पूरी तरह परिमार्जन करने के लिए बहुत बडी क्रान्ति की अपेक्षा है। इस जटिल प्रश्न को हल करने के लिए गाँधीजी को अपना वलिदान देना पडा। गोडसे के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेष नही था, किन्तु दूसरी जाति वालो से प्रेम करने के कारण ही उन्हे गोली का शिकार बनना पडा। गाँधीजी ही नही, हमारे अनेक पूर्वजो को भी इसी प्रकार के अनेक आत्म-वलिदान देने पडे हैं।

हमारे अनेक साथी साधुओ मे भी यही विचार घर किये हुए हैं, फलत वे भी इन सामाजिक सकीर्णताओ मे फँसकर जातिवाद का कट्टर समर्थन करते हैं। हाँ, तो हमे उनके विचारो को भी माँजना है।

मैंने इस घृणा और द्वेष की भावना को जातिगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और समूहगत हिंसा का रूप दिया है। मनुष्य को मनुष्य के रूप मे न देखकर जात-पाँत के नाते घृणा और द्वेष की सकुचित दृष्टि से देखना, हिंसा नही तो क्या है?

कभी-कभी मनुष्य अपने दैनिक नीतिमय व्यवहार मे भी उक्त जातीय विचारो के कारण गडवडा जाता है। एक बालक ठोकर खाकर रास्ते मे गिर पडता है और आप उसे उठाने को चलते हैं। जब उसके ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि उच्च होने का पता चलता है तो आप उसे खुशी-खुशी उठा लेते हैं, परन्तु जब यह मालूम होता है कि यह तो भगी

का बालक है तो आपका मन दुविधा में पड़ जाता है। आप उसे उठाएँगे या नहीं ? यदि कोई ऐसा उदारमना भाग्यशाली है जो उसे उठा लेता है तो मैं उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखूंगा। मै समझूंगा कि उसकी आँखों में मनुष्यत्व की दृष्टि पैदा हो गई है। किन्तु जहाँ इन्सान की आँख नहीं है वहाँ आदमी गड़बड़ा जाता है और सोचने लगता है कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय ?

कोई कष्ट-पीड़ित है और आपत्ति-ग्रस्त है और तुम उसका उद्धार करने चले हो। किन्तु यदि जात-पाँत को पूछकर चले हो तो तुम उसके कष्ट को कभी नहीं देख सकोगे उसकी जात-पाँत को ही देख पाओगे। क्योंकि यह ऐसी विषमता है जिसने हमारे सामाजिक जीवन को एक सिर से दूसरे सिरे तक विकृत कर दिया है। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर का विचार एकदम स्पष्ट था। वे तो गुणो की पूजा करने वाले गुण-ग्राही थे जाति की पूजा करने वाले नहीं। उनके पास ब्राह्मण आता है और यदि वह योग्य है तो उसका स्वागत होता है क्षत्रिय है और उसमे गुण हैं तो उसका भी आदर होता है और यदि कोई साधारण जाति मे जन्म लेने वाला शूद्र या अछूत है किन्तु अहिंसा और सत्य की सुगन्ध उसके जीवन में महक रही है तो शास्त्रकार कहते है कि मनुष्य तो क्या देवता भी उसके चरण छूने को लालायित हो उठते हैं। अस्तु, देवताओ ने भी उसके लिए जय-जयकार के नारे लगाए! और स्वयं भगवान् महावीर ने भी उनका हृदय से स्वागत किया।

हरिकेशी मुनि के सम्बन्ध मे आगमो मे जो सुन्दर वर्णन है, वह जैनो के पास वहुत वडी सम्पत्ति है, एक वडी नियामत है और एक सुन्दर खजाना है। हमने कितनी ही गलतियां की हैं और अब भी उनकी पुनरावृत्ति करते जा रहे हैं, किन्तु हमारे पूर्वज उन गलतियो के शिकार नही वने थे। उन्होने मनुष्य को मनुष्य के रूप मे पहचाना, मनुष्य के गुणो की ही प्रशसा की, धनवान् होने के नाते कभी किसी का आदर नहीं किया और जात-पांत के लिहाज से भी कभी किसी का सत्कार-सम्मान नही किया। तभी तो उत्तराध्ययन की उज्ज्वल वाणी चमकी है —

सोवागकुलसभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसी भिक्खू जिइ दिओ॥—उत्त० १२, १

हरिकेशी मुनि श्रेष्ठ गुणो के धारक और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले आदर्श भिक्षु थे। उनके गुणो का का उल्लेख करने के साथ ही साथ शास्त्रकार इस बात का भी उल्लेख करने से नही चुके कि वह मुनि 'श्वपाक-चाण्डाल' कुल मे उत्पन्न हुए थे, बल्कि सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया है। यह उल्लेख हमें शास्त्रकार के हृदय तक ले जाता है और इसके द्वारा हम समझ सकते हैं कि शास्त्रकार के मन मे क्या भावना रही होगी। जिनके नेत्र निर्मल हैं, वे इस उल्लेख में सम्पूर्ण भारतवर्ष की और विशेषत जैनो की प्राचीन सस्कृति को भली-भाँति देख सकते हैं।

हरिकेशी मुनि ने पूर्व-सस्कारो के कारण ही चाण्डाल

कुल म जन्म लिया। जीवन-यात्रा मे कभी-कभी बडी भटपटी घटनाएँ आती है सावधान रहने पर भी मनुष्य कदाचित् ठोकर खा ही जाता है और गिर भी पडता है किन्तु सच्चा बहादुर वही है जो गिरकर भी उठ खडा होता है और होश-हवास को दुरुस्त कर लेता है। हरिकेशी उन्ही वीरों मे से एक थे। कही भूल हो गई और गिर गए, किन्तु उन्होने अपने जीवन को और भ रता को फिर सभाला और ऊपर उठ गए। जब वे गृहस्थ थे सब ओर से उन्हे मनादर और धिक्कार मिला। किसी ने भी उनका सम्मान सत्कार नही किया। किन्तु जब उन्होने मन पर भाडू दिया उसे साफ किया तो वही श्रेष्ठ गुणो को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गए।

एक तरफ पण्डित लोग वाद-विवाद करते हैं शास्त्रार्थ करते है और जन्मगत जाति की उच्चता का यह दावा करते है कि मानव-सृष्टि मे केवल ब्राह्मण ही पवित्र और श्रेष्ठ है। शास्त्रार्थ चला चलता है और अन्त में हरिकेशी का गुणकृत ब्राह्मणत्व ही श्रेष्ठ प्रमाणित होता है फलत देव दुन्दुभियाँ बजने लगती है और देवगण जय-जयकार की ध्वनि से पृथ्वी और आकाश को गुजा देते हैं। रत्नों की वर्षा होती है और साथ ही साथ सुन्दर विचारो की भी अमृत वर्षा होती है। उसी जय-घोष के स्वरो म भगवान् महावीर ने कहा है—

सक्ख खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोवि ।
सोवागपुत्त हरिएसमाहुँ, जस्सेरिसा इड्ढी महाणुभावा ॥
—उत्तराध्ययन १२, ३७

एक-एक शब्द मे चिरन्तन सत्य की गगा बह रही है। एक-एक शब्द में गुणो के प्रति अनुराग रस भरा है। शताब्दियो से इस गाथा मे से अमृत का भरना बह रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से अपने भीतर उसे समा लेने की शक्ति हम मे नही रह गई है। हम उसे पढते हैं और आगे चल देते हैं। विचारो के इस अमृत-निर्भर को हम अपने जीवन मे नही उतार पाते हैं। शास्त्रकार कितने प्रभावशाली शब्दो मे चुनौती देकर, मानो कह रहे हैं—"प्रत्यक्ष मे तुम देख सकते हो कि विशेपता तप मे है, विशेषता गुण मे है और विशेषता जीवन की पवित्रता में है। जाति में कोई विशेषता दिखाई नही देती, वह तो केवल उच्चता के अहकार से पैदा होने वाली कोरी कल्पना है। हरिकेशी साधु चाण्डाल का लडका था और उसने चाण्डाल के कुल मे जन्म भी लिया था, किन्तु उसके ऐश्वर्य को देखिए! उसके यश. सौरभ को परखिए कि देवगण भी उसका जय-घोष कर रहे हैं।"

उत्तराध्ययन की यह पवित्र वाणी आज भी मौजूद है और हमारे पक्ष का पूर्णत समर्थन करती है। जात-पांत के विरुद्ध इससे बडा और क्या प्रमाण चाहिए? यदि इतने पर भी किसी को समभ नही आती, तो उसके लिए दूसरे प्रमाण भी क्या निरर्थक ही सिद्ध न होगे?

यदि किसी ने नीची समभी जाने वाली जाति मे जन्म

से भी लिया तो क्या हो गया ? वह उसी जीवन में दूसरी बार फिर जन्म ले सकता है। दूसरा जन्म गुणों के द्वारा लिया जाता है मनन और चिन्तन के द्वारा लिया जाता है। पुरुषार्थ एवं प्रयत्न के द्वारा अपने हाथों अपने जीवन का जो निर्माण होता है वही सबसे बड़ा निर्माण समझना चाहिए। शास्त्रकार की भाषा मे वही दूसरा जन्म है।

महाभारत म एक कथा आती है—कर्ण एक बढ़ई का लड़का है यह बात प्रसिद्ध थी। जब वह युद्ध के मैदान मे उतरता है तो जन्म-जात क्षत्रिय उसका उपहास करते हैं और चिढ़ाते हैं कि—'आप यहाँ कैसे आ पहुँचे। यह तो युद्ध-क्षेत्र है। यहाँ तो तलवारों का काम है लकड़ी छीलने या चीरने का काम नहीं है। आपको तो किसी वन मे जाना चाहिए था। इस प्रकार का मजाक सुनकर भी वह दृढ़-संकल्पी और आत्म-विश्वासी वीर कर्ण किंचित भी रुष्ट नहीं और शर्माया भी नहीं। वह उन जन्म-जात क्षत्रियों को ललकारता है।

हाँ तो कर्ण युद्ध-क्षेत्र मे पहुँचकर कहता है—"तुम जन्म-जात क्षत्रिय हो और तलवारों को सदियों से उठाते भी आ रहे हो। और इधर मैंने तो अपने कुल में स्वयं के पुरुषार्थ पर, बस यही एक तलवार उठाई है। किन्तु यही तलवार तुम्हें बतलाएगी कि युद्ध मे किसकी तलवार ज्यादा चमकती है। उसने निर्भीक भाव से घोषणा की—

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नही ? मान लीजिए कि किसी को नीच गोत्र मिला है। किन्तु उसने तत्त्व का चिन्तन और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्च श्रेणी का आचरण प्राप्त किया है, तो उसी जीवन मे उसका गोत्र बदल सकता है या नही ? यदि तर्क द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नही बदल सकता तो मुझे अपने विचारो को समेट कर एक कोने में डाल देना पडेगा। किन्तु यदि गोत्र का बदलना प्रमाणित हो जाता है तो आपको भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और विना किसी आग्रह के हम सबको उसे अपनाने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

कल्पना कीजिए—एक उच्चगोत्री है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है, परन्तु आज वह बुरा काम करता है और मुसलमान वन जाता है। हालाँकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नही देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए।

हाँ, तो एक ओसवाल या अग्रवाल यदि मुसलमान वन जाता है तो क्या आप उसे उस वदले हुए दूसरे रूप में समझते हैं या उसी पहले के रूप मे स्वीकार करते हैं ? आप उसे दूसरे रूप मे स्वीकार करते हैं। अर्थात् वह आपकी निगाहो से गिर गया है और उसमे उच्च गोत्र नही रह गया है। अव आप उसे पहले की तरह अपने साथ बिठाकर

एक साथ भोजन नही करते। जब ऐसी धारणा है तो इसका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र स्थायी नही रहा और वहाँ जन्मगत जातीय धारणा भी नही रही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहा तब तक उच्च बना रहा और जब उसका पतन हो गया और उसने अपने आचरण में एक बड़ी बुराई पैदा करली और तदनुसार किसी दूसरे रूप मे बसा गया तो वह गोत्र बदलना ही है। पहले वह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या और कुछ भी क्यों न रहा हो किन्तु अब तो वह प्रत्यक्ष रूप में बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

अस्तु, जो बात उच्च गोत्र के सम्बन्ध मे है वही बात नीच गोत्र के सम्बन्ध मे क्यो नही स्वीकार करते? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा उच्चगोत्र-बदल जाता है और नीच गोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा क्यो नही बदल सकता? नीच गोत्र को उच्च गोत्र मे बदलने से रोकने वाला कौन है? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीच गोत्र बदल नही सकता और वह जन्म भर नीचा ही बना रहेगा यह कहाँ का न्यायसंगत सिद्धान्त है? जब उच्च गोत्र स्थायी नही रहता है तब फिर नीच गोत्र किस प्रकार स्थायी रह सकता है?

अभिप्राय यही है कि नीच गोत्र और उच्च गोत्र का वास्तविक स्वरूप क्या है? जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है तब नीच गोत्र मे रहता है और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है तो वही 'महाजनी' के नाम से या और किसी अच्छे

सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्त कुले जन्म, ममायत्त हि पौरुषम् ॥

अर्थात्—"मै बढई हूँ या बढई का लडका हूँ, तो क्या हुआ ? मैं कोई भी हूँ, तुम्हे इससे क्या प्रयोजन है ? पुराने जन्म के सस्कारो के कारण मैंने कही जन्म लिया है, उसे क्या देखते हो ? अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के द्वारा मैंने अपने जीवन का जो यह नव-निर्माण किया है, यदि साहस रखते हो तो इसे परखिए। तुम लोग जन्म से क्षत्रिय हो, और मैं पुरुषार्थ-कर्म से क्षत्रिय बना हूँ। रण-क्षेत्र बतला देगा कि वास्तव मे कौन सच्चा क्षत्रिय है ?"

कर्ण की इस ज्वलन्त वाणी को हमे अपने मन में सुरक्षित रख लेना है। कर्ण के इस निर्भीक भाव को हमें अपने अन्त करण की गहराई मे ले जाना चाहिए कि—"कोई किसी भी जाति में पैदा हुआ हो अथवा रहता हो, किन्तु अपने गुणो के द्वारा वह ऊँचा उठ सकता है और पवित्र बन सकता है।"

वाल्मीकि पहले किस रूप मे थे ? दस्यु ही थे न। परन्तु जब उनका जीवन बदला तो आखिर उन्हे महर्षि के पद पर प्रतिष्ठित करना ही पडा। हरिकेशी कुछ भी रहे हो, किन्तु जब उन्होने आदरणीय गुण प्राप्त कर लिए तो उनका आदर किया ही गया। आखिर, गुण कब तक ठुकराए जा सकते हैं ? कभी न कभी तो उनकी चमक बाहर आएगी ही, और जीवन में दिव्य प्रकाश पैदा होकर रहेगा।

जैनो मे उच्चगोत्र और नीचगोत्र की बात चलती है। कुछ लोग इस विषय मे पूछ लेते हैं और कोई मन मे ही घुटते रहते हैं। कोई पूछे या न पूछे, जब हम विचार-क्षेत्र मे कूद पड़े हैं तो कभी-कभी कोने मे और कभी मैदान मे भी विचार कर ही लेते हैं। स्वयं विचार करके और जैन शास्त्रो का अध्ययन करके जो कुछ संचय किया है उस तत्त्व-ज्ञान को स्पष्ट रूप से जनता के सामने रख देना है और उलझी हुई गुत्थियो को सुलझाने का भरसक प्रयत्न करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

हाँ तो अब उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र के सम्बन्ध मे विचार करना है। यदि कोई प्रतिष्ठित माने जाने वाले कुल मे पैदा हो गया है तो वह उच्चगोत्रीय कहलाया और यदि अप्रतिष्ठित समझे जाने वाले कुल मे उत्पन्न हो गया तो नीचगोत्रीय कहलाने लगा। इस सम्बन्ध मे पहली बात जो ध्यान देने योग्य है वह है कि कुल की प्रतिष्ठा क्या सदैव एक-सी रहती है? नहीं वह तो उस कुल के व्यक्तियो के व्यवहार के द्वारा बदलती भी देखी जाती है। एक व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण कुल की प्रतिष्ठा को बढाता है और इसके विपरीत एक व्यक्ति का नीच और गलत आचरण कुल की प्रतिष्ठा मे धब्बा लगा देता है सारी प्रतिष्ठा को धूल म मिला देता है। ऐसी स्थिति मे किसी भी कुल की अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा कोई शाश्वत वस्तु नहीं है। वह तो जनता के विचार-कल्पना की चीज है वास्तविक वस्तु नहीं है।

—

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नही ? मान लीजिए कि किसी को नीच गोत्र मिला है। किन्तु उसने तत्त्व का चिन्तन और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्च श्रेणी का आचरण प्राप्त किया है, तो उसी जीवन मे उसका गोत्र बदल सकता है या नही ? यदि तर्क द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नही बदल सकता तो मुझे अपने विचारो को समेट कर एक कोने मे डाल देना पडेगा। किन्तु यदि गोत्र का बदलना प्रमाणित हो जाता है तो आपको भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और विना किसी आग्रह के हम सबको उसे अपनाने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

कल्पना कीजिए—एक उच्चगोत्री है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है, परन्तु आज वह बुरा काम करता है और मुसलमान बन जाता है। हालांकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नही देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए।

हाँ, तो एक ओसवाल या अग्रवाल यदि मुसलमान बन जाता है तो क्या आप उसे उस बदले हुए दूसरे रूप मे समझते हैं या उसी पहले के रूप मे स्वीकार करते हैं ? आप उसे दूसरे रूप मे स्वीकार करते हैं। अर्थात् वह आपकी निगाहो से गिर गया है और उसमे उच्च गोत्र नही रह गया है। अब आप उसे पहले की तरह अपने साथ विठाकर

एक साथ भोजन नहीं करते। जब ऐसी धारणा है तो इसका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र स्थायी नहीं रहा और यहाँ भगवान की धारणा भी नहीं रही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहा तब तक उच्च बना रहा और जब उसका पतन हो गया और उसने अपने आचरण में एक बड़ी बुराई पैदा करली और तदनुसार किसी दूसरे रूप में चला गया तो वह गोत्र बदलना ही है। पहले वह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य था और कुछ भी क्यों न रहा हो किन्तु अब तो वह प्रत्यक्ष रूप में बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

अस्तु, जो बात उच्च गोत्र के सम्बन्ध में है वही बात नीच गोत्र के सम्बन्ध में क्यों नहीं स्वीकार करते? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा उच्चगोत्र—बदल जाता है और नीच गोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा क्यों नहीं बदल सकता? नीच गोत्र को उच्च गोत्र में बदलने से रोकने वाला कौन है? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीच गोत्र बदल नहीं सकता और वह जन्म भर नीचा ही बना रहेगा यह कहाँ का न्यायसंगत सिद्धान्त है? जब उच्च गोत्र स्थायी नहीं रहता है तब फिर नीच गोत्र किस प्रकार स्थायी रह सकता है?

अभिप्राय यही है कि नीच गोत्र और उच्च गोत्र का वास्तविक स्वरूप क्या है? जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है तब नीच गोत्र में रहता है और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है तो वही 'भगवती' के नाम से या और किसी अच्छे

गोत्र में परिणत हो जाता है।

अब जरा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी विचार कीजिए। सिद्धान्त की मान्यता है कि साधु का छठा गुणस्थान* है और छठे गुणस्थान में नीच गोत्र का उदय नहीं होता। हरिकेशी नीच जाति में उत्पन्न हुए थे और साधु बन गए। अब प्रश्न यह है कि साधु बन जाने पर वह नीच गोत्र में रहे या नहीं? यदि वे नीच गोत्र में ही रहे तो उन्हें छठा गुणस्थान नहीं होना चाहिए और साधु का दर्जा भी नहीं मिलना चाहिए। किन्तु शास्त्र यह बतलाता है कि वे तो महामहिम मुनि थे और उन्हें छठा गुणस्थान प्राप्त था। छठे गुणस्थान में नीच गोत्र नहीं रहता है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि हरिकेशी नीच गोत्र से बदलकर उच्च गोत्र में पहुँच चुके थे। तो अब आपको स्वयं ही यह फैसला करना पड़ेगा कि नीच गोत्र भी उच्च गोत्र के रूप में बदल जाता है। उच्च गोत्र और नीच गोत्र दोनों गोत्र-कर्म की अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। अवान्तर प्रकृतियों का एक-दूसरी के रूप में संक्रमण हो सकता है। यह बात सिद्धान्त को जानने वाले भली-भाँति समझ सकते हैं।

हरिकेशी मुनि नीच गोत्र की गठरी अपने सिर पर रखकर छठे गुण-स्थान की ऊँचाई पर नहीं चढ़े थे। यह बात इतनी ठोस और सत्य है कि जब तक आप शास्त्र को प्रमाण मानने से इन्कार न कर दें, तब तक इससे भी

---

* आध्यात्मिक विकासक्रम की भूमिकाओं में से एक सर्वविरति रूप पूर्ण चारित्र की भूमिका, जो साधु की भूमिका कहलाती है।

इन्कार नही कर सकते। यदि आप शास्त्र के निर्णय को स्थायी रूप से कायम रखना चाहते हैं तो आपको उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र के आजीवन स्थायित्व की मान्यता को खत्म करना ही होगा।

दूसरी बात यह है कि उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र का छुआछूत के साथ कोई सम्बन्ध नही है। छुआछूत तो केवल लौकिक कल्पना मात्र है। जो कष्ट मे पड़ा है और बेहोश हो रहा है आप उसके पास खड़े-खड़े टिकुर-टिकुर देखते है और अछूत समझकर उसे हाथ नही लगा सकते। कोई भी सच्चा सिद्धान्त इस धारणा का समर्थन नही करेगा। सच्चे शास्त्र इस निंद्य व्यवहार का अनुमोदन कभी नही करते। जब हम छुआछूत के सम्बन्ध मे विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि छुआछूत की कल्पना के साथ गोत्र-कर्म का कोई सम्बन्ध नही है। गाय भैंस घोड़ा हाथी आदि जितने भी पशु है उनको शास्त्रो के अनुसार आजन्म नीच-गोत्र रहता है। किसी भी पशु मे उच्च-गोत्र नही माना गया है। यदि नीच गोत्री होने मात्र से कोई अछूत हो जाता है तो सभी पशु अछूत होने चाहिएँ। गाय और भैंस भी अछूत होने चाहिएँ। किन्तु उनके दूध को तो आप हजम कर जाते हैं और फिर मनुष्य के लिए छुआछूत की बातें करते हैं! जो घोड़े पर सवार होते हैं और हाथी पर बैठने मे भी अपना सौभाग्य मानते है! उस समय वे क्यो भूल जाते है कि ये पशु नीच-गोत्री है और इस कारण अछूत हैं—यदि इन्हे छुएँगे तो धर्म डूब जाएगा और जाति विजाति हो जाएगी।

उसे सम्यग् दृष्टि प्राप्त हो गई है तो वह मनुष्य नहीं बल्कि देवता है। तीर्थङ्कर देव उसे देवता कहते हैं। उसके भीतर भी दिव्य ज्योति ठीक उसी प्रकार झलक रही है जैसे राख से ढँके हुए अङ्गार मे ज्योति विद्यमान रहती है और भीतर ही भीतर चमकती है।

मिथ्यादृष्टि देवता की तुलना मे भी सम्यग् दृष्टि शूद्र कहीं अधिक ऊँचा है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सद्गुणो की प्रतिष्ठा समाप्त हो जायगी। लोग जाति और सम्पत्ति को ही पूजने और गुणो की उपेक्षा करेंगे। गुणों की कला नीची हो जाएगी और उनके प्रति आदर का भाव भी समाप्त हो जाएगा।

जिस जाति मे गुणो का आदर होता है उसमें सद्गुण सदाचार और अच्छाइयाँ सर्वत्र पनपती है। दुर्भाग्य से हम उच्च-जाति वाले तथाकथित सदाचारी नीच-जाति वालो को समाज सेवा और धर्म साधना मे भी अग्रसर नहीं होने देते और उन्हें मजबूर करते हैं कि वे वहीं के वहीं सर्वथा अलग अलग पड़े रहे।

एक बार मैं विहार कर रहा था। धूप कुछ तेज पड़ रही थी अतएव विश्राम कर लेना चाहा। रास्ते मे एक तिदरा आया। तिदरे के सामने ही कुछ वृक्ष थे। विश्राम करने के लिए मै उन वृक्षो की छाया मे बैठने लगा तो साथ के एक श्रावक भाई ने कहा—महाराज! आपको छाया मे बैठना हो तो आगे बैठिए यहाँ मत बैठिए!

मैने कहा—यहाँ ऐसी क्या बात है?

कितने आश्चर्य की बात कही जाती है कि पशुओं को दुहने वाले, उनका दूध पीने वाले, उनके मल-मूत्र तक साफ करने वाले और उन पर सवारी करने वाले लोग भी जब मनुष्य का प्रश्न सामने आता है तो नीच-ऊंच की बात कहकर और अछूतपन की कल्पना करके अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होते हैं, अपने विवेक का दिवाला निकालते हैं, न्याय और नीति का गला घोटते हैं, और धर्म से दूर भागते हैं। किन्तु सिद्धान्त की जो वास्तविकता है, उसी को सर्वतोभावेन अंगीकार करना, हमारा मुख्य कर्तव्य है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जैन-धर्म एक ही सत्य-संदेश लेकर आया है और वह सन्देश सद्गुणों का है। चाहे कोई कितना ही पापी क्यों न रहा हो, वह जब तक दुराचारी है तभी तक पापी है। किन्तु ज्यों ही वह सदाचार की श्रेष्ठ भूमिका पर आता है, और उसके जीवन में सदाचार की सुगन्ध फैल जाती है तो वह ऊपर उठता है और उसके लिए मोक्ष का दरवाजा भी खुल जाता है। जैन-धर्म यह कभी नहीं कहता कि मोक्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ही मिलेगा, और शूद्र के लिये मोक्ष के मन्दिर पर कड़ा प्रतिबन्ध है। इस सम्बन्ध में हमारे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है —

> सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
> देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥
>
> —रत्नकरण्डश्रावकाचार,

अर्थात्—अगर कोई चाण्डाल से भी पैदा हुआ है किन्तु

उसे सम्यग् दृष्टि प्राप्त हो गई है तो वह मनुष्य नहीं बल्कि देवता है। तीर्थङ्कर देव उसे देवता कहते हैं। उसके भीतर भी दिव्य ज्योति ठीक उसी प्रकार झलक रही है जैसे राख से ढँके हुए अङ्गार में ज्योति विद्यमान रहती है और भीतर ही भीतर चमकती है।

मिथ्यादृष्टि देवता की तुलना में भी सम्यग् दृष्टि शूद्र कहीं अधिक ऊँचा है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सद्गुणों की प्रतिष्ठा समाप्त हो जायगी। लोग जाति और सम्पत्ति को ही पूजेंगे और गुणों की उपेक्षा करेंगे। गुणों की कक्षा नीची हो जाएगी और उनके प्रति आदर का भाव भी समाप्त हो जाएगा।

जिस जाति में गुणों का आदर होता है उसमें सद्गुण सदाचार और अच्छाइयाँ सर्वत्र पनपती हैं। दुर्भाग्य से हम उच्च-जाति वाले तथाकथित सदाचारी नीच-जाति वालों को समाज सेवा और धर्म साधना में भी अवसर नहीं होने देते और उन्हें मजबूर करते हैं कि वे वहीं के वहीं सर्वथा अलग अलग पड़े रहें।

एक बार मैं विहार कर रहा था। धूप कुछ तेज पड़ रही थी फलतः विश्राम कर लेना चाहा। रास्ते में एक तिदरा आया। तिदरे के सामने ही कुछ वृक्ष थे। विश्राम करने के लिए मैं उन वृक्षों की छाया में बैठने लगा तो साथ के एक श्रावक भाई ने कहा—महाराज! आपको छाया में बैठना हो तो आगे बैठिए यहाँ मत बैठिए।

मैंने कहा—यहाँ ऐसी क्या बात है?

तब वह बोला—आपको मालूम नही कि यह तिदरा, वृक्ष और कुँआ एक वेश्या की सम्पत्ति से बने हैं। वेश्या, पहले वेश्यावृत्ति करती थी किन्तु बाद मे वह प्रभु की भक्त पुजारिन बन गई और जब ईश्वर-भक्ति मे लग गई तो उसने सोचा कि कुछ परोपकार का काम करूँ। इसी विचार से प्रेरित होकर उसने वेश्यावृत्ति से कमाए हुए अपने धन से ये सब बनवाए हैं। जब ऐसे निकृष्ट धन से बनवाये गए हैं तो फिर आप सरीखे संत को यहाँ नही बैठना चाहिए।

मैंने सोचा—एक तरफ तो यह कहता है कि वेश्या बदल गई, भक्त बन गई और जब उसमे सद्बुद्धि जागृत हुई तो उसने अपने पिछले आचरण के प्रायश्चित्त के रूप मे यह सत्कार्य किया और दूसरी ओर यहाँ बैठने से भी परहेज करने को कहता है? दुर्भाग्य है हमारे समाज का कि सैकडो लोग उस कुँए का पानी भी नही पीते और तिदरे मे बैठने तथा वृक्ष की छाया मे विश्राम लेने मे भी पाप समझते हैं। ऐसे अभागे लोगो को आप दान और पुण्य भी नही करने देते। क्या उनका दान और पुण्य भी अपवित्र हैं? बस, आपके ही हाथ की कमाई पवित्र है, चाहे वह जनता का रक्त-शोषण करके ही क्यो न एकत्र की गई हो?

वास्तव मे वेश्या की कमाई, गलत कमाई थी, किन्तु बाद मे उसके अन्दर जब सद्बुद्धि जागृत हो गई और उसने प्रायश्चित्त के रूप मे सारा धन सत्कर्म मे लगा दिया, तो क्या हमे अब भी उससे घृणा करनी चाहिए?

वेश्या का पिछला जीवन पापमय अवश्य रहा किन्तु जब उसने अपने जीवन को मांज लिया और वह उस पाप से मुक्त भी हो गई तब फिर उससे घृणा करने वाले और उसे घृणा की दृष्टि से देखने वालों को क्या कहा जाय? ईर्ष्या और घृणा यदि पाप हैं तो वे वर्तमान में भी पाप में पड़े हुए हैं और आन्तरिक हिंसा के शिकार हो रहे हैं। विवेकशील पुरुषों की दृष्टि में तो उस वेश्या की अपेक्षा भी वे विचार-दरिद्र अधिक दया के पात्र हैं।

हाँ तो अभिप्राय यही है कि जहाँ ईर्ष्या है द्वेष है घृणा है मिथ्या अहंकार है और मनुष्य के प्रति अपमान की हीन भावना है वहाँ हिंसा है। जब हम हिंसा के स्वरूप पर विचार करें तो इस भयानक हिंसा को न भूल जाएँ और जब अहिंसा की साधना के लिए तैयार हों तो पहले आन्तरिक हिंसा को दूर करें चित्त को पूर्णतः निर्मल बनाएँ कम से कम समग्र मानव जाति को प्रेम एवं मित्रता की उच्च भावना से देखें और तब क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते अहिंसा के वरिष्ठ आराधक बनें।

—: ४ :—

पवित्रता का मूल स्रोत

जब कभी हम अपने जीवन के अन्तरग मे पहुँचते हैं और अपने जीवन के मर्म को छूने की चेष्टा करते है तो प्रतीत हुए बिना नही रहता कि जीवन की पगडडियाँ भिन्न-भिन्न नही है। सब की एक ही राह है और वह है—जीवन की पवित्रता। बाहर मे भले ही हम अलग-अलग रूप मे चलते हैं और अलग-अलग रूप मे अपनी मजिल भी तय कर रहे हैं—सम्प्रदाय के रूप मे, धर्म, मत, पथ और जातियो के रूप में बाहर की राहे बहुत-सी हैं, किन्तु, जीवन के अन्दर की राह तो एक ही है।

जीवन की पवित्रता के पथ पर जो पथिक हैं वे अपना उत्थान करते हैं। और जो इस राह के राही नही हैं, वे बाहर मे चाहे जैसा जीवन बिताएँ, अन्तरग मे यदि पवित्रता की भावना नही है, तो जीवन-विकास की सही दिशा मे दृढता के साथ कदम नही बढा सकते।

वस्तुत अहिंसा ही पवित्रता की सबसे बडी एव सुनिश्चित पगडडी है। हमे जो मनुष्य-जीवन मिला है वह सुगमता से नही मिला, अपितु पूर्व-जन्म के सचित पुण्य-

कर्मों तथा कठिन साधना के प्रतिफल मे मिला है। अतः इसकी सार्थकता के लिए यह विचार जरूरी है कि इसकी उपयोगिता तथा उद्देश्य क्या है? हमें इस जीवन का उपयोग ससार के कल्याण के लिए करना है जनता के दुःख-दर्द को कम करने के लिए करना है अपने जीवन को सद्गुणों की सुगन्ध से पूर्ण कर दुनिया मे फैला सामाजिक कुरीतियों की दुर्गन्ध का दूर करने के लिए करना है अथवा हमें इस नर जन्म के द्वारा समाज का प्रगति में रोड़े अटकाना है और समाज की कठिनाइयों मे अपनी ओर से एक नई बढ़ाकर कठिनाइयों के जाल को सुदृढ़ करना है?

इस सम्बन्ध म भगवान् महावीर का एक ही सुनिश्चित मार्ग है और वह मार्ग यह है कि— 'तुमने जो जीवन पाया है उसका उपयोग प्राणि-समाज की अन्तरग और बाह्य दोनों ही तरह की समस्याओं को सुलझाने के लिए करो। यदि समस्याएँ पारिवारिक भूलों से पैदा हुई हैं तो उन भूलों की खोज करो। और यदि व समाज की भूलें हैं तो उन्हें भी ठीक करो। इसी प्रकार से तुम्हारे देश मे या आस-पास के ससार में जो भूलें या गलतियाँ हो गई हो और जिनके कारण मानव-जीवन म काँटे पैदा हो गए हो उनको भी एक-एक करके चुनना और जीवन-मार्ग से अलग करना है। जीवन-मार्ग को स्वय अपने लिए और दूसरों के लिए भी साफ एव सहज बनाना ही मनुष्य जीवन का मूल ध्येय है।"

इस प्रकार अहिंसा अपनी महती उपयोगिता के अनुसार फूलों की राह है काँटों की नहीं। कहने को तो हमें कठिनाई

मालूम होती है और जब-जब हम अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते है और चलते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि यह जीवन की महज सुगन्ध राह नही है, किन्तु जीवन यदि चलेगा तो अहिंसा के मार्ग पर ही चलेगा। हिंसा के द्वारा जीवन मे कठिनाइयाँ ही बढती हैं, उसके द्वारा किसी कठिनाई को किसी भी अश मे हल कर सकना बिल्कुल सम्भव नही है। अतएव 'हिंसा' और 'अहिंसा' को आज भली-भाँति समझ लेना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक हिंसा का विस्तृत रूप पिछले प्रकरण मे प्रस्तुत किया गया है और आज फिर उसी विषय पर विचार किया जाएगा। हिंसा के विविध रूपो को समझे बिना अहिंसा को पूरी तरह समझा नही जा सकता।

हाँ, तो जैन-धर्म ससार को एक सन्देश देने के लिए आया है कि—'जितने भी मनुष्य है, वे चाहे ससार के एक छोर से दूसरे छोर तक कही भी क्यो न फैले हो, सब मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलत अलग-अलग नही हैं। उनका अलग-अलग कोई समूह नही है। विभिन्न जातियो के रूप मे जो समूह आज बन गए हैं, वे सब विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धो को लेकर ही बने हैं। आखिर, मनुष्य को जिन्दगी गुजारनी है तो उसे पेट भरने के लिए कोई न कोई उपयोगी धन्धा करना ही पडता है। कोई कपडे का व्यापार करता है, कोई अन्न का व्यापार करता है, कोई दफ्तर जाता है और कोई कुछ और कर लेता है। यह तो जीवन की सामान्य समस्याओ को हल करने के सामान्य तरीके हैं।

किन्तु इन तरीकों के विषय में मनुष्य ने जो पवित्रता और अपवित्रता के भाव बना लिए है कि—अमुक जाति पवित्र है और अमुक जाति अपवित्र है यह कितना भ्रमपूर्ण है ? इस सम्बन्ध में मैं तो अपना यही विचार व्यक्त करना चाहूँगा कि यह कोरा मिथ्या अहंकार है और कुछ भी नही है।

मनुष्य के जीवन में अपने आपको श्रेष्ठ और ऊँचा समझने की एक वृत्ति है और वह वृत्ति छोटे से छोटे बच्चे मे प्रत्येक नौजवान मे और बूढे मे भी एक-सी देखी जाती है। जहाँ वह अपने अभिमान को चोट लगते देखता है वहीं तड़पता जाता है और जब कभी दूसरों के सामने अपना अपमान होते देखता है तो आपे मे नही रहता। इस प्रकार मनुष्य की प्रकृति में एक भावना विद्यमान है जो अन्दर ही अन्दर बचपन से ही चली आ रही है। मनुष्य के स्वभाव मे अपने आपको श्रेष्ठ समझने का जो अहंभाव है वह चारो ओर से उसका पोषण करना चाहता है। किन्तु यह विचार धारा यदि अपने आप तक ही सीमित है तो बुरी नही है।

मेरा ऐसा भी विचार है कि भारतवर्ष के कुछ लोगों मे एक बात और पाई जाती है। वे अपने आपको तुच्छ और दीन-हीन समझने की हीन मनोवृत्ति से घिरे रहते हैं। वे अपने में दुनिया भर के पाप और बुराइयाँ समझ कर चलते हैं। इसी भावना का यह दुःखद परिणाम है कि ऐसे लोग जब चलते हैं तब रोते और भिझकते हुए दिखाई देते हैं। उनमे आत्म-विश्वास नही होता। आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति के प्रति उनके मन मे दृढ आस्था का अभाव रहता

हैं। फलत मानव की यह हीन वृत्ति अभीष्ट लक्ष्य की ओर दृढता से कदम बढाने मे सदैव बाधक होती है।

मनुष्य के भीतर जो 'अहम्' है अथवा 'मैं' है, वही स्वय आत्मा है। आप 'अहम्' को अलग नही कर सकते, 'मैं' को त्याग नहीं सकते। क्योकि 'अहम्' को त्याग करने का विचार वाला तो आत्मा है, और आत्मा भला आत्मा का त्याग कैसे कर सकता है ? त्याग करने वाला और जिसे त्याग करना है, अर्थात्—त्यागी और त्याज्य वहाँ दोनो एक ही हैं। अतएव अपने 'अहम्' का त्यागना न तो शक्य है, और न वांछनीय ही है। अपने आपको उत्कृष्ट समझने की बुद्धि शुद्ध रूप मे यदि आपके अन्दर उत्पन्न हो जाएगी तो वह आपके जीवन मे अनेक अच्छाइयो का स्रोत बहा देगी। किन्तु जब वही 'अहम्' विकृत और दूषित रूप मे आपके अन्दर उदित होता है तो आपको गिरा देता है। अपने आपको श्रेष्ठ समझने के कारण जब अपनी उच्चता का प्रदर्शन करने के लिए दूसरो को नीचा समझने की वृत्ति अन्त करण मे उत्पन्न हो जाती है और तदनुसार दूसरो को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, और फलत उनको अपवित्र भी मान लिया जाता है, तो समझ लीजिए कि आपका 'अहम्, शुद्ध रूप मे नही जगा है। वह पूर्णत विकृत और दूषित हो गया है। वह आपके जीवन को ऊँचा नही उठाएगा और पवित्र भी नही बनाएगा।

जब आप दूसरो को नीचा समझकर ही अपनी उच्चता मान लेते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपके अन्दर

अपनी कोई उच्चता नहीं है और मनमानी उच्चता पर आपने अपने को सन्तुष्ट कर लिया है । बस यही सतोष आपका प्रबल शत्रु है । वह आपको आगे बढ़ने से रोकता है और ऊँचा भी नहीं बढ़ने देता । अत निश्चित रूप से समझ लीजिए कि आपके जीवन मे उच्चता और अपवित्रता यदि सचमुच आने वाली है तो वह दूसरों को नीच और अपवित्र समझने से कभी नहीं आएगी बल्कि आप स्वय नीचे गिरते जाएँगे और एक दिन अपने को अध पतन के गर्त मे पाएँगे ।

जैन-धर्म मनुष्य के सामने सदैव यही सन्देश रखता आया है कि— 'मनुष्य ! तू अपने को पवित्र समझ और श्रेष्ठ मान ! तू ससार मे भूलने भटकने के लिए नही आया है ! तेरा जीवन रेंगते और रगड़ खाते चलने के लिए नही है । तू ससार मे बहुत श्रेष्ठ बनकर आया है ! अनन्त-अनन्त पुण्यों का सचय होने पर ही तू ने मानव का रूप पाया है । तुझे मानव-जीवन की जो पवित्रता प्राप्त हुई है वह इतनी महान् और दिव्य है कि देवताओ की पवित्रता भी उसके सामने नगण्य है ।

अस्तु, जैन धर्म ने आत्म-विश्वास का यह सन्देश देकर मनुष्य के अन्दर मे से तुच्छ, दीन हीन और अपने को कुछ भी न समझने की वृत्ति को निकालने का सफल प्रयत्न किया है और उसके सुप्त 'महत्' को जगाया है । हमारे जीवन के चारो ओर जैन-धर्म की एक ही आवाज गूँज रही है—

'अप्पा सो परमप्पा ।'

अर्थात्—आत्मा ही परमात्मा है और पवित्र आत्मा ही ईश्वर का साक्षात् रूप है ।

इस प्रकार जैन-धर्म ने मनुष्य को एक बहुत बडा आदर्श मत्र यह प्रदान किया है कि–"तू नीचे आने के लिए नही, अपितु ऊपर उठने के लिए है । तेरे भीतर असीम सम्भावनाएँ भरी है, असख्य ऊँचाइयाँ विद्यमान हैं और तू आत्मा से परमात्मा बनने के लिए है । तेरे अन्तरतर मे परमात्मा की दिव्य ज्योति जगमगा रही है । गलतियाँ करके तू ने अपनी अन्त-र्ज्योति पर धूल डाल रखी है । इसलिये वह दिव्य प्रकाश मन्द हो गया है । तेरा काम कोई नई चीज प्राप्त करना नही है । तुझे अपने अन्त पट के ऊपर जमी हुई धूल को ही अलग कर देना है , और ज्यो ही वह धूल अलग होगी, तुझे जो पाना है वह सब अन्दर ही प्राप्त हो जाएगा । वह बाहर से नही मिलेगा । तुझे यदि भगवान् महावीर बनना है तो बन सकता है , और महात्मा बुद्ध, राम या कृष्ण जो भी बनना है वही बन सकता है । बस, अन्त पट पर जमी हुई धूल को विवेक के झाडन से झाड दे । एक कवि ने कहा भी है —

"पास ही रे हीरे की खान,
खोजता उसे कहाँ नादान ।"

—निराला

यह बात हमारे सामने प्राय निरन्तर आती रही है कि जैन-धर्म और भारतीय दर्शन ने मानव-जाति के समक्ष बहुत बडी पवित्रता का भाव उपस्थित किया है । मनुष्य अपने अहम् स्वरूप को भूल गया था और अपनी दिव्य ज्योति को

उसने भुला दिया था। जैन-धर्म ने पुकार कर कहा—'तू जीवन की राह का भूला हुआ राही है। सही पगडंडी को पहचान ले और उस पर बढ़ चल फिर भला तेरी मंजिल दूर कहाँ है?'

वस्तुतः मनुष्य एक राह-भूला राही है। परन्तु उन भूलों की नीची तह में अनन्त ज्योतिर्मय चेतना का जो पुंज दबा पड़ा है उससे यदाकदा पवित्रता की श्रेष्ठ और सुन्दर ध्वनि उठा करती है। दुर्भाग्य से मनुष्य उस आवाज को सुनकर भी गलत समझ लेता है। वह अपने पुरुषार्थ से और सत् प्रयत्नों से ऊँचा उठने की चेष्टा तो कम करता है किन्तु दूसरों को नीच और उनकी तुलना में अपने को उच्च समझने की उत्कट कामना करता है। इसी भूल ने जात-पाँत की भावना को पैदा किया है। इसी भूल ने एक वर्ग को ऊँचा और दूसरे वर्ग को नीचा समझने की भ्रामक प्रेरणा दी है। दूसरों को नीचा समझ लेने से वास्तव में वे नीचे नहीं हो जाते अपितु नीचा समझने वाला ही अवश्य नीचा बन जाता है क्योंकि वह जीवन की वास्तविक उच्चता को प्राप्त करने का प्रयत्न ही नहीं करता। वह तो अपनी कल्पित ऊँचाई में ही भूला रहता है। अतएव जिसे वास्तव में ऊपर उठना है उसे अपनी यह भूल सुधार लेनी होगी। इसके बिना न तो कोई व्यक्ति श्रेष्ठत्व पा सकता है और न समाज अथवा कोई देश ही उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

जैन-धर्म कहता है कि मनुष्य-जाति अपने आप में पवित्र है फलतः सभी मनुष्य पवित्र हैं। जो भूलें हैं गलतियाँ हैं वे

ही अपवित्र हैं। इसलिये वह दुराचारी से भी घृणा करना नही सिखाता। उसने बताया है कि चोर से घृणा मत करो, अपितु चोरी से घृणा करो। चोर तो आत्मा है और आत्मा कभी बुरा नही होता। जो तत्त्व तुम्हारे अन्दर है, वही चोर के अन्दर भी है। जो अच्छाइयाँ अपने में मानते हो, वही चोर में भी विद्यमान हैं। उसकी अच्छाइयाँ यदि चोरी के कारण छिप गई हैं तो आप अपनी अच्छाइयो को घृणा और द्वेष से छिपाने का, दबाने का क्यो प्रयत्न करते हो? इसके द्वारा तुम्हारे अन्दर कोई पवित्रता आने वाली नही है। हाँ, यदि आप चोरी को बुरा समझेंगे और चोर को घृणा की नही, किन्तु दया की दृष्टि से देखेंगे तो आप मे अवश्य ही पवित्रता जागृत हो उठेगी।

एक आदमी शराब पीता है। आपकी दृष्टि में वह गिर जाता है, किन्तु कल शराब छोड देता है और सभ्यता एव शिष्टता के सही मार्ग पर आ जाता है, अपने जीवन को ठीक रूप से गुजारने लगता है तो वह अच्छाई की दृष्टि से देखा जाता है या नही? अवश्य ही, जब वह बुराई को छोड देता है तो ऊँची निगाह से देखा जाता है। वास्तव मे शराब बुरी चीज है, अत वह कभी ठीक नही होने वाली है। चाहे वह ब्राह्मण के हाथ मे हो या शूद्र के हाथ में, महल में रखी हो या झोपडी मे, बुरी वस्तु, बुरी ही रहेगी। वह पवित्र बनने वाली नही है। किन्तु शराब पीना छोड कर आदमी पवित्र बन सकता है। चोर यदि चोरी करना छोड देता है तो पवित्र बन जाता है। इसी प्रकार दुराचारी भी दुराचार को

त्याग कर पवित्र बन सकता है।

हाँ तो प्रेम-धर्म ने बताया कि—तेरी घृणा व्यक्ति के असत् कार्यों पर हो व्यक्ति पर नहीं। चोर ने चोरी करना छोड़ दिया है शराबी ने शराब पीना त्याग दिया है और दुराचारी भी दुराचार से दूर हो गया है फिर भी यदि हम उसके प्रति घृणा नहीं त्याग सकते तो समझ लीजिए कि हम अहिंसा के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। अहिंसा की दृष्टि तो इतनी विशाल है कि हम पापी से पापी और दुराचारी से दुराचारी के प्रति भी घृणा का भाव भूल से भी उत्पन्न न होने दें। किन्तु दुर्भाग्य से आज समाज के पास अहिंसा की वह दृष्टि नहीं है फलतः ऐसी बुराइयाँ पैदा हो गई हैं जिनके उन्मूलन के लिए हमें घोर संघर्ष करना पड़ रहा है और यह संघर्ष सफलता प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक जारी भी रहेगा।

आज जिधर भी दृष्टि दौड़ाते हैं उधर ही घृणा और द्वेष के अशुभ चिह्न दिखाई देते हैं। वस्तुतः मन की संकीर्णता ही सबसे बड़ी और व्यापक हिंसा है। मनुष्य मनुष्य से घृणा और द्वेष कर रहा है। यह हमारे वर्ग का है तो हम उस पर प्रेम बरसाएँगे और दूसरे वर्ग का है तो द्वेष भाव प्रदर्शित करेंगे। जात-पाँत के नाम पर प्रान्त के नाम पर और सम्प्रदाय के नाम पर—चारों ओर से हम जीवन में इतनी घृणा प्रसारित कर चुके हैं कि यदि शीघ्र ही उसको दूर न कर सके तो हमारे जीवन का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकेगा।

मैं पूछना चाहूँगा कि मनुष्य जन्म से ऊँचा-नीचा होता

है या कार्य से ? यदि कोई जन्म से श्रेष्ठ होता है तो जैन-दृष्टि से रावण क्षत्रिय था और वैदिक दृष्टि से ब्राह्मण था, अत उसमे जन्मजात पवित्रता और उच्चता विद्यमान थी। किन्तु फिर भी उसे सामाजिक घृणा क्यो मिली ? भारत का इतिहास लिखने वाला प्रत्येक इतिहासकार रावण के प्रति क्यो व्यापक घृणा व्यक्त करता आ रहा है ? अभिप्राय यही है कि जन्म से कोई ऊँचाई नही आती। यही कारण है कि जब भी कभी जन्मजात उच्च कहलाने वाला व्यक्ति गलत मार्ग पर चलता मालूम होता है, भारतीय इतिहासकार उस दुराचार की निंदा करने को तैयार होता है और उस बुराई का तिरस्कार करने में अणुमात्र भी सकोच अनुभव नही करता। इतिहास ने यह नही देखा कि रावण क्षत्रिय था या ब्राह्मण। उसका जन्मजात क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व सामने नही आया किन्तु उसका कर्म ही प्रकाश मे आया। वही जाचा और परखा गया।

अब दूसरी ओर भी देखिए। बाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन मे लुटेरे थे। उन्होने दूसरो को मारना और दूसरो की जेब टटोलना ही सीखा था। इसके सिवाय उनके सामने जीवन-यापन का दूसरा रास्ता नही था और उसी पर बिना किसी हिचकिचाहट के चले जा रहे थे। उनके हाथ खून से भरे रहते थे। किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उन्होने उस पर पदार्पण किया तो अपनी परम्परागत सभ्यता और सस्कृति के नाते भारतीय समाज ने उन्हे ऋषि और महर्षि की पदवी दी और सत-समाज मे उन्हे आदर का स्थान मिला।

जैन-दर्शन के अनुसार हरिकेशी चाण्डाल-कुल में उत्पन्न हुए और सब ओर से उन्हें भर्त्सना और घृणा मिली। वे जहाँ कहीं भी गए अपमान-रूप विष के प्यालों से ही उनका स्वागत हुआ। कहीं भी सम्मान-सूचक अमृत का प्याला नहीं मिला। पर जब वे जीवन की पवित्रता के सही मार्ग पर आए तो वन्दनीय और पूजनीय हो गए। देवताओं ने उनके चरणों में मस्तक झुकाया और तिरस्कार करने वाले ब्राह्मणों ने भी उनकी पूजा और स्तुति की।

अर्जुन माली की जीवन-कथा क्या आप से छिपी हुई है? नर-हत्या जैसा जघन्य कर्म करने वाला और हिंसक वृत्ति में आकण्ठ डूबा हुआ अर्जुन माली एक दिन मुनि के महान् पद पर प्रतिष्ठित होता है भगवान् महावीर उसे प्रेम से अपनाते हैं और वह जीवन की पवित्रता प्राप्त करके महान् विभूति बन जाता है। यह सब किसकी विशेषता थी? यह विशेषता जन्म की नहीं अपितु कर्म की ही थी।

सन्त जब मिलते हैं तो कई लोग सर्वप्रथम उनकी जाति पूछ बैठते हैं, और कोई बात पूछना उन्हें नहीं सूझता। कोई-कोई उनका खानदान और कुल भी पूछ लेते हैं। पर सोचना यह है कि क्या ये सब बातें साधु से पूछने की हैं? साधु तो अपनी पहली दुनिया को भूल ही जाता है। उसे स्मरण करने का अधिकार भी नहीं कि वह पहले क्या था? किस कुल में था? ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र क्या था? इन सभी शृंखलाओं से मुक्त होकर उसने नया जन्म लिया है। जब कोई मनुष्य यहाँ जन्म लेता है तो उसे अपने पिछले

जन्म की जाति, खानदान और कुल आदि का स्मरण नहीं रहता। प्रकृति उसे पूर्व जन्म की स्मृति नहीं रहने देती और वर्त्तमान का दृश्य ही उसके सामने खड़ा हो जाता है। उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है तो वह भी एक प्रकार से नया जन्म पाता है, नए क्षेत्र में प्रवेश करता है। नई जिन्दगी पाकर पुरानी जिन्दगी को भुला देता है। वह जिस महल को छोड़कर आया है, यदि उसे अपने दिमाग से नहीं निकाल सका है, और जिस कुल में से आया है, यदि उसे नहीं भुला सका है तो जैन-धर्म कहता है कि उसका नया जन्म नहीं हुआ है, वह साधु नहीं बन सका है। सच्चा साधु दीक्षा लेने के बाद 'द्विजन्मा' हो जाता है। पर आज तो वह उसी पुराने जन्म के संस्कारों में उलझा रहता है। उन्हीं संस्कारों को अपने जीवन पर लादे हुए चल रहा है और जब यही प्रक्रिया चालू है तो जीवन का जो महान् आदर्श आना चाहिए, वह नहीं आ पाता।

*'अप्पाणं वोसिरामि' कहकर साधु ने पुरानी दुनिया के खोल को तोड़ फेंका है। उसके सामने चाहे महल हो, या झोंपड़ी हो दोनों समान हैं। कोई उसे अपमानित करता हो या कोई सम्मान देता हो, दोनों ही उसकी दृष्टि में एक समान हैं। उसके लिए मानापमान की ये सब खाइयाँ कभी की पट चुकी हैं और अब वह इन सब से अतीत हो चुका है। साधु ही एकमात्र उसकी जाति है।

* मुनि दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा के रूप में बोले जाने वाले एक पाठ विशेष का अंश।

जहाँ दूसरी कोई जाति ही नहीं है। किन्तु पूछने वाले वही पुरानी दुनिया की कहानी पूछते है और पुराने संस्कारो की याद ताजा करते है जिन्हे बिल्कुल भुला देना चाहिए। हम तो यह चाहते हैं कि ऐसी निरर्थक बातो को सारा भारत ही भुला दे। परन्तु यह तो विवेक-बुद्धि पर आश्रित अभी दूर की बात है। वर्तमान मे जब साधु भी इन्हे नही भुला सके है तो फिर दूसरे सर्वसाधारण से क्या आशा की जाय ? इसकी पुष्टि मे संत कबीर कहते है —

> जात न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
> मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान ॥

अर्थात्—किसी साधु की जाति मत पूछिए कि वह ब्राह्मण है या क्षत्रिय ? जाति पूछ कर करोगे भी क्या ? यदि पूछना ही है तो उसका ज्ञान पूछो उसका आचरण पूछो और यह पूछो कि जीवन की राह पर चलकर उसने क्या पाया है ? उसमे महक पैदा हुई है या नही ? और जीवन-फल खिला है या नही ? वह जीवन का फल महक दे रहा है या नही ? जब तलवार म्यान मे पड़ी है तो तलवार खरीदने वाला तलवार का मोल करता है या म्यान का ? लड़ाई तलवार से होगी या म्यान से ? म्यान तो म्यान ही रहेगी उसका अपने आपमे क्या मूल्य है ? चाहे म्यान सोने की ही क्यो न हो किन्तु यदि उसमे काठ की तलवार रखी है तो उस म्यान की क्या कीमत होगी ?

तो कर्त्तव्य की दृष्टि से जैन-धर्म एक ही बात कहता है कि मनुष्य तेरे विचार कितने ऊँचे और अच्छे है और तू ने जीवन

की पवित्रता पाकर उसे जीवन में कितना साकार किया है ? जिसके पास पवित्र विचार का वैभव है और पवित्र आचार की पूँजी है, निस्सन्देह वही भाग्यशाली है और जैन-धर्म उसी को आदरणीय स्थान देता है।

हमारे यहाँ जो बारह भावनाएँ आती है, उनमें एक अशुचि भावना भी है। वह भावना निरन्तर चिन्तन के लिए है और वह चिन्तन अपने शरीर के सम्बन्ध मे है। इस भावना मे अपने शरीर के अशुचि स्वरूप का विचार किया जाता है। ब्राह्मण हो या शूद्र, सभी को समान रूप मे इस भावना के चिन्तन का विधान है। शास्त्र मे कही यह नही बतलाया गया कि ब्राह्मण का शरीर शुचि-पवित्र है और उसे इस भावना की कोई आवश्यकता नही है, और सिर्फ शूद्र के लिए ही यह भावना आवश्यक है। मनुष्य-मात्र का शरीर एक-जैसा है। ऐसा कदापि नही कि शूद्र के शरीर मे रक्त हो, और ब्राह्मण के शरीर मे दूध भरा हो या गगाजल हो। यह बात तो इतनी स्पष्ट है कि इसकी सच्चाई आँखो दिखाई देती है। इसी कारण अशुचि भावना का विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र सभी के लिए समान रूप से मान्य बतलाया गया है। फिर भी लोगो के दिलो मे यह मिथ्या अहकार बैठ गया है कि मेरा शरीर पवित्र है, और दूसरे का अपवित्र है। मै शूद्र को छू लूँगा तो मेरा शरीर अपवित्र हो जायगा।

ससार भर मे अपवित्र से अपवित्र और घिनौनी चीज यदि कोई है, तो वह शरीर ही है। दुनिया भर की अशुचि

और मक्खी इस से भरी पड़ी है! यह हड्डियों का ढांचा और मांस का लोथ चमड़े से ढका हुआ है और मल-मूत्र आदि कृत्रिम पदार्थों का भंडार है। फिर इसमे पवित्रता कहाँ से आ गई? यह शरीर जब कभी किसी वस्तु को ग्रहण करता है तो उसको भी अपवित्र बना देता है। चाहे भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क मे आता है गन्दा और दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान मे रहता है उसके चारो तरफ गन्दगी बिखेरता चलता है और वह गन्दगी शरीर के द्वारा ही तो फैलती है। जब मनुष्य शहर मे रहता है तो वहाँ के गली-कूचो की क्या स्थिति होती है? इतनी गन्दगी मलिनता और अपवित्रता वहाँ भर जाती है कि एक वर्ग सफाई करते-करते थक जाता है। मनुष्य अपने आचरण से हवा पानी मकान आदि सभी चीजो को दूषित कर देता है और सड़ा देता है। यह सारे कर्म मनुष्य ही करता है। वह जिस ओर चलता है गन्दगी बिखेरता चलता है।

हाँ तो भगवान् महावीर ने अशुचि को अपने शरीर मे ही देखा है। मनुष्य के शरीर से बढ़कर कहीं अशुचि नही है। अपने शरीर से चिपटी उस अशुचि को न देखकर शरीर को पवित्र मानना भूल है और सिर्फ दूसरे के शरीर को अपवित्र मानकर अपनी शारीरिक पवित्रता के मिथ्या अहंकार को प्रश्रय देना तो जीवन की एक महान् भूल है।

मनुष्य का शरीर अपवित्र है और वह कभी पवित्र नही

हो सकता। हजार वार स्नान करके भी आप उसे पवित्र नही बना सकते। एक आदमी कुल्ला करता है। एक वार नही, सौ वार कुल्ला करता है और समझ लेता है कि मेरा मुँह शुद्ध हो गया। उसके वाद उसी मुँह मे कुल्ला भरकर दूसरे पर थूकता है तो लडाई शुरू होगी या नही? वहाँ तो लाठियाँ वजने लगती हैं और कहा जाता है कि जूठा पानी मुझ पर डाल दिया।

कुल्ला या अन्य उपायो के द्वारा यदि हजार वार मुँह साफ भी कर लिया तो क्या हुआ? मुँह तो गन्दा ही रहने वाला है, शरीर स्वभाव से ही गन्दा और अपवित्र है। ससार की सारी अपवित्रता इस शरीर मे भरी पडी है। जीवन की वास्तविक पवित्रता तो आपके मन मे और आपकी आत्मा मे ही हो सकती है, शरीर मे नही। जीवन की शुचिता आप अपने आचार और विचार द्वारा पैदा कर सकते है। और जब तक यह वात नही आएगी, आप चाहे हजार वार गगा मे स्नान कर ले और लाख वार सम्मेत शिखरजी की यात्रा कर आएँ, वह पवित्रता आने वाली नही है।

स्नान से होता क्या है? पानी का काम तो शरीर के ऊपर फैल कर ऊपरी गन्दगी को दूर कर देना है। मन की गन्दगी को दूर करना उसकी शक्ति से सर्वथा वाहर का काम है। शरीर के भीतर की गन्दगी भी उससे साफ नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे जैन-धर्म हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करता है कि तुम आचार-विचार को महत्व देते हो या जात-पाँत को? यदि जात-पाँत को महत्व देते हो, तब तो

वह महत्त्व शरीर को ही प्राप्त होता है और शरीर सबका समान है। जैसा ब्राह्मण का है वैसा ही शूद्र का है। यदि ब्राह्मण का शरीर पवित्र है तो शूद्र का भी पवित्र है और यदि शूद्र का अशुचि रूप है तो ब्राह्मण का भी अशुचि रूप है।

भारत का वेदान्त दर्शन आत्माओं में कोई भेद नहीं करता। वह प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्माएं न मानकर, सब आत्माओं को एक इकाई के रूप में ग्रहण करता है। वह सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म का ही स्वरूप मानता है और कहता है —

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।
नेह नानास्ति किंचन ॥"

अर्थात्—"इस संसार में परब्रह्म ही सत्य है और उसमें कोई अनेक रूपता नहीं है। अलग-अलग जातियों की जो धारणा है वह मोक्ष का मार्ग नहीं यह तो आसुरी मार्ग है। वेदान्त के आचार्यों ने इतनी बड़ी बात कह दी है फिर भी पुरानी वृत्तियाँ अभी तक मर नहीं रही हैं। आचार्य आनन्दगिरि ने बतलाया है कि आचार्य शंकर एक बार बनारस में थे और गंगा में स्नान करके लौट रहे थे। रास्ते में एक चाण्डाल अपने कुत्तों को साथ लिए, मिल गया। रास्ता सकरा था उसी पर वह सामने की ओर से चला आ रहा था। आचार्य शंकर पवित्रता के चक्कर में पड़ गए। क्योंकि चाण्डाल की मुझ पर नहीं छाया न पड़ जाय इस विचार से वे खड़े हो गए। पर आचार्य के मनोभाव का अध्ययन कर चाण्डाल भी खड़ा हो गया। आचार्य ने कुछ देर इन्तजार किया किन्तु जब

चाण्डाल मार्ग से अलग नही हुआ तो विवश होकर आचार्य ने कहा—"अरे हट जा, रास्ता छोड दे ! तुझे दीखता नही कि मै स्नान करके आया हूँ, पवित्र होकर आया हूँ और तू रास्ता रोककर खडा हो गया है।"

चाण्डाल ने कहा—"महाराज, एक बात पूछना चाहता हूँ। आप हटने को कहते हैं, पर मैं हटूँ कैसे ?* मेरे पास दो पदार्थ हैं—एक आत्मा, और दूसरा शरीर। आत्मा चेतन है, और शरीर जड है। तब इनमे से आप किसे हटाने को कहते हैं ? यदि आत्मा को हटाने के लिए कहते हैं तो आपकी आत्मा और मेरी आत्मा—दोनो एक ही समान है। परब्रह्म के रूप मे जो आत्म-ज्योति आपके अन्दर विराजित है, वही मेरे अन्दर भी विद्यमान है। तो फिर मैं आत्मा को कहाँ ले जाऊँ, और कैसे ले जाऊँ ? आत्मा१ तो व्यापक है और सम्पूर्ण ससार मे समान रूप से व्याप्त है। आप उसे हटाने को कहते तो हैं, किन्तु उसे हटाने की बात मेरी कल्पना से बाहर है।

---

*—अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्,
द्विजवर ! दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति।
—मनीषा पञ्चक

१ आचार्य शकर वेदान्त मत के अनुयायी थे। वेदान्त की मान्यता के अनुसार, समस्त जड-चेतन विश्व, एक आत्म-तत्त्व का ही नाना रूप से प्रसार है। वस्तुत व्यापक आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किञ्चन।"

यदि आप शरीर को हटाने के लिए कहते हैं तो शरीर पंच भूतों से बना है और वह जैसा मेरा है वैसा ही आपका भी है। ऐसा तो है नहीं कि मेरा मांस काला हो और आपका गोरा हो। जो रक्त आपके शरीर में बह रहा है वही मेरे में भी बह रहा है। अतः यदि आप शरीर को अलग हटने की बात कहते हैं तो वह मेरी समझ में नहीं आती कि उसे कैसे अलग किया जाय और क्यों अलग किया जाय ?

आचार्य आनन्दगिरि कहते हैं कि जब यह बात शंकर ने सुनी तो वे आश्चर्य में पड़ गए और उन्होंने अपने कान पकड़े ! बोले—अभी तक वेदान्त की ऊँची-ऊँची बातें केवल कहने मात्र ही थी। 'संसार में एकमात्र परब्रह्म की ही सत्ता है' यह उपदेश संसार को तो खूब अच्छी तरह सुनाया पर अपने मन का काँटा आज तक नहीं निकल सका था। मन का विष-विकार नहीं गया था। उसे आज आपने निकाल दिया। अतएव आप ही मेरे सच्चे गुरु हैं। आपने मेरे नेत्र खोल दिये हैं—

चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु,
गुरुरित्येषा मनीषा मम।

सत्य के चमत्कार को देखिए कि चाण्डाल को मार्ग से हटाने वाले आचार्य शंकर जरा-सी बात सुनते ही सन्मार्ग पर आ गए, पर आप रास्ते पर कब आएँगे ? आपके दिल का काँटा कब निकलेगा ?

इस प्रकार जातीयता के नाम पर ऊँच-नीच की ये

कल्पित दीवारे खडी करना सामाजिक हिंसा है। निश्चित समझिए कि आपके हृदय मे जितनी ज्यादा सकीर्णता तथा घृणा बढती है, उतनी ही अधिक हिंसा घर करती जाती है। कुछ वर्ष पूर्व विदेशी प्रभुत्व से मुक्त होकर भारत ने राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त की, परन्तु वह मानसिक सकीर्णताओ से मुक्त नही हो पाया। जिसका दु खद परिणाम हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे के रूप में प्रकट हुआ और रक्त की नदी तक बह निकली ? लाखो और करोडो आदमी इधर से उधर आ-जाकर बर्बाद भी हो गए। यह सब अमानुषिकताएँ किसका नतीजा थी ? मैं तो साहसपूर्वक कहता हूँ कि यह एकमात्र घृणा का ही दुष्परिणाम था। और जब तक यह घृणा दूर नही होगी, तब तक हम छ करोड अछूनो से प्रेम नही कर सकेंगे और हिन्दू तथा मुसलमान भी साथ-साथ नही बैठ सकेंगे। साराश मे यही पर्याप्त होगा कि जब तक हमारे मन और मस्तिष्क मे किसी भी प्रकार की सकीर्णता रहेगी, तब तक सामाजिक हिंसा की यह परम्परा चालू ही रहेगी और एक रूप मे नही, तो दूसरे रूप मे वह सामूहिक घृणा उत्पन्न करती रहेगी।

मनुष्य-जाति आज अनेक टुकडो मे बँट गई है और प्रत्येक टुकडा दूसरे टुकडे के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करता है। आज कोई किसी के आचार-विचार को नही पूछता है, सिर्फ जाति को ही पूछता है और उसी के आधार पर उच्चता और नीचता की काल्पनिक नाप-तौल करता है। इन कल्पनाओ की बदौलत ही भारत मिट्टी मे मिल गया, परन्तु दुर्भाग्य है कि फिर

भी भारतवासियो ने इतिहास से कोई सबक नही सीखा ।

जिस दिन भारतवासी मनुष्य के आचार-विचार की इज्जत करेंगे मनुष्य का मनुष्य के रूप मे आदर करना सीखेंगे और प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को भाई की निगाह से देखेगा तभी भारत म 'सामाजिक अहिंसा' की प्रतिष्ठा होगी और उस अहिंसा के फलस्वरूप ही सुख और शान्ति का संचार होगा ।

भार्गव जी के वक्तव्य का सार

[कविश्री का प्रवचन सुनने के लिए आज श्री मुकुट बिहारीलाल भार्गव एम ए एल-एल बी तथा स्थानीय एम एल ए आदि अनेक प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे । कविश्री का प्रवचन समाप्त होने पर भार्गव जी ने मुक्त कंठ स प्रवचन की सराहना और अनुमोदन करते हुए जो वक्तव्य दिया था उसका सार इस प्रकार है —]

अहिंसा प्रेमी बन्धुओ ! सौभाग्यवश मै आज दूसरी बार भी कविश्री का प्रवचन सुनने के लिए उपस्थित हो सका हूँ । जब पहली बार आया था तो एक विशेष उद्देश्य को लेकर आया था और जानता भी था कि मुझे कुछ कहना है । परन्तु आज यह विचार नही था । आज तो एक जिज्ञासु की हैसियत से उपाध्यायश्री के प्रभावशाली और ओजस्वी वचनामृत का पान करने के लिए ही उपस्थित हुआ था ।

इसलिए मै कोई तैयारी करके नही आया हूँ।

आप सब भाइयो और बहिनो को मैं अपने से अधिक भाग्यशाली मानता हूँ, जिन्हे प्रतिदिन एक विद्वान और एक विशिष्ट विचारक सत के ओजस्वी भाषण से लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। निस्सन्देह मै कितना अभागा हूँ कि मुझे ऐसा सुअवसर प्रतिदिन नही मिल पाता। ससार के सैकडो झझटो मे फँसा हुआ हूँ, अत इच्छा रखते हुए भी चन्द मिनिट ही यह लाभ उठा पाया हूँ।

आज का प्रवचन सुनकर मै कितना मुग्ध हो सका हूँ? यह आत्मानुभूति का विषय है, जिसकी विस्तृत व्याख्या नही की जा सकती। फिर भी एक सामान्य श्रोता के रूप मे आज के प्रवचन का मेरे मन और मस्तिष्क पर जो प्रभाव पडा है, उसके निष्कर्ष मे यही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि आज के प्रवचन की शैली कैसी मनोरम है! चिन्तन और मनन कितना गहन है!! भावना कितनी उदात्त है और विचार कितने ऊँचे हैं!!! इस प्रवचन मे जो उपदेश आए हैं, उनकी लडियाँ मेरे हृदय मे अब भी चमक रही हैं और उस चमक मे इतना उपादेय चमत्कार भी है कि उन पर महीनो विचार करूँ और उनसे लाभ उठाने की कोशिश करूँ तो अभीष्ट लाभ को प्राप्त कर सकता हूँ। ऐसे भाषण न केवल व्यक्ति के जीवन को ही, अपितु समाज और समूचे राष्ट्र को भी समान रूप में ऊँचा उठा सकने मे पूर्णत समर्थ हैं। ये मौलिक विचार और इन विचारो को देने वाले कविश्री सरीखे विशिष्ट विचारक हमारे राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। मेरी

धारणा है कि इस प्रकार से प्रवचन सुनने वाले अगर चाहे तो अपने व्यावहारिक जीवन से थोड़े दिनों में ही त्याग और बलिदान के अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

मैंने आज के प्रवचन से जो कुछ ग्रहण किया है उसके लिए मैं कविश्री के प्रति अपार कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

— ५ —

शोषण भी हिंसा है

'आनन्द' श्रावक अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक श्रावक ही रहे, साधु नही बने। फिर भी शास्त्र मे उनकी जीवन कहानी विस्तार के साथ दी गई है। भगवान् महावीर के चरणो मे पहुँचकर आनन्द ने जो आदर्श साधना की, यद्यपि वह श्रावक-जीवन की ही साधना थी, फिर भी वह इतनी महान् थी कि शास्त्र में उसका वर्णन करना आवश्यक समझा गया। इसका मुख्य कारण यही है कि गृहस्थ-दशा मे रहकर भी आनन्द ने अपने कर्त्तव्य को शानदार ढग से पूरा किया। उनकी अहिंसा कैसी थी ? उनका सत्य कैसा था ? उनके जीवन की पवित्रता कितनी उज्ज्वल थी ? और दूसरो के साथ उनके व्यवहार के तरीके कैसे थे ? यही सौन्दय-भरी सुवास आदर्श जीवन की परिचायक है और इसी के लिए शास्त्र मे उनकी गौरव-पूर्ण जीवन-कथा का उल्लेख अनिवार्य समझा गया। इसीलिए आज भी उनके पुनीत जीवन की स्वर्ण वेदी पर, अपार श्रद्धा भक्ति के साथ, वाणी के पुष्प चढाए जाते हैं।

इस विशाल भू-खण्ड पर अतीत काल में न जाने कितने चक्रवर्ती, अर्ध चक्रवर्ती राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार आए हैं जिन्होंने अपने पराक्रम और वैभव से जमीन को कम्पित किया, जिन्होंने झोपड़ियों के स्थान पर गगनचुम्बी प्रासाद खड़े किये और हजारों-लाखों को अपने चरणों में आजीवन झुकाए रखा। किन्तु, यह सब वैभव होते हुए भी यदि उन्होंने व्यावहारिक जीवन में सत्कर्म नहीं किए और प्रजा-हित की ओर ध्यान नहीं दिया तो उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता, इतिहास उनके लिए मूक है। हाँ, उन्होंने अपने जीवन में जो गलतियाँ की थीं उनका चित्रण अवश्य मिलता है। उसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इतने समृद्धिशाली होते हुए भी और इतनी अनुकूलताएँ प्राप्त करके भी उन्होंने अपनी समृद्धि का और अनुकूलताओं का अच्छे ढंग से उपयोग नहीं किया और इस कारण वे नीचे गिर गए।

रामायण जैन और वैष्णव—दोनों धर्मों में पढ़ी जाती है। उस समय दो प्रबल शक्तियाँ सामने आई। एक 'राम' के रूप में और दूसरी 'रावण' के रूप में। एक ओर रावण दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे को थर्राता हुआ—कंपित करता हुआ आता है और दूसरी ओर उधर राम भी एक सुगठित शक्ति के साथ खड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार रावण राजा बनकर सामने आता है वैसे ही राम भी राजा के रूप में सामने आते हैं। दोनों ने तीन खण्ड तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। दोनों में इतनी भौतिक समानताएँ

उसका जीवन सुन्दर है और शानदार ढग से गृहस्थ की गाडी चला रहा है, वह भले ही किसी परिस्थिति-विशेष के कारण धन सग्रह नही कर सका हो, किन्तु न्याय और नीति यदि उसके साथ है तो इस दशा मे भी हम उसकी प्रशसा करेगे। ऐसे भी निस्सहाय लकडहारे हो चुके हैं, जिनकी जिन्दगी का निर्वाह होना मुश्किल था, किन्तु उनमे अच्छाइयाँ थी, तभी तो सन्तो ने उनकी गुण गाथा गाई है।

अभिप्राय यही है कि केवल धन होने से ही कोई प्रशसा का पात्र नही बन जाता और न धन के अभाव मे निन्दा का ही पात्र बनता है। इसी प्रकार निर्धन होने से ही कोई प्रशसा या अप्रशसा के योग्य नही हो जाता। जहाँ सद्गुणो के पुष्प हैं, वही प्रशसा की सौरभ है। किन्तु धनवान् या चक्रवर्त्ती होने पर भी यदि उनमे गुण नही हैं तो उनकी प्रशसा नही की गई है। एक ओर चक्रवर्त्ती भरत की प्रशसा से ग्रन्थ पर ग्रन्थ भरे पडे है, किन्तु दूसरी ओर अर्ध-चक्रवर्त्ती रावण और चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त जैसे भी हैं जिन्हे अच्छाई की दृष्टि से नही देखा गया, अपितु जीवन पतित होने पर नरक में जाने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उनमे प्रशसा-योग्य गुण नही आए, न न्याय एव नीति ही आई और अपने पूरे जीवन मे वे प्रजा के हित का एक भी कार्य नही कर सके।

जैन-साहित्य मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती का वर्णन आता है। ब्रह्मदत्त भोग परायण व्यक्ति था। वह चक्रवर्त्ती के सिंहासन पर बैठकर भी तदनुकूल अपने को ऊँचा नही उठा सका। उसका झुकाव जितना निज के पोषण मे था, उतना प्रजा के

पोषण में नहीं था।

एक दिन जैन-जगत के प्रख्यात महामुनि चित्त ब्रह्मदत्त से मिले। उन्होंने चक्रवर्ती के समक्ष एक आदर्श रखा कि— यदि तुम ज्यादा कुछ नहीं कर सकते तो कम से कम आर्य-कर्म तो करो प्रजा के ऊपर तो दया करो। जिस प्रजा के खून पसीने की गाढ़ी कमाई से तुम वैभवशाली महल खड़े कर रहे हो उस प्रजा पर तो अनुकम्पा करो —

> जइ तंसि भोगे चइउं असत्तो,
> अज्जाइं कम्माइं करेह रायं।
> धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी
> तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥
>
> —उत्तराध्ययन १३ ३२

मुनि कहते हैं- 'यदि तुम प्रजा पर करुणा की एक बूँद भी बरसा सके तो भी अगले जीवन में देवता बन सकोगे! नरक और निगोद में नहीं भटकते फिरोगे! इससे तुम्हारी जिन्दगी यहाँ वहाँ सब जगह आराम से कटेगी।

एक राजा अपनी प्रजा के लिए कल्याण-बुद्धि से काम करता है तो वह यहाँ और आगे भी परम अभ्युदय प्राप्त करता है। उसके चक्रवर्ती होने के नाते हम उसकी प्रशंसा या निन्दा नहीं करते हैं। हम तो केवल गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की कटु आलोचना करते हैं। यदि कोई गरीब चोरी करता है, दुनिया भर की गुण्डागीरी करता है और बुराइयों से काम लेता है न तो वह अपनी गरीबी को आनन्द पूर्वक स्वीकार करता है, और न विषम परिस्थितियों से

न्यायपूर्वक सघर्ष ही करता है, ऐसी दशा मे हम उसकी प्रशसा कदापि न करेंगे , उसके अन्याय, अनाचार और गुण्डा-पन की घोर निन्दा ही करेंगे ।

जैन-धर्म तो एक ही सन्देश लेकर चला है कि—तुमने ससार को क्या दिया है और ससार से क्या पाया है ? क्या तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है ? इन्सान होकर भी इन्सान का का-सा उठना, बैठना, बोलना और चलना सीखा है या नही ? यदि सीख लिया है और सदा-चरण की परीक्षा मे उत्तीर्ण भी हो चुके हो तो इन मनुष्योचित सद्गुणो की तुलना मे तुम्हारी निर्धनता को बिल्कुल नगण्य मानकर हम तुम्हारा सम्मान करते हैं । इसके विपरीत यदि जिन्दगी मे गरीब या अमीर रहते हुए भी इन्सानियत का पाठ नही सीखा और इन्सान के साथ इन्सान का-सा मानवीय व्यवहार नही सीखा, तो हम सम्राट् और गरीब दोनो से ही कहेंगे कि तुम्हारा व्यावहारिक जीवन गलत और दोषपूर्ण है और तुम हमारी ओर से अशमात्र भी प्रशसा प्राप्त नही कर सकते । जैन-धर्म तुम्हारे लिए प्रशसा का एक शब्द भी नही कह सकता । भगवान् महावीर ने साधुओ से कहा है —

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥

—आचारांग, प्र० श्रु०

यदि तुमको एक भाग्यशाली सम्राट्, सेठ या साहूकार मिल जाए तो तुम दृढतापूर्वक, अपने मन मे किसी भी प्रकार का दबाव न रखते हुए, स्पष्ट भाव से उपदेश दे सकते हो,

और यदि कोई निर्धन मिले तो वही उपदेश उसे भी उसी भाव से दो। जिस प्रेम एवं स्नेह से चक्रवर्ती सम्राट् को उपदेश देते हो वही प्रेम और स्नेह किसी गरीब के लिए भी रखो। अपने अन्तःकरण में दोनों के लिए समान प्रेम और समान स्नेह का आदर्श सन्देश लेकर चलो।

हमें समाज से नहीं किन्तु समाज के अन्तस्तल में बैठे हुए और समाज को सही मार्ग से विचलित कर कुपथ पर ले जाने वाले कुविचारों से लड़ना है।

भगवान् महावीर के युग में ब्राह्मण जाति की समस्या कितनी उलझी हुई थी? जगह-जगह याज्ञिक हिंसा हो रही थी संहार का नंगा नाच हो रहा था और खून की नदियाँ बह रही थी। परन्तु भगवान् महावीर ने ब्राह्मण जाति का अणुमात्र भी विरोध नहीं किया वरन् उस समय फैली हुई कुरीतियों को सुरीति में एवं दुर्नीति को सुनीति में परिणत करने के लिए स्पष्टोक्ति से काम लिया। उनके पास यदि राजा श्रेणिक या कोणिक आए तो भी और निर्धन लकड़हारे आए तो भी उन्होंने समान भाव और अदम्य साहस के साथ देश में फैली हुई बुराइयों के विरोध में जोरों से आन्दोलन चालू रखा। इसी प्रकार यदि कभी प्रशंसा का अवसर आया तो राजा की भी प्रशंसा की और गरीब की भी की।

ऐसा अशोभनीय वर्ग-भेद एक अंश में भी प्रकट नहीं हुआ कि किसी राजा की राज्य प्रभुता भगवान् महावीर को प्रभावित कर सकी हो और तदनुसार उन्होंने किसी रंक के प्रति मर्मस्पर्शी-

पूर्ण व्यवहार किया हो। उनकी निर्मल दृष्टि मे किसी भी प्रकार का भेद-मूलक अपवाद अन्तिम क्षण तक पैदा नही हुआ था।

हमारे जीवन की जो पृष्ठ-भूमि है, वह तो इतनी ऊँची और विराट है, किन्तु उसकी तुलना मे आज हम इतने नीचे आ गए हैं कि उसको अच्छी तरह छू भी नही सकते हैं। आचरण-हीनता के कारण हमारा कद छोटा हो गया है, जबकि सिद्धान्त का कद बहुत ऊँचा है। जैसे बौना आदमी किसी लम्बे कद वाले के पास खडा हो और वह उसके कंधे को नही छू पाता हो, उसी प्रकार हम आज अहिंसा और सत्य को नही छू पा रहे हैं। अतएव मेरे कथन का आशय यही है कि आपके आचरण का जो कद बौना हो गया है, उसे उत्तम विचारो के द्वारा ऊँचा बनाने की आवश्यकता है। शरीर का कद छोटा है या बडा, इससे कोई प्रयोजन नही है।

एक बार भगवान् महावीर से पूछा गया कि किस कद वाले को मुक्ति प्राप्त होती है ? तो उन्होने कहा—पाँच-सौ धनुष का कद वाला भी मोक्ष पा सकता है और एक बौना भी। हाँ, तो भगवान् ने शरीर के कद को कोई महत्व नही दिया, किन्तु विचारो के कद को महत्वपूर्ण और अनिवार्य माना है। यदि कोई साधक शरीर से बौना है किन्तु उसके विचारो का कद ऊँचा हो गया है, ऊँचा उठते-उठते तेरहवें और फिर चौदहवे गुण-स्थान तक पहुँच गया है तो वह अवश्य मुक्त हो जाएगा। इसके विपरीत पाँच-सौ धनुष का शरीर का कद होने पर भी यदि किसी व्यक्ति के विचारो का कद

छोटा है तो उसे मोक्ष नही मिल सकता ।

जब हम इस विषय पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि शास्त्रों की जो अहिंसा और दया है उसका रूप तो बहुत ऊँचा है । किन्तु आजकल की हमारी अहिंसा और दया का अर्थात्—जिस रूप मे आज हम अहिंसा या दया का व्यवहार कर रहे हैं और जिस रूप मे उसे समझ रहे हैं उसका रूप बहुत छोटा है । किन्तु जब समाज और राष्ट्र के विचारो का रूप *शास्त्रीय अहिंसा के रूप की ऊँचाई पर पहुँचेगा तभी* वे अपना उत्कर्ष साध सकेंगे ।

आज सारे ससार मे वर्ग-सघर्ष चल रहा है । यदि अकेला इन्सान है तो उसका मन भी अस्तव्यस्त है और यदि परिवार में दस-बीस आदमी हैं तो वे सब भी बेचैन हैं । सारे समाज में देश मे और छोटी या बडी प्रजा मे चारो ओर सघर्ष है । प्रत्येक व्यक्ति के मन मे अशान्ति की आग सुलग रही है । मानो हम सब बीमार बन गए हैं । प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र आज इसी बीमारी का अनुभव कर रहा है ।

अस्तु प्रश्न यह है कि इस आग और बीमारी का मूल कारण क्या है ? इन्सान के ऊपर जो दुःख और सकट आ पडा है वह कहाँ से आया है ? और किस मार्ग से आया है ? जैन-धर्म अपने विश्लेषण के द्वारा यह निर्णय करता है कि प्रकृति की ओर से मै दुःख नही आए हैं । प्रकृति की ओर से आने वाले दुःख कादाचित्क और अल्प होते हैं । जैसे—कभी भूकम्प आ जाता है तो मनुष्य घबरा जाता है कभी वर्षा ज्यादा हो जाती है या सूखा पड जाता है तब भी

मनुष्य सन्त्रस्त हो जाता है। परन्तु ये समस्त घबराहटें मामूली हैं। प्रतिदिन भूकम्प की दुर्घटनाएँ नही हुआ करती और ऐसी दुर्घटनाओ के समय भी यदि आपदा पीडित इन्सान, इन्सान का दिल लेकर किसी उदारमना इन्सान के पास पहुँच जाता है तो वह प्रकृतिजनित दु ख भी भूल जाता है। कभी-कभी इन्सान के ऊपर जगली जानवरो के द्वारा भी दु ख आ पडते है। जैसे—कभी लकडबग्घा बच्चे को उठाकर ले जाता है या भेडिया बकरी-भेड को ले भागता है। परन्तु आजकल इन सारे उपद्रवो पर भी इन्सान ने विजय प्राप्त करली है, क्योकि निर्जन स्थानो पर बडे-बडे नगर बस गए है, आवास की व्यवस्था ठीक-ठीक चल रही है और जगली जानवर विवश होकर जगलो मे अपना मुँह छिपाए पडे हैं। फिर भी आज का मनुष्य दु खो से पीडित है, अत प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो हो रहा है ?

मानव-समाज के समस्त दु खो का प्रमुख कारण मनुष्य की दुर्वृत्ति ही है। आज मानव-समाज मे ही अनेक लकडबग्घे और भयकर भेडिए पैदा हो गए हैं। चारो ओर खूँखार भेडिए ही भेडिए नजर आते हैं। उनका शरीर तो मनुष्य का-सा अवश्य है, पर दिल मनुष्य का नही, हिंसक भेडिया का है। मनुष्य मे मनुष्योचित सद्भावना नही रही है। अभिप्राय यही है कि मनुष्य के भीतर जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वासनाएँ है, वे गृहस्थ-जीवन को विगाड रही है, साधु समाज को भी समाप्त कर रही है और समाज एव राष्ट्र को भी क्षीण कर रही है। साराश मे मनुष्य को मनुष्यकृत दु ख ही प्राय सता रहे हैं।

आप जब कभी दस-पाँच आदमी इकट्ठे बैठकर आपस मे बात करते हैं और कभी किसी से उसके दुःख की बात पूछते हैं तभी आपको दुःख का स्पष्ट अनुभव होता होगा। अपने विचारों की तराजू पर तोलकर देखिए कि प्रकृति-जन्य तथा हिंसक पशुओं द्वारा होने वाले दुःख उनमे से कितने हैं? और मनुष्यों द्वारा पैदा किये हुए दुःख कितने हैं? इस भेद को समझने मे अधिक देर नहीं लगेगी कि—मनुष्य ही मनुष्य पर अधिकांश विपत्तियाँ ला रहा है और दुःखों के पहाड़ ढाह रहा है। कोई कहता है—अमुक मनुष्य ने मेरे साथ विश्वासघात किया है! एक बहिन कहती है कि मेरे प्रति सास का व्यवहार अच्छा नहीं है और प्रतिवाद मे सास कहती है कि बहू का बरताव अच्छा नहीं है। इसी प्रकार पिता पुत्र की और पुत्र पिता की शिकायत करते हैं। कहीं भाई-भाई के बीच दुर्व्यवहार की दुःखद कहानी सुनी जाती है। इस प्रकार जितने भी आदमियों से बातें करेंगे उन सबसे यही मालूम होगा कि आदमी को आदमी से जितनी शिकायत है उतनी कुदरत और वन-पशुओं से नहीं है। कथन का अभिप्राय यही है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति आज जो व्यवहार है वह सन्तापजनक नहीं है और सुखप्रद नहीं है बल्कि असन्तोष अशान्ति और दुःख पैदा करने वाला है।

राम को चौदह वर्ष का वनवास क्यों भोगना पड़ा? मंथरा के द्वारा कैकेयी के विचार बदल दिये गए। कैकेयी की भावना दूषित हो गई तदनुसार वह गलत ढंग पैदा

हुआ कि राम को वनवास मिला, और रामायण की कथा लवी होती गई। सारी कहानी आदमी के द्वारा खडी की गई और आदमी के द्वारा ही विस्तृत हुई। राम वन में जाकर रहे तो वहाँ रावण सीता को उठाकर ले गया। इस प्रकार आदमी ने आदमी को चैन से नही बैठने दिया। और जब राम आततायी रावण को जीतकर वापिस अयोध्या लौटे तो उन्होने सीता को वनवास दे दिया। यह सब मनुष्य की ओर से मनुष्य को दु ख देने की एक लबी कहानी है।

इस सम्बन्ध में चाहे कोई कुछ भी कहता हो, किन्तु मैं अपने बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर यह कहता हूँ कि राम ने सीता का त्याग करके न्याय नही, अन्याय किया। हाँ, यदि राम स्वय भी सीता को पतित समझते होते तो उनका कार्य उचित कहा जा सकता था, परन्तु उन्हें तो सीता के सतीत्व पर और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था। फिर भी उन्होने अपनी गर्भवती पत्नी को भयानक जगल मे छोड दिया। जो राम प्रभावशाली रावण के सामने नही झुके, वे एक नादान धोबी के सामने झुककर इतिहास की बहुत वडी भूल कर बैठे। यदि उन्हें राजा का आदर्श उपस्थित करना ही था तो वह स्वय सिंहासन छोडकर अलग हो जाते। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर वे आदर्श राजा का उदाहरण भी उपस्थित नही कर सके। आदर्श राजा अभियुक्त को अपनी सफाई देने का अवसर देता है, पर राजा राम ने सीता को ऐसा अवसर नही दिया। यहाँ ता सीना को अभियोग का पता भी नही

समझे दिया जाता और जब पता लगा तो उससे पहले उसे दण्ड दे दिया गया।

बतलाइए,—सीता पर यह दुःख कहाँ से आ पड़ा? राम ने ही तो उस पर यह दुःख लादा है। इस प्रकार आदमी ने ही आदमी पर दुःख लाद दिया। पति ने ही पत्नी को दुर्दिन के दावानल में झोंक दिया। सीता को कैसे रहस्य पूर्ण ढंग से यात्रा कराने के बहाने लक्ष्मण वन में ले जाते हैं। वन में पहुँचने पर सीता के परित्याग का जब अवसर आता है तो लक्ष्मण के धैर्य का बाँध टूट जाता है—वन पशुओं की वेदनामय और मधुपूर्ण सहानुभूति पाकर उनकी करुणा फूट पड़ती है। आज तक लक्ष्मण रोया नहीं था। संकट में विषमता में कभी उसने आँसू नहीं बहाया। यहाँ तक कि मेघनाद के द्वारा शक्ति बाण लगने पर भी उसकी आँखों से एक आँसू नहीं गिरा। पर, आज वही धैर्य की अचल प्रतिमा सा लक्ष्मण क्यों रो पड़ा? और सीता के पूछने पर जब उसने रहस्य खोला तो सीता भी रो पड़ी। सारा वन रुदन करने लगा पशु और पक्षी भी रोने लगे। उस समय लक्ष्मण ने कहा था —

> 'एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
> हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
> नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
> तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः ॥'

—कुन्दमाला

अर्थात्—देखो इन हिरणों को! हरी-हरी दूब खाना

फिर भले ही वह व्यापार के रूप मे हो या किसी दूसरे रूप में ।

कल की एक विचार-सभा मे व्याज के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया जा रहा था कि व्याज का धन्धा आर्य है या अनार्य ? और सामाजिक दृष्टि मे उसमे औचित्य है या नहीं ? यदि औचित्य है तो किस हद तक ? इस सम्बन्ध मे मैंने कहा था कि मैं क्या निर्णय दू ? और यदि शास्त्रो के पन्ने भी उलटे जाएँगे तो भी क्या निर्णय मिलने वाला है ? आपके पास आपका हृदय ही महाशास्त्र है । आपका यह हृदय-शास्त्र स्वय इतना विशाल है कि दूसरे समस्त शास्त्र उसमे समा सकते हैं । हमारे समस्त शास्त्र भगवान् महावीर के हृदय से आए हैं । मानव-हृदय विचार-मौक्तिको का विराट सागर है । शुद्ध हृदय के विचार-मौक्तिक ही शास्त्र बन कर चमकते हैं ।

जैन-धर्म विवेक को सर्वोपरि स्वीकार करता है । ससार मे जितने भी व्यवसाय चल रहे हैं और जिन्हे आप आर्य-व्यापार मानते है, उनमे भी विवेक की अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु हम धर्म की आत्मा—विवेक की ओर कभी ध्यान नही देते और उसके बाह्य रूप में ही उलझ जाते हैं । अमुक ढग का तिलक लगाना धर्म है, और अमुक तरह का तिलक लगाना अधर्म है । चोटी कटा लेना धर्म है, और न कटवाना अधर्म है ।

एक बार एक कनफटा साधु मिला तो उसने कहा—आप भी कान छिदवा लीजिए । बिना कान फडवाए साधु कैसे हो गए ? उसका अभिप्राय यही था कि यदि कान फडवा

लिए जायें तभी धर्म है और यदि नहीं फड़वाए जायें तो धर्म नहीं है। आशय यह है कि हमारे यहाँ आमतौर पर ये धारणाएँ फैली हुई हैं कि यदि अमुक क्रिया अमुक ढंग से की जाय तब तो धर्म है नहीं तो धर्म नहीं है। इसी प्रकार यदि अमुक ढंग के वस्त्र पहने जायें तभी धर्म होगा अन्यथा नहीं। परन्तु जैन-धर्म इन सबसे ऊपर उठकर कहता है कि—विवेक मे ही धर्म है। श्रीमद् आचारांगसूत्र मे कहा भी गया है—

"विवेगे धम्ममाहिए।"

जैन-धर्म मे कहने-सुनने की हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं है बोल-चाल के सत्य और असत्य से भी सम्बन्ध नहीं है किन्तु विवेक के साथ सीधा और सच्चा सम्बन्ध है। अहिंसा का नाटक तो खेला किन्तु यदि उसमे विवेक को स्थान नहीं दिया गया तो वह अहिंसा नहीं है। विवेक के अभाव मे वह पूरी तरह हिंसा बन जायगा और अधर्म कहलाएगा। किसी ने साधुपन ले लिया या श्रावकपन ले लिया किन्तु विवेक नहीं रखा तो क्या वह धर्म हो गया? जन-धर्म के अनुसार जिस क्षेत्र मे जितने अशो मे विवेक है उतने ही अशो मे धर्म है और जितने अश मे अविवेक है उतने ही अशो में अधर्म है। जैन-धर्म छापा या तिलक वगैरह मे धर्म-अधर्म नहीं मानता। यहाँ तो एक ही तराजू है एक ही मापक है और वह दुनिया से निराला मापक है—विवेक

मै आपसे पूछना चाहता हूँ रुपया क्या है? और इसकी क्या उपयोगिता है? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया

छोडकर ये रो रहे हैं। और ये इस शोक के मारे कैसा करुणक्रन्दन कर रहे हैं। सीता की मुसीवत देखकर मयूरो ने नाचना बन्द कर दिया है। सम्पूर्ण प्रकृति शोक से विह्वल हो रही है। हाय, हम मनुष्यो से तो ये पशु-पक्षी ही अच्छे हैं। कहाँ हमारी निष्ठुरता और कहाँ इनकी दयालुता और कोमलता!

मनुष्य का मनुष्य के प्रति, यहाँ तक कि पति का पत्नी के प्रति और पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति जो अशोभनीय व्यवहार देखा जाता है, उसे देखते हुए लक्ष्मण यदि मनुष्यो की अपेक्षा पशुओ को श्रेष्ठ कहते हैं तो कोई आश्चर्य न होगा। पशु कम से कम एक मर्यादा मे तो रहते हैं। वे अपनी जाति के पशु पर तो अत्याचार नही करते। सिंह कितना ही क्रूर क्यो न हो, पर वह भी अपने सजातीय सिंह को तो कभी नही खाता। एक भेडिया दूसरे भेडिया को तो नही मारता। पर, क्या मनुष्य ने इस पवित्र मर्यादा को कभी स्वीकार करने का स्वप्न मे भी विचार किया है?

दूसरी ओर पशु, जव पशु पर आक्रमण करता है तो वह पर्दे के पीछे से वार नही करता, सीधा आक्रमण कर देता है। किन्तु मनुष्य, मनुष्य को धोखा देता है, भुलावे मे डालता है, विश्वासघात करता है और पीठ मे छुरा भोंकता है।

सच पूछो तो मनुष्य ही मनुष्य के लिए सव से ज्यादा भयकर है। मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है, उतना शायद और किसी भी हिंसक पशु से नही है।

महाभारत का आदि से अन्त तक पारायण कर जाइए।

आपको उसमे क्या मिलेगा ? यही कि एक के हृदय मे लोभ उत्पन्न होता है तृष्णा जागती है और उसी का दुष्परिणाम महाभारत के रूप मे आता है जिसने सारे भारत को वीरान बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या रामायण काल मे क्या महाभारत काल मे और क्या वर्तमान मे केवल मनुष्य ही मनुष्य पर दु खो और मुसीबतो का पहाड लादता रहा है। मनुष्य ही मनुष्य के सामने राक्षस और दैत्य बनकर आता है और उसका मनमाना शोषण करता है।

कहा जाता है कि कुछ अग्रेज एक चिडिया-घर देखने गए, वहाँ उन्होने शेरो और भेडियो को गरजते देखा। वे आपस मे कहने लगे —इन्होने न जाने कितनी शताब्दियाँ गुजार दी फिर भी ये हैवान के हैवान ही रहे। इन्होने अपनी पुरानी आदते नही छोडी। इनका कैसे विकास होगा ? इस प्रकार शेरो और भेडियो की आलोचना करते-करते ज्यो ही वे बाहर आते है तो देखते हैं कि उनकी जेब काट ली गई है। जिनकी जेब काट ली गई थी वे कहने लगे—हम शेर और भेडियो की आलोचना करते-करते नही अघाते थे पर उन्होने जेब काटना तो नही सीखा। किन्तु विकास-प्राप्त आदमी ने तो आदमी की जेब काटने की कला भी सीख ली है।

अग्रेज के उक्त कथन मे भले ही कुछ व्यग हो किन्तु सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने से मालूम होगा कि वह कथन झूठा नही है। इन्सान ही इन्सान की जेब काटने को तैयार होता है और इन्सान ही इन्सान का शोषण करता है

फिर भले ही वह व्यापार के रूप मे हो या किसी दूसरे रूप में ।

कल की एक विचार-सभा मे व्याज के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया जा रहा था कि व्याज का धन्धा आर्य है या अनार्य ? और सामाजिक दृष्टि से उसमें औचित्य है या नही ? यदि औचित्य है तो किस हद तक ? इस सम्बन्ध में मैंने कहा था कि मैं क्या निर्णय दू ? और यदि शास्त्रो के पन्ने भी उलटे जाएँगे तो भी क्या निर्णय मिलने वाला है ? आपके पास आपका हृदय ही महाशास्त्र है । आपका यह हृदय-शास्त्र स्वय इतना विशाल है कि दूसरे समस्त शास्त्र उसमे समा सकते हैं । हमारे समस्त शास्त्र भगवान् महावीर के हृदय से आए हैं । मानव-हृदय विचार-मौक्तिको का विराट सागर है । शुद्ध हृदय के विचार-मौक्तिक ही शास्त्र वन कर चमकते हैं ।

जैन-धर्म विवेक को सर्वोपरि स्वीकार करता है । ससार मे जितने भी व्यवसाय चल रहे हैं और जिन्हे आप आर्य-व्यापार मानते है, उनमे भी विवेक की अनिवार्य आवश्यकता है । परन्तु हम धर्म की आत्मा—विवेक की ओर कभी ध्यान नही देते और उसके वाह्य रूप मे ही उलझ जाते हैं । अमुक ढग का तिलक लगाना धर्म है, और अमुक तरह का तिलक लगाना अधर्म है । चोटी कटा लेना धर्म है, और न कटवाना अधर्म है ।

एक बार एक कनफटा साधु मिला तो उसने कहा—आप भी कान छिदवा लीजिए । बिना कान फडवाए साधु कैसे हो गए ? उसका अभिप्राय यही था कि यदि कान फडवा

लिए जायें तभी धर्म है और यदि नहीं फहराए जायें तो धर्म नहीं है। आशय यह है कि हमारे यहाँ आमतौर पर ये धारणाएँ फैली हुई हैं कि यदि अमुक क्रिया अमुक ढंग से की जाय तब तो धर्म है नहीं तो धर्म नहीं है। इसी प्रकार यदि अमुक ढंग के वस्त्र पहने जायें तभी धर्म होगा अन्यथा नहीं। परन्तु जैन-धर्म इन सबसे ऊपर उठकर कहता है कि—विवेक मे ही धर्म है। श्रीमद् आचारांगसूत्र मे कहा भी गया है—

"विवेगे धम्ममाहिए।"

जैन-धर्म मे कहने-सुनने की हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं है बोल चाल के सत्य और असत्य से भी सम्बन्ध नहीं है किन्तु विवेक के साथ सीधा और सच्चा सम्बन्ध है। अहिंसा का नाटक तो खेला किन्तु यदि उसमे विवेक को स्थान नहीं दिया गया तो वह अहिंसा नहीं है। विवेक के अभाव मे वह पूरी तरह हिंसा बन जायगा और अधर्म कहलाएगा। किसी ने साधुपन ले लिया या श्रावकपन ले लिया किन्तु विवेक नहीं रखा तो क्या वह धर्म हो गया? जैन-धर्म के अनुसार जिस क्षेत्र मे जितने अंशो मे विवेक है उतने ही अंशो मे धर्म है और जितने अंश मे अविवेक है उतने ही अंशो मे अधर्म है। जैन-धर्म छापा या तिलक वगैरह मे धर्म-अधर्म नहीं मानता। यहाँ तो एक ही तराजू है एक ही मापक है और वह दुनिया से निराला मापक है—विवेक

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ रुपया क्या है? और इसकी क्या उपयोगिता है? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया

लीजिए, उमे तिजोरी में वन्द कर दीजिए और कई वर्षों के वाद उसे निकालिए। वह एक-का-एक ही निकलेगा। अनेक वर्ष वीत जाने पर भी दूसरा रुपया उससे पैदा नही हो सकेगा। "इस प्रकार रुपया अपने आप मे वांझ है। जव आप उसे किसी उद्योग-धन्वे मे लगाते हैं, खेती-वाडी मे लगाते हैं, या व्याज मे लगा देते हैं, और जव रुपया आदान-प्रदान के फलस्वरूप हलचल मे आता है, तभी वह जिन्दा होता है। इसके विपरीत जव तिजोरी मे कैद रहता है तो मुर्दा वन जाता है। इस प्रकार रुपया दो तरह का है—मुर्दा रुपया, और जिन्दा रुपया।

मेरे कहने का आशय यह न समझ लीजिए कि रुपया सजीव और निर्जीव-दोनो तरह का होता है। यहाँ यह मतलव नही है। कभी-कभी गलतफहमी भी हो जाया करती है। जैसे एक दिन मैंने कहा था कि बुद्ध के शिष्य आनन्द ने चाण्डाल कन्या के हाथ का पानी पिया था, तो किसी ने समझ लिया कि आनन्द श्रावक ने ही पी लिया। बस, हलचल शुरू हो गई।

हाँ, तो रुपए के जीवित होने का अर्थ इतना ही है कि—जव रुपया हलचल मे आता है तो वह व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र के लिए 'खाना' लाकर देता है। और मुर्दा होने का अर्थ है कि—जब वही रुपया चारो ओर से हटकर जमीन मे दव जाता है या तिजोरी मे वन्द हो जाता है तो वह किसी व्यक्ति के लिए, समाज के लिए या राष्ट्र के लिये भोजन नही ला मकता। यही रुपए का मुर्दापन है। इसीलिए गृहस्थ उमे चलता-फिरता रखना चाहता है। परन्तु रुपए को क्रिया-

सीम बनाते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मेरा रुपया अनीति और अन्याय के मार्ग पर न चले न लगे। पर दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाई यही है कि इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता।

आपके पास जब एक सेठ आता है और कुछ रुपया चाहता है तो ब्याज की दर कम हो जाती है। किन्तु जब एक साधारण आदमी आता है जिसको रुपए की अनिवार्य आवश्यकता है जो पैसे के अभाव में छिन्न-भिन्न और दुखी है और यहाँ तक कि पैसे के बिना उसका परिवार भूखो मर रहा है। उसने व्यापार किया है और उसमें उसे गहरी चोट लगी है। अब उसे पैसे की आवश्यकता पड़ गई है और न मिलने पर उसका परिवार बर्बाद हो सकता है और उसकी आबरू को धक्का लग सकता है। और यदि समय पर रुपया मिल जाता है तो अपनी और अपने परिवार की जिन्दगी बचा सकता है और अपनी इज्जत भी कायम रख सकता है। किन्तु खेद है उसकी आवश्यकता को अनुभव करके आपकी तरफ से ब्याज की दर बढ़ जाती है। इसका स्पष्ट अभिप्राय तो यह हुआ कि शक्तिशाली हाथी पर तो भार कम लादा जाता है, और अशक्त खरगोश पर ज्यादा से ज्यादा लादने की कोशिश की जाती है। इस प्रवृत्ति को आप या कोई भी विवेकशील व्यक्ति, क्या न्यायसंगत कह सकता है ?

जैन-धर्म एक बड़ा ही विवेकशील धर्म है। वह हर सत्य को तोलने के लिए अनेकान्त की तराजू लेकर चलता है।

अस्तु, इसी तराजू पर हमे व्याज के धन्धे को भी तोलना है।

इस प्रसग पर हमे स्मरण रखना चाहिए कि समाज की कुरीतियो के कारण भी अनेक चीजे बुराई बन गई हैं। श्रीमत की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना व्याज लेना, और एक वार रुपया देकर फिर शोषण के रूप मे व्याज चालू रखना, व्याज के धधे की बुराइयाँ हैं। धनिक वर्ग की अर्थ-लिप्सा ने इस व्याज व्याधि को प्रेरित किया और जव यह बहुत ज्यादा वढ गई तो सरकार को व्याज के धन्धे पर अकुश लगाने की आवश्यकता अनुभव हुई और उसने अनेक प्रकार के अकुश भी इस पर लगाए हैं। साहूकार एक बार रुपया दे देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो सदैव बनी रहती है और कर्जदार वर्षों तक व्याज मे फँसा रहता है। व्याज के रूप मे जब तक किसी समर्थ का "दुग्ध-दोहन किया जाता है, तब तक तो किसी हद तक ठीक है, किन्तु गरीव कर्जदार के रक्त को चूसना, कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

"गाय पाली जाती है और उसे भूसा भी खिलाया जाता है। अस्तु, यह तो ठीक है कि कोई भी गोपालक वदले मे गोबर ही लेकर सन्तोष नही मान सकता, वह गाय का दूध भी लेना चाहता है। हाँ, तो जहाँ तक गाय से दूध लेने का सवाल है, गोपालक का अपना हक है। और इसमे कोई भी इन्कार नही कर सकता।" परन्तु गाय को दुहते-दुहते जब दूध न रहे तो उसका रक्त दुहना अनुचित ही नही, अनैतिक भी है। ऐसा करने में न तो आयत्व ही है और न इन्सानियत ही, वल्कि स्पष्ट नर-पशुता है।

आपने गाय की सेवा की है उसे खिलाया पिलाया है रहने को जगह दी है यदि वह बीमार हुई तो उसकी सेवा भी की है। इस प्रकार उसकी सुख-सुविधा का सारा उत्तरदायित्व भी आपने अपने ऊपर ले रखा है। और जब उसके दुहने का प्रसंग आता है तब भी सारा का सारा दूध नहीं दुह लेते हो किन्तु उसके बच्चे के पोषण के लिए भी कुछ छोड़ देते हो। यही उदार वृत्ति ब्याज के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। जब आप किसी को ब्याज पर रुपया दें तो अपने हिस्से का न्याय प्राप्त धन-दूध यथावसर उससे ले सकते हैं परन्तु उसके परिवार' के भरण-पोषण के लिए भी कुछ अवश्य बचने दें। यहाँ तक तो ब्याज का धंधा अक्षम्य नहीं समझा जाता किन्तु उसके परिवार के लिए यदि आप एक बूंट भी नहीं बचने दें तब तो वह अवश्य ही अक्षम्य हो जाता है।

मैने सुना है भारत के कुछ प्रान्तों में तो सौ रुपया सैकड़ा तक ब्याज लिया जाता है। फिर भी गरीब रुपया लेने को तैयार हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर वह रुपया ले लेता है पर जब परिस्थितियों से लड़कर भी वह रुपया अदा नहीं कर पाता तो सूदखोर साहूकार उसका मास-मास बाब और घर तक नीलाम करा लेता है। इस तरह गाँव के गाँव बर्बाद हो जाते है।

एक भारतीय राजर्षि ने राजा को राज-धर्म बतलाते हुए कहा है —

'हे राजन्! तेरी प्रजा तेरी गाय है। तू उसका दूध दुह सकता है क्योंकि तू उसकी रक्षा करता है और समय

समय पर उसे अन्याय से बचाता है, और जब लुटेरे उसे लूटते हैं तब तू देश को लूटमार से बचाता है। इस प्रकार जब तू प्रजा की सेवा करता है तो इसका प्रतिफल तुझे टैक्स के रूप मे मिलता है। जब तक दूध आता है, तू अवश्य दुह ले, किन्तु जब दूध के बजाय रक्त आने लगे, तो तुझे दुहने का हक नही है।"

नीतिकार ने यह बात राजा से कही है। राजा तो राजा है, किन्तु व्यापारी उससे भी ऊँचे है। कहा जाता है कि पहला नम्बर शाह का है और बाद मे बादशाह का। अभिप्राय यह है कि व्यापारी, सेठ या और भी, लेन-देन का धन्धा करने वाला एक तरह से शाही धधा करता है और समय पडने पर राजा भी उससे भीख माँगता है। इस प्रकार उसके व्यापार के हाथ ऐसे हैं कि व्यापारी का स्तर ऊँचा माना जाता है और राजा का नीचा।

जब साहूकार को इतना ऊँचा दर्जा मिला है तो उसे सोचना चाहिए कि उसके कर्जदार की क्या हालत है? कर्जदार की आर्थिक स्थिति जब तक ठीक है, तब तक उससे न्याय-नीति पूर्वक अपना हिस्सा लिया जाए। परन्तु जब उसकी स्थिति ठोक न हो, तो उसे और अधिक देना चाहिए तथा व्यवसाय का लाभप्रद उपाय बताना चाहिए, जिससे कि अमुक ढग से कार्य करने पर उसका घर भी बन जाएगा और जब उसका घर बन जाएगा तो आप भी कमा लेंगे। यह पद्धति ठीक नही कि किसी को रुपया तो दे दिया, किन्तु फिर कभी यह मालूम ही नही किया कि वह किस अनुचित एव हानिकारक

डग पर लगाया जा रहा है। कर्जदार आपत्ति-सागर मे से ऊपर उभर कर आ रहा है या अधिकाधिक गहराई में डूबता जा रहा है ?

ब्याज लिया जाता है तो उसके साथ मानवीय उदारता तथा प्रेम भी दिया जाना चाहिए। और प्रेम-दान का सच्चा अर्थ यह है कि वह कर्जदार भी आपके परिवार का एक सदस्य बन गया है। और जब सदस्य बन गया है तो वह आपका एक अभिन्न अङ्ग बन चुका है। इस तरह जैसे आपको अपने परिवार की चिन्ता रहती है वैसे ही उसकी भी समान रूप से चिन्ता रहनी चाहिए और उसके काम धन्धे आदि के सम्बन्ध मे बराबर पूछताछ करते रहना चाहिए।

अभिप्राय यही है कि अन्यान्य व्यापार-धन्धो की तरह ब्याज का धन्धा भी जब तक न्याय और नीति की मर्यादा में रहता है तब तक वह श्रावक के लिए दूषण नही कहा जा सकता। परन्तु नीति-मर्यादा को लाँघकर जब वह शोषण का रूप धारण कर लेता है तब वह एक प्रकार से अत्याचार एवं लूट कहलाता है और नीतिशील श्रावक के लिए वह अनैतिक दूषण बन जाता है।

आपने रायचन्द भाई के जीवन की एक घटना सुनी होगी। वह एक बड़े दार्शनिक और योगी पुरुष हो गए हैं। गाँधीजी ने कहा है कि मैंने किसी को अपना गुरु नही बनाया किन्तु मुझे यदि कोई गुरु मिले हैं तो वह रायचन्द भाई हैं। रायचन्द भाई पहले बम्बई मे जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होने एक व्यापारी से सौदा किया कि इतना जवा-

हरात, अमुक भाव मे, अमुक तिथि पर देना होगा । इसके लिए जो पेशगी रकम देनी पडती है, वह भी दे दी गई। परन्तु किसी कारणवश जवाहरात का भाव चढने लगा और इतना चढ गया कि बाजार मे उथल-पुथल मच गई। नियत तिथि पर व्यापारी से यदि वह नियत जवाहरात ले लिया जाता तो उसका घर तक नीलाम हो जाता। प्राय दूसरी चीजो मे तेजी-मदी कम होती है, परन्तु जवाहरात मे तो वह लम्बी छलांगे मारने लगती है। बाजार की इस हालत को देखकर व्यापारी सकपका जाता है, और उसके होश-हवाश उडते दिखलाई देते हैं।

जब बाजार के चढते भावो के समाचार रायचन्द भाई के पास गए और तदनुसार व्यापारी की स्थिति का चित्र सामने आया तो वे उस व्यापारी की दूकान पर पहुँचे। उन्हे आता देखकर व्यापारी सहम गया। उसने सोचा—, जवाहरात लेने आ गए हैं। उसने रायचन्द भाई से कहा—मैं आपके धन का प्रबन्ध कर रहा हूँ। मुझे खुद को चिन्ता है और चाहे कुछ भी हो, आपका रुपया जरूर चुकाऊँगा। भले ही मेरा सर्वस्व चला जाय, पर आपका रुपया हजम नही करूँगा। आप किंचित् भी चिन्ता न करे।

रायचन्द भाई बोले—मैं चिन्ता क्यो न करूँ? मुझे तुमसे अधिक चिन्ता लग गई है। आपकी और मेरी चिन्ता का मुख्य कारण तो यह लिखा-पढ़ी ही है न? फिर क्यो न इसे खत्म कर दिया जाए! और व्यर्थ की चिन्ता से मुक्ति पाई जाए।

व्यापारी दयाभिलाषी भाव से बोला—आप ऐसा क्यों करेंगे? मै कल-परसों तक अवश्य अदा कर दूंगा।

उसका इतना कहना समाप्त भी नही हुआ था कि रायचन्द भाई ने उस इकरारनामे के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और फिर दृढ़ उदार भाव से वह बोले—

'रायचन्द दूध पी सकता है खून नही। मै भली-भाँति समझता हूँ कि तुम वायदे से बँध गए हो। पर अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं और मेरा तुम पर चालीस-पचास हजार रुपया लेना हो गया है। परन्तु मै यह रुपया लूंगा तो तुम्हारी भविष्य मे क्या स्थिति होगी? मै तुम्हारी वर्तमान स्थिति से अनभिज्ञ नही हूँ। मै अब एक पाई भी नही ले सकता।

यह कहकर रायचन्द भाई ने जब कागज का आखिरी पुर्जा भी फाड़ डाला तो वह व्यापारी उनके चरणों में गिर पड़ा और सजल नेत्रों से उसने कहा—आप मानव नही मानवता की साक्षात् प्रतिमा हैं। मनुष्य नही देवता हैं!!

इस प्रकार समय पर लेना और देना भी होता है किन्तु कभी-कभी परिस्थिति-विशेष के उग्र रूप धारण करने पर रायचन्द भाई की तरह आपके हृदय मे दया और करुणा की लहर पैदा होनी ही चाहिए। इस मानवीय उदारता के द्वारा यदि आप किसी भी गिरते हुए भाई को समय पर बचा लेते हैं तो इस रूप मे समाज का अनैतिक शोषण बन्द हो सकता है। परन्तु ऐसा होता कहाँ है? हम तो यही समझते हैं और प्रतिदिन के व्यवहार मे देखते भी हैं कि हिंसा और अहिंसा की मीमासा आज के मानव-समाज के लिए

एक प्रकार से मनोरंजन की बातें हैं। ऐसी अशोभनीय बातों से जैन-धर्म उच्चता के अभीष्ट शिखर पर कदापि नहीं पहुँच सकता, अपितु वर्तमान स्तर से शनैः-शनैः नीचे खिसक कर एक दिन हृदय-हीनता की निम्नतर पृष्ठ-भूमि पर चला जाएगा।

वस्तुतः अहिंसा का सच्चा साधक वही है जो अपने जीवन व्यापार के प्रत्येक क्षेत्र में हर प्रकार की हिंसा से बचने का प्रयत्न करता है। क्या मकान और क्या दुकान, सभी उसके लिए धर्म-स्थान होते हैं। उसके जीवन व्यापार में और प्रत्येक दशा में, एक प्रकार की सुसंगति रहनी चाहिए।

तृतीय खण्ड

कृषि-उद्योग

और

अहिंसा तत्त्व

प्रगति राष्ट्र के जीवन-तरु की,
है उद्योग-प्रगति पर निर्भर।
किन्तु वही उद्योग हितकर,
जिसमें वहे अहिंसा-निर्भर ॥

— १ :—

मानव-जीवन और कृषि-उद्योग

जैन धर्म अति विशाल और प्राचीन धर्म है। उस पर हमें गर्व है कि उसने हजारों ही नहीं लाखों और करोड़ों मानवों का पथ-प्रदर्शन किया है। उसने जनता को जीवन की सच्ची राह बतलाई है। और भूले-भटके अनगिनत पथिकों को जो गलत राह पर चल रहे थे कहा कि—तुम जिस राह पर चल रहे हो वह जीवन की सच्ची राह नहीं है बल्कि अमुक उस सत्य की सीधी राह पर चलने से ही तुम्हारा विकास हो सकेगा और तुम अपनी मंजिल तक पहुँच सकोगे।

हाँ तो तथाकथित जैन-धर्म और उसकी सर्वविदित महत्ता के सम्बन्ध में आज दिन जनता के मन में एक भ्रामक प्रश्न चल रहा है कि—यह केवल आदर्शवादी है या यथार्थवादी भी है? यह आदर्शों के सुनील आकाश में ही उड़ता है या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी कभी उतरता है?

अनेक बार हम देखते हैं कि आदर्श आदर्श बनकर रह जाते हैं और ऊँचाइयाँ ऊँचाइयाँ ही बनी रहती हैं। वे जीवन की गहराइयों को और उसकी समस्याओं को हल करने वाले वास्त

विक समाधान की भूमिका पर नहीं उतरतीं। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते हैं, जो प्रारम्भ में तो बहुत ऊँची उड़ान भरते हैं और आकाश में उड़ते दिखलाई देते हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन के सुनिश्चित धरातल पर नहीं उतरते, क्योंकि उनमें जनता की समस्याओं का उचित समाधान करने की क्षमता नहीं होती।

इसके विपरीत कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते हैं। वे जनता की आवश्यकताओं का, समस्याओं का सीधे ढंग से समाधान करते हैं। आज दिन बच्चों, बूढों, युवकों और महिलाओं की क्या समस्याएँ हैं? भूखी-नगी जनता की क्या समस्याएँ हैं। इन सब पर गहराई में उतर कर विचार करना ही उनकी सैद्धान्तिक यथार्थता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

हाँ, तो समाज फिर किस पृष्ठ-भूमि पर टिकेगा? वह कोरे कथोपकथन और कागजी आदर्शवाद पर जीवित नहीं रह सकता। जब उसे व्यावहारिक यथार्थवाद मिलेगा, तभी जिन्दा रहेगा। इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा भी है —

"बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते,
पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।"

अर्थात्—एक आदमी भूखा है और भूख के ताप से छटपटा रहा है। ऐसी स्थिति में व्याकरण के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों से उसका पेट नहीं भरेगा।

काव्य का रस बड़ा मीठा है। जब कविता पाठ होता है तो लोग मन्त्र-मुग्ध होकर जम जाते हैं और घण्टों तक जमे

रहते हैं अमृत-पान जैसा आनन्द भी अनुभव करते है। किन्तु प्यास से व्याकुल यदि कोई प्यासा वहाँ आए और पानी माँगे किन्तु उससे यह कहा जाय कि— भाई, यहाँ पानी नही है। यहाँ काव्य है जोकि बहुत ही मधुर है उसमे अमृत जैसा मधुर रस है। इसी को पीकर अपनी प्यास बुझा लो। तो क्या पानी के प्यासे की प्यास काव्य रस से बुझ सकेगी ? क्या वह काव्य का रस पी भी सकेगा ?

इसीलिए व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध मे यथार्थवादी आचार्य कहते हैं कि जीवन-व्यापार की समस्याएँ न तो अलकारो से सुलझ सकती हैं न साहित्य से और न कविताओ से ही। उन्हे सुलझाने के लिए तो कोई दूसरा ही सही हल खोजना पडेगा।

दो चार दिन का भूखा एक आदमी आपके सामने आता है। वह आपसे चार कौर भोजन पाने की इच्छा रखता है और माँग करता है। आप उससे कहते हैं— भाई, इस समय धर्म का भोजन तो तैयार है। दो दिन हो गए है तो दो दिन का उपवास और कर लो। अरे रोटियो मे क्या रखा है ? अभी खाओगे अभी फिर भूख लग जाएगी। अनादिकाल से खाते आ रहे हो और अनन्त-अनन्त सुमेरु पर्वतो के बराबर रोटियो के ढेर खा चुके हो। फिर भी तुम्हारी भूख नही मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है ? छोड़ो इस पुद्गल की रोटी को। अब धर्म की रोटी से लो जिससे इस लोक की भी भूख बुझेगी और परलोक की भी भूख बुझ जाएगी।

आप ही कहिए, क्या सच्चे धर्म की यही व्याख्या है ? यह धर्म का उपदेश है या उसका मज़ाक ? यह एक ऐसा विचार है, जिससे जनता के मन को साधा नही जा सकता, बल्कि उसके हृदय में कांटा चुभाया जाता है। क्या मानव-जीवन इस तरह चल सकेगा ?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नही है। वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओ के साथ निष्ठुर उपहास करता है। वह, मर जाने के बाद तो स्वर्ग की बात कहता है, किन्तु जीवित रहकर इस ससार को स्वर्ग बनाने की बात कभी नहीं कहता। मरने के पश्चात् स्वर्ग मे पहुंचने पर ६४ मन का मोती मिलने की बात तो कहता है, परन्तु जिन्दा रहने के लिए दो माशा अन्न के दाने पाने की राह नही दिखलाता। वह स्वर्ग का ढिढोरा तो पीट सकता है, किन्तु जिस मृत-प्राय प्राणी के सामने ढिढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए जीवन की कला नही सिखलाता। इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे वह कोई भी हो, जनता के काम का नही है। आज की दुनिया को ऐसे निस्सार धर्म की आवश्यकता भी नही है।

आखिर, कोई धर्म यह तो बताए कि मनुष्य को करना क्या है ? क्या धर्म, प्रस्तुत जीवन की राह नही बतला सकता ? क्या, मौत का रास्ता दिखलाने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है ?

उधार का भी अपने आप में मूल्य तो अवश्य है, परन्तु जिस दुकान मे उधार बिक्री का ही व्यापार चलता हो, और

मकद बिक्री की बात ही न हो क्या वह दुकान अपने को स्थिर रख सकेगी ? इसी तरह जो धर्म परलोक के रूप मे केवल उधार की ही बात करता है और कहता है कि उपवास करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन और तदनुसार कठोर क्रियाकाण्ड करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! तीर्थ स्थानो का पर्यटन करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! किसी से कलह-सघर्ष आदि नही करोगे तो मरने के बाद अमुक राज्य का वैभव रूप फल पा जाओगे । परन्तु जो धर्म यह नही बतलाता है कि आप या हम क्रमश श्रावक और साधु बनकर जो काम कर रहे है उनका यहाँ क्या फल मिलेगा ? जो धर्म यह नही बता सकता कि वर्तमान कर्तव्य का पालन करोगे तो स्वर्ग यही पर और इस जीवन मे ही उतर आएगा—जिससे तुम्हारा समाज परिवार और राष्ट्र स्वय ही स्वर्ग बन जायगा । फिर उस सारहीन धर्म का साधारण जनता क्या उपयोग करे ?

सचाई तो यह है कि स्वर्ग मे वे प्राणी ही जाएँगे जिन्होने अपने सत्कर्म और सदाचार के द्वारा यही पर स्वर्ग बना लिया है । जो यहाँ पर स्वर्ग नही बना पाए है और जो यहाँ पर घृणा भुखमरी और हाहाकार का नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे है उन्हे किसी धर्म के द्वारा यदि कभी स्वर्ग मिला भी तो वह रो-रोकर ही मिलेगा । हँसते-हँसते कभी नही मिलने का ।

धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान मे जो भी प्रकरण चल रहा हो उसे आप केवल सुनने के लिए ही मत सुनिए, अपितु मनन

करने के लिए सुनिए। उसमे कोई बात अमुक ढग से चल रही है और शायद वह बात आप में से बहुतो के गले नही उतर रही है, क्योंकि पहले वह आपको दूसरे रूप में सुना दी गई है जो अभी तक गले में अटकी हुई है। वही पुराना प्लास्टर मेरी आज की बात को आपके गले मे नही उतरने देता है। फिर भी आपको इन बातो पर चिन्तन—मनन करना ही होगा। वस्तुत गम्भीर चिन्तन और मनन नहीं किया गया है। इसीलिए जैन-धर्म को बदनाम होना पडा है और अपने को 'जैन' कहने और समझने वाले आज के जैनो की आचार-विहीनता तथा विवेक-शून्यता के कुपरिणाम स्वरूप 'जैन-धर्म' के उज्ज्वल मुँह पर कालिख लग गई है।

परन्तु इस दुरवस्था को देखकर हम जैनो को अधीर होकर पतन के प्रवाह मे नहीं बहना है, बल्कि तत्त्व-ज्ञानियो से सदुपदेश ग्रहण कर भूत की भूल का प्रायश्चित्त करना है, और पतन के प्रवाह पर पवित्रता का प्रतिबन्ध लगाकर सदाचार के माध्यम से वर्तमान जीवन का पुनर्निर्माण करना है। ऐसा क्यो? और किसके लिए? अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए नही, बल्कि सम्पूर्ण मानव-समाज की जीर्णता को दूर करने के लिए, और राष्ट्र की अभीष्ट समृद्धि के लिए!

हाँ, तो मध्यकाल मे हमारी चिन्तन-पद्धति विकृत हो गई थी, और उसके कारण जैन-धर्म के उज्ज्वल मुख पर कालिख लग गई है। उसे साफ करने का काम किसी परोक्ष देवी-देवता का नही है, आपका है। आप ही उस कालिख को

दूर कर सकते हैं। भगवान् महावीर के उज्ज्वल सिद्धान्तों पर काल-दोष से या भ्रान्त-बुद्धि से जो धूल जम गई है उसे साफ करने का एकमात्र उत्तरदायित्व आज आप जैन कहलाने वाले भक्तों पर आ पड़ा है।

यदि आप आज भी यही सोचते हैं—अजी क्या है! संसार तो यों ही चलता रहेगा। लोग भूखे मरें तो क्या? खाने को मिले तो खाओ और यदि नहीं भी मिले तो क्यों ही खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मों का बंध हो जाएगा। इस प्रकार खाने-पीने की बातों में आत्मा का कल्याण नहीं होना है। ये सब संसार की कपोल कल्पित बातें हैं और संसार की बातों से हमारा सम्बन्ध ही क्या है? जो संसार का मार्ग है वह बंधन का ही मार्ग है, एक प्रकार से नरक का ही रास्ता है।

किन्तु आपको यह भी जानना चाहिए कि जीवन में पेट की समस्या ही बहुत बड़ी समस्या है। जब कभी आपको भूख लगे और भोजन के लिए एक अन्न-कण भी न मिले तब चिन्तन की गहराई में अपनी बुद्धि का गज डालिए उस समय पता लगेगा कि भूखों की क्या शोचनीय अवस्था होती है? उस समय धर्म-कर्म की मरहम पट्टी काम देती है या नहीं? जब मनुष्य भूख की पीड़ा से व्याकुल होता है आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है और मृत्यु का नगा नाच होने लगता है उस हालत में समता या दृढ़ता का मरहम लगाने वाला सौ में से एक भी शायद ही निकले अन्यथा सभी पागल होकर सहज में अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ जाते

है। अस्तु, जैन-धर्म कहता है कि जीवन मे सबसे बडी वेदना भूख की है।

जैन-शास्त्रो मे जो बाईस परीषह आते हैं, उनमे पहला परीषह क्षुधा का है। शेष ताडन या वध आदि क्रूर परीषहों का नम्बर बहुत दूर आता है। स्थूल हिंसा के रूप मे सोचने का जो ढग हमे मिला हुआ है या हमने जो ढग अपना रखा है, उसके अनुसार तो सबसे पहला परीषह वध-परीषह होना चाहिए था। कोई किसी को मार दे या वध कर दे, तो उसके बराबर तो क्षुधा-परिषह नही है। फिर वध को पहला परीषह न गिनकर भूख को ही पहला परीषह क्यो गिना है?

हाँ, तो साहब! आज भी हजारो आदमी ऐसे मिलेगे जो भूख से बुरी तरह छटपटा रहे हैं। वे चाहते हैं कि भूख की ज्वाला मे तिल-तिल करके भस्म होने की अपेक्षा यदि उन्हें कत्ल कर दिया जाय तो अधिक अच्छा हो। घुट-घुटकर रोज-रोज मरने, और एक-एक प्राण छिटकाकर नष्ट होने के बजाय एक साथ मर जाना, वे कही ज्यादा ठीक समझते हैं। वध और क्षुधा परीषह दोनो मे से एक को चुनने को कहा जाय तो वे लोग वध को मजूर करेंगे। कई लोग रेलो के नीचे कटकर या कूप-तालाब मे गिरकर इसीलिए मरते है कि उनसे अपनी स्त्री और बच्चो की भूख की पीडा नही सही जा सकती। वे भूख की वेदना से छुटकारा पाने के लिए ही मरने की वेदना को सहसा स्वीकार कर लेते हैं। एक महान् आचार्य ने ठीक ही कहा है —

"छुहासमा नत्थि सरीरवेयणा।"

अर्थात्—'भूख की पीड़ा के समान और कोई पीड़ा नहीं है।

मैं समझता हूँ कि आप इस तथ्य को जल्दी अनुभव नहीं कर सकते हैं क्योंकि आपकी स्थिति दूसरे प्रकार की है। कोई भी व्यक्ति जब तक सुख और समृद्धि की स्थिति मे रहता है तब तक वह दुःख की भयकर स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु बगाल और बिहार के दुष्काल मे लोग जब भूख से छटपटाते हुए गिरते थे तो अपने प्राणो से भी अधिक प्यारे बच्चो को दो-दो रुपये मे बेचते हुए नहीं हिचकते थे और दो रोटियो के पीछे स्त्रियाँ भी अपने सतीत्व को नष्ट कर देती थी। इस प्रमाण से आप समझ सकते है कि भूख के पीछे दुनिया के भारी से भारी दुष्कर्म और पाप किये जाते हैं। जब भूख लगती है तो मनुष्य उसकी तृप्ति के लिए क्या नहीं कर गुजरता ? मरता क्या न करता ? आचार्य ने कहा है —

'बुभुक्षित किं न करोति पापम् ?'

अर्थात्—'दुनिया मे वह कौन-सा पाप है जो भूखा नहीं करता है ? धोखा वह देता है, ठगी वह करता है वह सभी कुछ कर सकता है। और तो क्या माता और बहिन अपनी पवित्रता तक को बेच देती है ! किस लिए ? केवल रोटी के लिए।

भूख वास्तव मे एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को गुणस और क्रूर बना देती है। जब वह अपने पूरे कोप मे होती है और उसे शान्त करने के लिये दो रोटी भी नहीं

मिल पाती है, तो पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नही लगता है। और तो क्या, स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्राण-प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीनकर खा जाते है। जब ऐसी स्थिति है तो आचार्य ठीक ही कहते हैं कि भूखा आदमी सभी पाप कर डालता है।

एक जीवनदर्शी दार्शनिक ने कहा है —

"बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्।"

अर्थात्—"भूख के मारे को कुछ भी नही सूझता है।" निरन्तर की भूख ने उसकी ज्ञान-शक्ति को नष्ट कर दिया है।

वह कौन-सी चीज थी ? जिसने मेवाड के ही नहीं, वरन् समूचे भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित कर दिया था ? अपने बच्चो की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही तो वे अकबर से सन्धि कर अपनी प्यारी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता को खो देने के लिए विवश हो गए थे। जब प्रताप जैसे दृढ-प्रतिज्ञ और कष्ट सहिष्णु व्यक्ति भी भूख के प्रकोप से अपने सुदृढ सकल्पो से गिरने लगते हैं और ऐसा काम करने के लिए तत्पर हो जाते है, जिसकी स्वप्न में भी वे स्वय कल्पना नही कर सकते थे, तो आज के साधारण आदमियो का तो कहना ही क्या है ? आजकल तो एक दिन का उपवास भी दैवी प्रकोप जैसा अनुभव किया जाता है।

यदि हम इन सब बातो पर गम्भीरता पूर्वक विचार करे तो पता लगेगा कि भूख वास्तव मे कितनी बडी वेदना है।

आप कहेगे कि तब वे भगवान् नही बने थे। किन्तु क्या आप यह नही जानते कि उन्हे ऽ मति, श्रुत और अवधि—ये तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान प्राप्त थे। उनका अवधिज्ञान लूला-लँगडा या भूला-भटका, अर्थात् विभगज्ञान नही था। वह विशुद्ध ज्ञान था। उस स्थिति मे भगवान् ने जो कुछ भी किया, वह सब क्या था ?

प्रागैतिहासिक काल के युगलियों❀ की जनता को खाना तो जरूरी था ही, पर काम नही करना था। सर्दी मे बचने के लिए कपडा या मकान कुछ भी चाहिए, जो आवश्यक ही था, किन्तु वस्त्र या मकान नही बनाना था। जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था, परन्तु पुरुपार्थ की आवश्यकता समझ मे नही आई थी। इसी स्थिति मे चलते-चलते युगलिया-जन भगवान् ऋषभदेव के युग मे आ गए।

ऽ इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान 'मति' है। विशिष्ट चिन्तन मनन एव शास्त्र से होने वाला ज्ञान 'श्रुत' है। मूर्तिमान् रूपी पुद्गल पदार्थों का सीमा सहित ज्ञान 'अवधि' है। ये तीनो ही ज्ञान सम्यग् दृष्टि विवेकशील आत्माओ को होते हैं तो ज्ञान कहलाते हैं। और यदि मिथ्यादृष्टि अविवेकी आत्माओ को होते हैं तो अज्ञान, अर्थात् कुज्ञान हो जाते हैं।

❀ जैन-धर्म मानता है कि वर्तमान काल-चक्र की आदि में मानव-जाति वन-सभ्यता में रहती थी। नगर नही थे, उद्योग-धन्धे नही थे, किसी प्रकार का शासन भी नही था। सब लोग वृक्षो के नीचे रहते थे और भिन्न-भिन्न कल्पवृक्षो से ही अपनी भोजन वस्त्र आदि की आवश्यकताएँ पूरी करते थे। ये लोग शास्त्र की भाषा में यौगलिक यानी युगलिया कहलाते हैं।

इस युग मे कल्पवृक्षो के कम हो जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति मे गडबड होने लगी, फलस्वरूप जनता भूख से आकुल हो उठी। पेट मे भूख की आग सुलगने लगी और तत्कालीन जनता उसमे भस्म होने लगी। उसे देखकर भगवान् के हृदय मे अपार करुणा का झरना बह उठा और उन्होंने जनता की भूख की सुलगती समस्या को शान्त किया। इसी सम्बन्ध मे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।

—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

हाँ तो भगवान् के कोमल हृदय मे अपार करुणा का झरना बहा और उन्होंने देखा कि यह सारी जनता भूख की ज्वाला से पीड़ित होकर खत्म हो जाएगी आपस मे लड-झगडकर मर जाएगी खून की धाराएँ बहने लगेंगी तो भगवान् ने उस अकर्मण्य प्रजा को कर्म की और पुरुषार्थ की नव चेतना दी और अपने हाथो-पैरो से काम लेना सिखलाया। कर्तव्य विमूढ प्रजा को कर्मभूमि मे अवतरित किया और भुखमरी की समस्या को अपने हाथों सुलझाने की सही दिशा दिखलाई। दूसरे शब्दो मे कहे तो कृषि-कर्म करना सिखलाया।

अन्न का दाना और तन का कपड़ा—दोनों कृषि से प्राप्त होते हैं। जिन्दगी की प्रमुख आवश्यकताएँ केवल दो ही है—अन्न और कपड़ा। जनता के कोलाहल मे यही ध्वनि फूटती है कि 'रोटी' और 'कपड़ा' चाहिए। फ्रांस का सम्राट्

लुई महलो मे आनन्द कर रहा था और हजारो की सख्या मे प्रजाजन भूख से छटपटाते नीचे से आवाज लगाते हुए गुजरे कि—"रोटी दो या गद्दी छोडो !"

यह आवाज सुनकर सम्राट् ने पास मे बैठे हुए महामत्री से पूछा—'क्या जनता ने बगावत कर दी है ?' महामत्री ने कहा—'यह बगावत नही, क्रान्ति है।' और महामत्री के मुँह से निकले हुए 'शब्द' सारे ससार म फैल गए कि—'भूख से बगावत नही, इन्किलाब होता है।'

हाँ, तो भगवान् ऋषभदेव उस भूखी जनता को देखकर कोरे आदर्शवाद मे नही रहे, न उन सब भूखो को उपवास का उपदेश ही दिया, और न साधु बन जाने या सथारा* करने की सलाह ही दी। जैसा कि कुछ लोग कहते हैं —

"बलता जीव बिलबिल बोले, साधु जाय किवाड न खोले।"

मकान मे आग लग गई है। उसके भीतर मनुष्य और पशु बिलबिला रहे हैं, फलत दयनीय कुहराम मच रहा है। ऐसे समय मे पत्थर के दिल भी मोम की भाँति पिघल जाते हैं। किन्तु कुछ महानुभावो का फरमान है कि जलने वाले जीवो को बचाने के लिए उस मकान का दरवाजा नही खोलना चाहिए। यदि कोई साकल खोल देता है तो उसे हिसा, असत्य आदि पाप लग जाते हैं।

---

* जब शरीर मरणासन्न हो, और जीवन-रक्षा के लिए कोई भी सात्त्विक उपचार कारगर न हो, तो आमरण उपवास करके अपने आपको परमात्म भाव में लीन कर देना, और प्रसन्न भाव से मृत्यु का वरण करना, जैन-दर्शन में 'सथारा' कहलाता है।

अब प्रश्न यह है कि ऊपरकथित भयंकर अग्नि काण्ड के समय यदि कोई साधु जी महाराज वहाँ विराजमान हों तो क्या करें ? उत्तर मिलता है कि—'संथारा कराएँ, आमरण उपवास कराएं और उपदेश दें कि—संथारा ले लो और आगे की राह तलाश करो। यहाँ जीने की राह नहीं है !

मैं समझता हूँ यदि कोई सचमुच मनुष्य है और उसके पास यदि मनुष्य का दिल और दिमाग है और वह पागल नहीं हो गया है तो कौन ऐसा है जो मरते हुए जीवों को बचाने के लिए साँकल न खोल देगा ? और कौन यह कह सकेगा कि संथारा ले लो ? क्या यह धर्म का मजाक नहीं है ? ये ऐसी शोचनीय स्थितियाँ हैं जिनके लिए प्रत्येक समझदार आदमी यह कहने का साहस जरूर करेगा कि यह धारणा समाज धर्म और साधुपन का दिवाला निकाल देने वाली निराधार एवं मनगढ़न्त मान्यता है।

भगवान् ऋषभदेव इस सिद्धान्त पर नहीं चले कि जो भूखा मर रहा है उससे कहा जाय कि—संथारा कर लो स्वर्ग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। वहाँ जाकर सुगन्ध लिया करना और तुम्हारी भूख-प्यास की तृप्ति हो जाया करेगी। उन्होंने इस मार्ग को भूल से भी अंगीकार नहीं किया। वे आचार-विचार से यथार्थवादी थे और यथार्थवादी होने के नाते उन्होंने सोचा कि जनता को यदि सही रास्ते पर नहीं ले जाया गया तो वह महा-आरम्भ के रास्ते पर चली जाएगी और माँसाहार के पथ पर चलकर घोर हिंसक हो जाएगी। एक बार यदि महा-हिंसा के पथ पर चल पड़ी तो

तो फिर उसे मोडना मुश्किल हो जाएगा। अतएव उन्होने भूख के कारण महा-आरभ की ओर जाती हुई भोली-भाली जनता को अल्प-हिंसा की ओर लाने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि भगवान् का सन्देश जहाँ-जहाँ पहुँचा और जिन व्यक्तियो ने उसे अपनाया, वे आर्य बन गए। और जहाँ वह सन्देश नही पहुँचा या जिन्होने उस सन्देश को स्वीकार नही किया, वे म्लेच्छ हो गए।

सम्भवत उस आदिकाल मे आप मे से भी कुछ भाई युगलिया रहे होगे, और आपके पूर्वज तो रहे ही हैं। एक दिन सारी भारत-भूमि मे अकर्म-भूमि की परम्परा थी और उस परम्परा के लोगो मे वैर-भाव नही था, घृणा नही थी, द्वेष नही था। वहाँ के पशु भी ऐसे थे कि किसी को बाधा और पीडा नही पहुँचाते थे। जहाँ के पशु भी ऐसे सात्विक वृत्ति वाले हो, तो फिर वहाँ के आदमी पशुओ को मारकर क्यो खाने लगे? भगवान् ऋषभदेव ने उसी वृत्ति को कृषि आदि के रूप मे कायम रखा और मासाहार का प्रचलन नही होने दिया।

अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ, वहाँ-वहाँ आर्यत्व बना रहा और महारभ न होकर अल्पारभ का प्रचलन हुआ। परन्तु जहाँ कृषि की परम्परा नही चली, वहाँ के भूखे मरते लोग क्या करते? तब आपस मे वैर जगा, और क्षुधाजन्य क्रूरता के कारण पशुओ को मारकर खाने की प्रवृति चालू हो गई। तात्पर्य यही है कि—'कृषि' अहिंसा का उज्ज्वल प्रतीक है।

जहाँ भी कृषि अग्रसर हुई है, वहाँ के जन-जीवन मे उसने अहिंसा के बीज डाले है। और जहाँ कृषि है वहाँ पशुओं की जरूरत भी अनिवार्यतः रहती है फलतः उनका पालन भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कृषि अहिंसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा प्रवाहित होने वाली अहिंसा की धारा मनुष्यो के अतिरिक्त पशुओ की ओर भी बही है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ खेती गई वहाँ वह अहिंसा के सिद्धान्त को लेकर गई। और जहाँ कृषि नही गई वहाँ अहिंसा का सिद्धान्त भी नही पहुँचा।

मेक्सिको के निवासी मछली आदि के शिकार के सिवाय कोई दूसरा काम-धन्धा नही कर पाते है। कल्पना कीजिए—यदि कोई जैन सज्जन वहाँ पहुँच जाए तो देखेगा कि लोगो के हाथ रात-दिन खून से किस तरह रगे रहते हैं क्योकि जानवरो का मास चमड़ा चर्बी आदि का उपयोग किये बिना उनके लिए कोई दूसरा साधन ही नही है। ऐसी स्थिति मे यदि वह जैन उन्हे जैन-धर्म का कुछ सन्देश देना चाहे उस हिंसा को रोकना चाहे और यह कहे कि—मछली हिरन सुअर वगैरह किसी जीव को मत मारो तो वे लोग क्या कहेगे ? तब वे उससे पूछेंगे कि—फिर हम खाएँ क्या ? और जब यह प्रश्न सामने आएगा तो वह क्या उत्तर देगा ? कल्पना कीजिए, यदि आप स्वय वहाँ पहुँच गए हो तो क्या उत्तर देगे ? यदि आप उन्हे अहिंसक बनाना चाहते है तो क्या उपाय करेगे ? क्या आप उन्हे सदा के लिए आमरण सथारे के रूप मे वोसिरे-वोसिरे' करा देंगे ? यदि नही

तो वे भूखे जीवित रहकर क्या करेगे—क्या खाएँगे ? तब यह प्रश्न कैसे हल होगा ? यदि जीवन के लिए कोई समुचित व्यवस्था नही करेगे तो आप पागल बनकर ही लौटेंगे न ?

हम साधुओ को नाना प्रकार की रुचि और प्रवृत्ति वाले आदमी हर जगह मिलते रहते है। कोई वनस्पति-भोजी मिलते हैं तो कभी कोई मासाहारी भी मिल जाते है। जब मासाहारी मिलते हैं और हम उनसे मासाहार का त्याग कराना चाहते हैं तो उनसे उनकी अपनी भाषा मे यही कहना होता है कि—"प्रकृति की ओर से धान्य का कितना विशाल भण्डार भरा मिला है।" यदि कोई कर्त्तावादी मिलता है तो उससे कहा जाता है कि—"ईश्वर ने कितनी शानदार फल, फूल आदि सुन्दर चीजें अर्पण की हैं। ये सब चीजे ही इन्सान के खाने की हैं, मास नही।" यह कोई आवश्यक नही है कि यही शब्द कहे जाएँ, पर एकमात्र आशय यही रहता है कि उन मासाहारियो को किसी प्रकार समझाया जाए। साधु-भाषा के नाते यद्यपि हम लोग बहुत कुछ बचकर बोलते हैं, फिर भी घूम-फिरकर आखिर बात तो यही कही जाती है कि—त्रस जीव की हिंसा करना, पशुओ को मारना 'महा-आरभ' है और उसके बजाय खेती-बाडी से जीवन निर्वाह करना 'अल्पारम्भ' है।

इस प्रकार समझा-बुझाकर मैंने सैकडो आदमियो को को मास खाने का त्याग करवाया है। दूसरे साधु भी इसी प्रकार की भावपूर्ण भाषा बोलकर मासाहारियो की हिंसा-वृत्ति छुडवाते हैं। इस सम्बन्ध मे आचार्यों ने भी शास्त्रो में यही

कहा है कि— जबकि संसार में इतने अधिक निरामिष खाद्य पदार्थ उपलब्ध हैं और वे सभी इन्सान के खाने की चीज हैं। फिर भी जो पदार्थ खाने के योग्य नहीं है वे क्यों खाए जाते हैं? तो अभिप्राय यही है कि फल फूल धान्य आदि वनस्पति के उपयोग से ही मांस भक्षण जैसे महापाप को रोका जा सकता है और ये सब खाद्य-पदार्थ कृषि के बिना उपलब्ध नहीं होते।

अपने अहिंसात्मक अमूल्य महत्व के नाते कृषि कितनी सुन्दर चीज है। फिर भी अनेक व्यक्ति कृषि को भी महारम्भ कहते हैं जबकि कृषि 'अहिंसा' का आदर्श लेकर चली है। उसने मानव-जाति को क्रूर वन्य पशु होने से रोका है वन वासी भील होने से बचाया है और उसमें प्रायः नागरिकता के बीज डाले हैं। उससे मनुष्य की सामाजिक उन्नति हुई है और जहाँ कृषि नहीं फैली वहाँ के लोग घोर हिंसक मांस-भक्षी और नरमांस भक्षी तक बन गए हैं।

उपरकथित मान्यता के सम्बन्ध में सम्भव है प्रगतिवादी कहलाने वाले आज की पीढ़ी के लोग कुछ और कहते हों किन्तु आपको सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए कि जैन-धर्म क्या कहता है? आप तो श्रेष्ठ बने हैं उच्च बने हैं और अन्य मानव बेचारे भील बन गए हैं इसका क्या कारण है? जैन सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा ने आपको उच्च और उन्हें नीच नहीं बनाया है बल्कि जिनको जीविका के साधन अच्छे मिल गए, वे 'आर्य' बन गए और श्रेष्ठ कहलाने लगे। किन्तु जिन्हें अच्छे साधन नहीं मिले वे म्लेच्छ बन गए। कर्म-

भूमि से पहले अकर्म-भूमि पर निवास करने वाले जुगलियो में 'आर्य' और 'म्लेच्छ' का मूलत कोई वर्ग-भेद नही था ।

हाँ, तो भगवान् ऋषभदेव ने तत्कालीन अभावग्रस्त यौगलिक जनता को 'महारभ' से 'अल्पारभ' की ओर मोडा, 'महा-सघर्ष' से 'अल्प-सघर्ष' की दिशा दी, और उनके दिलो मे दया की पावन गगा प्रवाहित की ।

जैन-शास्त्रो मे प्रस्तुत पचम काल के बाद आगे आने वाले आशिक प्रलय रूप छठे आरक का वर्णन है कि उसके आरभ मे सब वनस्पति एव वृक्ष आदि समाप्त हो जाएँगे । उस समय के मनुष्य भागकर गुफाओ मे चले जाएँगे और वहाँ अति दयनीय स्थिति मे जीवन यापन करेंगे । भोजन के लिए कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल, अन्न कुछ भी प्राप्त न होगा , अत मत्स्य मास के आहार पर ही जीवन-निर्वाह करना होगा । धर्माचरण के रूप में कुछ भी शेष न रहेगा । एक प्रकार से वन्य पशुओ की भाँति मानव-जाति की स्थिति हो जाएगी । वर्तमान काल-चक्र के अनन्तर जब उत्सर्पिणी काल का भी पहला आरक इसी दु ख पूर्ण अवस्था में गुजर जाएगा और दूसरे आरक का आरभ होगा तब मेघ बरसेंगे, निरन्तर जल-वृष्टि होगी । और पृथ्वी, जो उक्त आरको में लोहे के उत्तप्त गोले के समान गरम हो गई थी, शान्त हो जाएगी और फिर सारी वसुन्धरा वनस्पति-जगत् से हरी-भरी हो जाएगी ।

यह वर्णन मूल आगमो का है, कोई कल्पित कहानी नही है । उस समय गुफाओ मे रहने वाले मानव बाहर निकलेंगे । मासाहार के कारण जिनके शरीर मे कुष्ठ और खुजली आदि

अनेक बीमारियाँ हो चुकी होगी वे जब बाहर निकलकर स्वच्छ एव शीतल हवा मे विचरण करेंगे वनस्पति का शुद्ध आहार करेंगे और इससे जब उनके शरीर मे ताजगी आएगी तो सारी बीमारियाँ स्वतः दूर हो जाएँगी।

भगवान् महावीर कहते है कि तब वे सब लोग जन समुदाय को एकत्र करेंगे और यह कहेंगे कि—देखो हमारे लिए प्रकृति की महती कृपा हो गई है और अत्यन्त सुन्दर एव रुचिकर फल फूल तथा वनस्पतियाँ पैदा हो गई है। आज से हम सब प्रण करें कि कभी कोई मास नही खाएँगे। और यदि कोई मास खाएगा तो हम अपने पर उसकी अपवित्र छाया का भी स्पर्श नही होने देंगे।*

अब आप विचार कीजिए कि वनस्पति के अभाव मे क्या हुआ? महारभ ने क्यो जन्म लिया? और उन वृक्षो फलो वनस्पतियो और खेती-बाड़ी के रूप मे जो सात्त्विक पदार्थ प्रकट हुआ उसने क्या किया? स्पष्ट ही है कि उसने यह आदर्श कार्य किया कि जो मासाहार जनता मे चल रहा था उसे छुड़ा दिया। यह प्रसग जैन परम्परा मे सर्वसम्मत है और आगम के मूल पाठ मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

हाँ तो हम देखते है कि खेती-बाड़ी इधर (कर्म-भूमि के प्रारम्भ मे) भी महारभ से बचाती है और जब उत्सर्पिणी का काल चक्र शुरू होता है तब भी वही महारभ से बचाती है। पत्र पुष्प फल और अन्न आदि वनस्पतियाँ आखिर किसके

---

*देखिए, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—दूसरा वक्षस्कार

प्रतीक है ? वे अल्पारंभ के उज्ज्वल प्रतीक है और महारभ को रोकने के प्रामाणिक चिह्न है ।

हाँ, तो इस प्रकार इधर और उधर—दोनो ही काल-चक्र मे जब वनस्पतियाँ पैदा हो जाती हैं और खेती विकसित होती है तो मानव-समाज महाहिंसा से वच जाता है ।

जब ऐसा महान् आदर्श चल रहा है, प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी मे ऐसा ही हुआ करता है, तो हम विचारते है कि क्या जैन-धर्म फल एव अन्न के उत्पादन को महारभ कहता है ? क्या, भगवान् ऋषभदेव ने जनता को महारभ का कार्य सिखाया था ? क्या, उन्होने नरक मे ले जाने वाला कार्य सिखाया था ? वस्तुत वात ऐसी नही है । हम आवेश मे यह वात नही कर रहे है । हमारे मन मे किसी प्रकार के एकान्त का आग्रह नही है, अपितु हमारा जो चिन्तन है और शास्त्रो को गहराई से अध्ययन करने के वाद हमारी जो सुनिश्चित धारणाएँ वनी हैं, उन्ही को आज हम आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं ।

जैन-धर्म इतना आदर्शवादी तथा यथार्थवादी धर्म है कि उसने अन्तरङ्ग की बातो को भली-भाँति समझा और तदनुसार कहा है कि यदि किसी क्षुधार्त को अन्न का एक कण दे दिया तो मानो, उसे प्राणो का दान दे दिया —

"अन्नदान महादानम् ।"

स्थानाग आदि शास्त्रो मे नौ प्रकार के विभिन्न पुण्यो का वर्णन है । उनमे भी सबमे पहले 'अन्न-पुण्य' बतलाया गया है और नमस्कार-पुण्य को सबसे आखिर मे डाल दिया

गया है क्योंकि जब पहले अन्न पेट में पड़े तो पीछे नमस्कार करने की सूझे। जब पेट में अन्न ही नहीं होता और उसके लिए हृदय तड़फता रहता है तो कौन किसको नमस्कार करता है ?

अत पुण्य-साधना के द्वार पर सबसे पहले अन्न-पुण्य ही खड़ा है और दूसरे सब पुण्य उसके पीछे चले आ रहे हैं। अत अन्न के उत्पादन को भी महारम्भ और नरक का मार्ग बताना बुद्धि का विकार नहीं तो और क्या है ?

वैदिक-धर्म के उपनिषदों और पुराणों का मैंने पूर्व अध्ययन किया है। उपनिषद् कहते हैं—'अन्न वै प्राणा' अर्थात्— 'अन्न प्राण है'। इस सम्बन्ध में सुविख्यात सन्त नरसी मेहता ने भी कहा है—

"भूखे भजन न होहि गुपाला
यह लो अपनी कण्ठी माला।"

कोई भूखा रहकर यदि माला पकड़ेगा भी तो कब तक पकड़े रहेगा ? भूख के प्रकोप से वह तो हाथ से छूटकर ही रहेगी। इसीलिए सन्त नरसी ने ठीक ही कहा है कि— गोपाल अब भूखे से भजन नहीं होगा ! सो यह अपनी कण्ठी और लो यह माला भी सँभालो। अब तो रोटी की माला जपूँगा और सबसे पहले उसी के लिए प्रयत्न करूँगा।

इस प्रकार वैदिक-धर्म 'अन्न को प्राण' कहता है और जैन-धर्म अन्न के दान को 'सबसे बड़ा दान'—सर्वप्रथम दान मानता है और भूख के परीषह की पूर्ति को पहला स्थान बतलाता है। इस तरह से एक-से-एक कड़ियाँ जुड़ी हुई

हैं। इस अन्न की प्राप्ति कृषि से ही होती है, और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने युग की आदि मे जनता को कृषि-कर्म सिखाया और बताया। जैन-शास्त्रो मे कही भी साधारण गृहस्थ के लिए कृषि को त्याज्य नही कहा गया है।

कृषि-कर्म को महारभ वतलाने वाले भी एक दलील पेश करते हैं। किन्तु वह दलील अपने आप में कुछ नही, केवल दो शब्द है——'फोडी-कम्मे' जो पन्द्रह कर्मादानो में आते हैं। इस दलील को जव मै सुनता हूँ तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नही रहता। 'फोडी-कम्मे' का वास्तव में क्या अर्थ था और क्या समझ लिया गया है।

मैं चुनौती देकर भी कह सकता हूँ कि 'फोडी-कम्मे' का अथ खेती नही है। उसका अर्थ कुछ और है, और उस पर आपको तथा मुझको गम्भीरता से विचार करना है। गम्भीर चिन्तन करने पर उसका अथ और अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

समग्र प्रमाणभूत जैन-साहित्य मे कही एक शब्द भी ऐसा नही है कि जहाँ कृषि को महारभ वतलाया गया हो। पन्द्रह-पन्द्रह सौ वर्षों के पुराने आचार्य हमारे सामने हैं। उन्होने 'फोडी-कम्मे' का ऐसा सारहीन अर्थ कही नही लिखा, जैसा कि आप समझते हैं। यह भ्रामक अर्थ कुछ दिनो से चल पडा है, जिसे धक्का देकर निकाल दिया जाएगा और उसके सही अथ की पुन प्रतिष्ठा करनी होगी। जो गलत धारणाएँ आज दिन प्रचलित हैं, उन्होने हमे न इधर का रखा है, न उधर का रहने दिया है।

पन्द्रह कर्मादानों में 'रसवाणिज्जे' भी आता है। उसका अर्थ समझ लिया— घी और दूध का व्यापार करना और जिसने यह व्यापार किया वह महारम्भी हो गया। ऐसा कहने वाले शायद शराब को भूल गए। शब्दार्थ के अनुसार मुर्दे भी चीज को तो भूल गए और घी-दूध के बहिष्कार में लग गए।

कुछ साथियो ने 'असईजरा-पोसणिया कम्मे' का अर्थ कर दिया है—'असयत अर्थात्— असयमी जनों की रक्षा करना महारम है।' किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है— 'वेश्याओ या दुराचारिणी स्त्रियो के द्वारा अनैतिक व्यापार करके आजीविका उपार्जन करना। परन्तु उन लोगो ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा—किसी गरीब को भूखे कुत्ते को और यहाँ तक कि अपने माता-पिता को भी रोटी देना महान् पाप एवं अनाचार है।' क्योंकि वे भी असयमी ही ठहरे। इस तरह इसे भी पन्द्रह कर्मादानो मे शामिल कर दिया है।

लेकिन इन सब सारहीन अर्थों को और भ्रामक धारणाओ को बहिष्कार का धक्का मिलना ही चाहिए। जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे तब तक जैन-धर्म को न तो स्वयं ही सही रूप मे समझ सकेंगे और न दूसरो को ही समझा सकेंगे। 'फोडी-कम्मे' की लम्बी चर्चा के लिए इस अवसर पर समय का अभाव है। कभी उपयुक्त अवसर मिलने पर इस गूढ विषय पर विस्तृत और स्पष्ट प्रकाश डाला जाएगा।

—: २ :—

अन्न का महत्त्व

कुछ दिनो से बराबर 'अहिंसा' का ही प्रकरण चल रहा है। विस्तार के साथ अहिंसा पर प्रवचन करने का अभिप्राय यही है कि आप लोग अपने जीवन की सही दिशा और सही राह को प्राप्त करले और इधर-उधर की भुलाने वाली पगडडियो से बचते हुए जन-कल्याण के सीधे निष्कटक मार्ग पर आगे बढ सके।

'अहिंसा' आत्मा की खुराक है, तो 'रोटी' शरीर की खुराक है। जब आत्मा और शरीर साथ-साथ रह सकते हैं, तो अहिंसा और रोटी भी साथ-साथ क्यो नही रह सकती हैं? यदि ये दोनो साथ-साथ न रह सकें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो हमे आत्मा की खुराक से वचित रहना चाहिए, अथवा शरीर को खुराक देना छोड देना चाहिए। इन दोनो में से आप किस प्रयोग को पसन्द करेंगे? यदि आप शरीर को ही खिला-पिला कर पुष्ट करना चाहते हैं, और आत्मा को मरने देना चाहते हैं तो फिर जीवन का, और खासकर इन्सान के जीवन का कुछ अर्थ ही नही रह जाता। मनुष्य और पशु के जीवन मे फिर अन्तर ही क्या रह जाता

है ? और यदि आप आत्मा को खुराक देना चाहते हैं और अहिंसा की साधना करना चाहते हैं तो आपको रोटी से वंचित होना पड़ेगा और रोटी से वंचित होने का अर्थ है—जीवन से और प्राणों से वंचित होना। यदि आप जीवन से वंचित होना चाहते हैं तो फिर अहिंसा की आराधना कौन से साधन के द्वारा करेंगे ?

तब हमारे सामने दूसरा विकल्प उपस्थित होता है कि आत्मा और शरीर, जैसे साथ-साथ रहते हैं क्या उसी प्रकार अहिंसा और रोटी साथ-साथ नहीं रह सकतीं ? इसी प्रश्न पर हमें गहराई से विचार करना होगा। जहाँ तक साधु-वर्ग का सम्बन्ध है उसके सामने कोई समस्या खड़ी नहीं होती क्योंकि उन्हें गृहस्थों के घर से सीधा भोजन भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। परन्तु गृहस्थों के लिए यह बात सुगम नहीं है। वे भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह नहीं कर सकते। यदि सभी गृहस्थ भिक्षाजीवी बन जाएँ, तो उन्हें भिक्षा मिलेगी भी कहाँ से ? अतएव रोटी के लिए उन्हें कोई न कोई आजीविका स्वरूप धन्धा करना ही पड़ता है। परन्तु गृहस्थ का वह आजीविका पूरक धन्धा गृहस्थ की अहिंसा के विरुद्ध न हो ऐसा कोई उपयुक्त साधन खोज निकालना चाहिए।

हाँ तो जीवन की वर्तमान भूमिका में रोटी चाहिए या नहीं ? यह प्रश्न अधिक महत्त्व नहीं रखता। रोटी चाहिए, यह तो सुनिश्चित है। किन्तु रोटी कैसी चाहिए, किस रूप में चाहिए, और वह कहाँ से आनी चाहिए ? यही प्रश्न महत्त्वपूर्ण

है। रोटी के साथ महारंभ-स्वरूप महा-हिंसा आई है, या सद्गृहस्थ के अनुकूल अल्पारंभ-स्वरूप अल्प-हिंसा आई है? वह मर्यादित सात्विक प्रयत्न से आई है या बहुत बड़े अत्याचार और अन्याय के द्वारा आई है? रोटी तो छीना झपटी, लूटमार और डाका डालकर भी आ सकती है, और बेईमानियाँ करके भी आ सकती है। किन्तु वह रोटी, जिसके पीछे अन्याय और अनीति है—बुराई, छल-कपट, और धोखा है, वह आत्मा की खुराक के साथ कदापि नहीं रह सकती। वह रोटी, जो खून से सनी हुई आ रही है और जिसके चारों ओर रक्त की बूँद पड़ी हैं, उसे एक अहिंसक कभी नहीं खा सकता। वह रोटी, उस खाने वाले व्यक्ति का भी पतन करेगी और जिस परिवार में ऐसी रोटी आती है, उस परिवार का, समाज का और राष्ट्र का भी पतन करेगी। वहाँ न तो साधु का धर्म टिकेगा, और न गृहस्थ का ही धर्म स्थिर रह सकेगा। वहाँ धार्मिक जीवन की कड़ियाँ टूट-टूट कर बिखर जाएँगी।

और जहाँ ये दाग कम से कम होंगे, वहाँ वह रोटी अमृत-भोजन बनेगी, जीवन का रस लेकर आएगी और उससे आत्मा और शरीर—दोनों का सुखद पोषण होगा। न्याय और नीति के साथ, विचार और विवेक के साथ, किन्तु महारंभ के द्वार से नहीं, अपितु अल्पारंभ के द्वार से आने वाली रोटी ही पवित्रता का रूप लेगी और वही अमृत-भोजन की यथार्थता को सिद्ध करेगी। वह अमृत का भोजन मिठाई के रूप में भले ही न मिले, वह चाहे रूखा-सूखा टुकड़ा ही सही, तब भी वह अमृत का भोजन है। क्यों?

इसलिए कि उस रूखी-सूखी रोटी को प्राप्त करने के लिए जो उद्योग किया गया था वह न्याय नीति और सदाचार से पूर्ण था।

चाहे दुनिया भर का सुन्दर भोजन थालियों में सजा है किन्तु यदि विवेक और विचार नहीं है सिर्फ पेट भरने की ही भूमिका है तो वह कितना ही स्वादिष्ट और मधुर क्यों न हो वह अमृत भोजन नहीं है बल्कि विष-भोजन है। भारत की और जैन-संस्कृति की ऐसी ही परम्पराएँ रही है। दूसरे धर्मों को पढ़े तो ज्ञात होगा कि उनकी भी यही परम्परा रही है।

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा अल्पारंभ और महारंभ छोटी हिंसा और बड़ी हिंसा जीवन के चारों ओर फैली हुई है। हमें उसी में से मार्ग तलाश करना है। हमें देखना है कि हम आत्मा और शरीर—दोनों को एक साथ खुराक किस प्रकार पहुँचा सकते है? हमें कौन-सा मार्ग लेना है कि जिससे न तो आत्मा को आघात पहुँचे और न शरीर का ही हनन करना पड़े?

रोटी तक पहुँचने के लिए हमारे सामने दो रास्ते हैं। पहला मार्ग यह है—जहाँ महारंभ के द्वार में से गुजर कर जाना होता है जिससे खुद के भी और दूसरों के भी हाथ खून से सनते जाएँ और रोटी की तलाश में जिधर भी निकले हिंसा का नग्न नृत्य दिखलाई पड़े। दूसरा मार्ग है—गृहस्थ के अनुरूप अहिंसा का जिसके अनुसार अल्प-हिंसा से विवेक और विचार के साथ चलकर जीवन निर्वाह के लिए रोटी

प्राप्त कर ली जाय और अन्याय-अत्याचार न करना पडे, भयानक हत्याकाण्ड भी न करना पडे। ये दोनो मार्ग आपके समक्ष साकार रूप मे उपस्थित है। अब निर्दिष्ट प्रश्न पर विचार करना है कि आपको किस रास्ते पर जाना चाहिए ? कौन-सा मार्ग आर्य-मार्ग है, और कौन-सा अनार्य-मार्ग है ?

उपयोगिता के नाते कान सुनने के लिए है। उनसे गदी गाली भी सुनी जा सकती है, ससार के बुरे सगीत भी सुन सकते हैं, जिनसे मन और मस्तिष्क मे विकार उत्पन्न होते हैं। पारस्परिक निन्दा की असगत बाते भी सुनी जा सकती हैं। और वह आध्यात्मिक सगीत भी सुना जा सकता है, जो विकार वासनाओ मे एक जलती चिनगारी-सी लगा देता है उन्हे भस्म कर देता है। इस स्थिति मे इन्द्रियो के उपयोग के सम्बन्ध मे विवेक के साथ क्या कुछ निर्णय नही करना चाहिए ?

मुँह का उपयोग किया जाता है, एक ओर किसी दीन-दुखिया को ढाढस बधाने के लिए, प्रेम की मधुर वाणी बोलने के लिए, और दूसरी तरफ कठोर गाली देने के लिए और दूसरो का तिरस्कार व निन्दा करने के लिए भी। हाँ, तो मुँह बोलने के लिए मिला है। परन्तु उससे क्या शब्द बोलने चाहिएँ, और किस अवसर पर बोलने चाहिएँ ? यह निर्णय तो करना ही पडेगा।

ससार में रहते हुए कानो से सुना भी जाएगा, मुँह से बोला भी जाएगा, और इसी प्रकार खाया-पिया भी जायगा। परन्तु धर्म-शास्त्र का उपयोग तो केवल इसीलिए है कि उसके सहारे हम यह विवेक प्राप्त करें कि हमें—क्या

सुनना चाहिए, क्या बोलना चाहिए और क्या खाना-पीना चाहिए ?

स्वर्ग में जब कोई जीव देव-रूप में उत्पन्न होता है तो सैकड़ों-हजारों देवी-देवता उसके अभिनन्दन हेतु खड़े हो जाते हैं। वहाँ चारों ओर से एक ही प्रश्न सुनाई पड़ता है और उस प्रश्न का उत्तर उस नए देवता को देना पड़ता है। वह प्रश्न है —

"किं वा दच्चा किं वा भुच्चा ?"

अर्थात्—तुम क्या देकर आए हो और क्या खाकर आए हो ?

स्वर्ग में उत्पन्न होते समय पूरी तरह सांस भी न ले सकोगे और पहली अँगड़ाई लेकर उठते ही तुम से यह प्रश्न पूछा जाएगा कि क्या खाकर आए हो ? तब इस सम्बन्ध में विचार पूर्वक उत्तर देना ही होगा कि मैं न्याय-नीति के अनुसार अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करके आया हूँ। मैंने महा-हिंसा के द्वारा रोटी नहीं पाई है। एक विवेकशील गृहस्थ के रूप में श्रावक के योग्य जो भी खाया और खिलाया है वह महारम्भ के द्वारा नहीं किन्तु अल्पारम्भ के द्वारा खाया और दूसरों को खिलाया है। यही उपयुक्त उत्तर वहाँ देना होगा।

मोक्ष और स्वर्ग की जो चर्चा होती है वास्तव में वह मोक्ष और स्वर्ग की चर्चा नहीं अपितु जीवन-निर्माण की और सुनिश्चित मार्ग को ढूँढने की चर्चा है। वह चर्चा है— जीवन में अमृत का मार्ग खोजने की।

हाँ, तो प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्ध मे भी विवेक की आवश्यकता है। खेती-बाड़ी के रूप मे जो धन्धे हैं, वे किस रूप मे हैं और किस प्रकार के हैं? भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि—"अनार्य मार्ग मे रोटी मत पैदा करो। जहाँ दूसरो का खून वहाया जाता है, विना विवेक-विचार के और महारौद्रभाव मे वहाया जाता है, वे सव अनार्य कर्म हैं। शिकार खेलना, मांस खाना, जुआ खेलना आदि, सव अनार्य कर्म हैं। इन अनार्य कर्मों के द्वारा जो रोटी आती है, वह रोटी नही, अपितु रोटी के रूप में पाप आता है। वह पाप तो जीवन का पतन ही करेगा।

" हमारे यहाँ 'प्रासुक' कामो की वडी चर्चा चला करती है। 'प्रासुक' वे काम कहलाते हैं, जिनमे हिंसा न हो, या अत्यल्प हो। दो जुएवाज आमने-सामने वैठे है। ताश का पत्ता उठाकर फेंका कि वस हार-जीत हुई और हजारो इधर से उधर हो गए। ऊपर-ऊपर से तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें कोई हिंसा नही हुई। यदि दुकान करते हैं तो हिंसा होती है, दफ्तर जाते हैं तो हिंसा होती है। जीविका के लिए जो कुछ भी कार्य करते हैं, तो भी हिंसा हुए बिना नही रहती। किन्तु जुआ खेलना ऐसा 'प्रासुक' काम है कि उसमे हिंसा नही है। वहुतो की ऐसी धारणा है, परन्तु विचार करना चाहिए कि यह महारंभ है या अल्पारंभ? नीति है या अनीति है? आप विचार करें या न करे, इस सम्वन्ध मे शास्त्रो ने तो निर्णय किया है और स्पष्ट बताया है कि—सात दुर्व्यसनो मे जुआ खेलना पहला दुर्व्यसन

है। मांस खाने और मद्य पीने की गणना बाद में की गई है सबसे पहले जुए की ही गर्दन पकड़ी गई है। यद्यपि जुआ खेलने में बाहर से कोई हिंसा दिखाई नहीं देती परन्तु अन्दर में हिंसा का कितना गहरा दूषण है जो दूर-दूर तक न जाने कितने परिवारों को उजाड़ देता है सिर्फ एक पत्ते के रूप में। जुआरी का अन्तःकरण कितना सक्लेशमय रहता है कितना व्याकुल रहता है और जुए की बदौलत कितनी अनीति और कितनी बरबादी जीवन में प्रवेश करती है इन समस्त दूषण पक्षों को आप चाहे न देख सकते हों परन्तु शास्त्रकार की दूरदर्शी सूक्ष्म दृष्टि से यह सब कुछ छिपा नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के सोचने का ढंग कुछ और होता है और शास्त्रकारों का दृष्टिकोण कुछ और ही ढंग का होता है।

हाँ तो कथन का आशय यही है कि अन्न अपने आप में जीवन की बहुत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। कपड़े की भी आवश्यकता है और दूसरी चीजों की भी आवश्यकता है परन्तु पेट भरने की आवश्यकता सबसे पहली है। अन्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि संसार भर का धन एक तरफ पड़ा है और अन्न एक तरफ पड़ा है तो तराजू में अन्न का पलड़ा भारी रहेगा और दूसरी चीजों का हल्का।

जैनाचार्यों ने सम्राट् विक्रमादित्य का जीवन चरित्र लिखा है। एक बार सम्राट् हाथी पर सवार होकर निकल रहे थे। मंत्री और सेनापति पास में बैठे थे। जब प्रजाजन

की मंडी में से सवारी निकली तो सम्राट् ने अपने मंत्री से कहा—'कितने हीरे बिखरे पड़े हैं!'

मंत्री ने इधर-उधर आँख घुमाकर अत्यन्त सावधानी के साथ देखा, किन्तु उसे कहीं हीरे नजर नहीं आए। तब वे बोले—अन्नदाता, हीरे कहाँ हैं?

सम्राट् ने कहा—तुम्हें मालूम ही नहीं कि हीरे कहाँ पड़े हैं? इतना कहकर सम्राट् उछल कर हाथी से नीचे उतरे और धूल में से अन्न के उन बिखरे कणों को उठाकर बड़े प्रेम से खा गए।* फिर सम्राट् ने कहा—अन्न के ये दाने पैरों के नीचे कुचलने के लिए नहीं हैं। इन हीरों का महत्त्व-पूर्ण स्थान मुँह के सिवाय और कहाँ है? यही इनके लिए तिजोरी है और सुरक्षित स्थान है।

सम्राट् ने फिर कहा—"जो देश अन्न का अपमान करता है उसके विषय में जितनी लापरवाही करता है, वह उतनी ही हिंसा करता है उतनी ही दूसरों की रोटियाँ छीनता है, और दूसरों का गला घोटता है।" और कहते हैं—वह अन्न-पूर्णा देवी साक्षात् रूप में प्रकट हुई और बोली—"राजन्, तुमने मेरा इतना आदर किया है अतः तुम अपने जीवन में कभी अन्न की तंगी महसूस नहीं करोगे। तुम्हारे देश में अन्न का भण्डार अक्षय रहेगा।'

उपनिषद् में कहा भी गया है —

'अन्नं न निन्द्यात्।'

अर्थात्—अन्न की निन्दा मत करो, अवहेलना और

० इतिहास उदयपुर-[illegible]।

तिरस्कार न करो। यही कारण है कि भारत की संस्कृति मे जूठन छोडना पाप समझा जाता है। यानी जितना भोजन आवश्यक हो उतना ही लिया जाए और जूठन छोडकर मोरियो मे व्यर्थ न बहाया जाए। जो जूठन छोडते हैं वे अन्न देवता का जान-बूझकर अपमान करते हैं।

इस तरह अन्न का एक-एक दाना सोने के दाने से भी महँगा है। सोने के दानो के अभाव मे कोई मर नही सकता परन्तु अन्न के दानो के बिना हजारो नही लाखो ने छटपटा कर प्राण दे दिये है। परिस्थितियाँ आने पर ही अन्न का वास्तविक महत्त्व मालूम होता है। जिनके यहाँ अन्न का भण्डार भरा है वे भले ही अन्न की कद्र न करे। परन्तु एक दिन ऐसा भी आता है जब कि भडार खाली होते हैं और अन्न अपनी कद्र करा लेता है।

यदि अन्न रहेगा—तो धर्म ज्ञान विज्ञान सभी जीवित रहेंगे और यदि अन्न न रहा—तो वे सब भी काफूर हुए बिना न रहेंगे। आप भली भाँति जानते हैं कि जैन-साहित्य (मूल आगम-साहित्य) का बहुत-सा भाग विच्छिन्न हो गया है। वह कहाँ चला गया और कैसे चला गया ? इस सम्बन्ध मे आपने सुना होगा कि सुदूर अतीत मे बारह वर्ष का घोर अकाल पडा था। उस समय अन्न के एक-एक दाने के लिए मनुष्य मरने लगे थे। उस समय पेट का प्रश्न ही सब से बड़ा और महत्त्वपूर्ण बन गया था और उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष तक के प्रश्न गौण हो गए थे। जैन इतिहास कहता है कि वह विशाल आगम-साहित्य अन्न के अभाव मे तत्का

लोन भूख की भयानक ज्वालाओ मे भस्म हो गया।

उस दुर्भिक्ष के सम्बन्ध मे यहाँ तक सुना गया है कि—लोग हीरे और मोतियो के कटोरे भर कर लाते थे। वह कटोरा अन्न के व्यापारी को अर्पण करते और हजारो मिन्नतें करते थे, और साथ ही आँसुओ के मोती भी अर्पण कर देते थे। तब कही मोतियो के बराबर ज्वार के दाने मिलते थे। उन्ही दानो पर किसी तरह गुजारा किया जाता था। जब ऐसी भयानक स्थिति थी तो वह ज्ञान, विज्ञान, विचार और विवेक कहाँ ठहरता? बडे-बडे सन्त, त्यागी और वैरागी, जिनको जाना था, वे तो सथारा करके आगे की दुनिया मे चले गए। परन्तु जो नही जा सके, वे लोग भूख के मारे घबरा गए। तनिक उस समय की परिस्थिति पर विचार तो कीजिए। जो साधक एक दिन बडी शान से साम्राज्य को भी ठुकरा कर आए थे, आज वे ही अन्न के थोडे-से दानो के अभाव मे—रोटी न मिलने पर—डगमगाते दिखाई देते हैं।

वास्तव मे यह जीवन का जटिल प्रश्न है। जब इसका ठीक तरह से अध्ययन करेंगे, तभी तो हमे सही राह मिलेगी। अन्यथा चिन्तन के अभाव मे सही दिशा नही मिल सकती। सही चिन्तन करने पर आपको स्पष्टतया मालूम हो जाएगा कि वास्तव मे भाग्यशाली वही है, जिसकी अन्न-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, और जिसकी यह आवश्यकता पूर्ण नही होती, उसके भाग्य का कोई अर्थ नही रहता।

परन्तु आजकल लोगो ने पुण्य की कसौटी दूसरी ही बना रखी है। वे जीवन के पुण्य को हीरे, जवाहरात, सोने

और चाँदी से तोलते हैं। जहाँ हीरों का ज्यादा ढेर लगा हो वहाँ ज्यादा पुण्य समझा जाता है। परन्तु जब पुण्य का इस अर्थवाद की तराजू पर तोलना शुरू किया तभी जीवन में सबसे पहले गड़बड़ शुरू हुई। अस्तु, आपको विचारना है कि इस सम्बन्ध में शास्त्रकार क्या कहते हैं आप क्या कहते हैं और हमारे दूसरे साथी क्या कहते हैं ?

थोड़ा-सा विचार कीजिए और गम्भीर होकर सोचिए। एक गृहस्थ है उसके यहाँ खेती-बाड़ी का धन्धा होता है। वह कठोर परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है और गरीब होते हुए भी न्याय-नीति की मर्यादा में रहता है। दूसरा परिवार एक कसाई का है। उसके यहाँ प्रतिदिन हजारों पशु काटे जाते हैं और इस धन्धे के कारण उसके यहाँ हीरे और जवाहरात के ढेर लगे हैं। अब यदि किसी को जन्म लेना है तो इन दो परिवारों में से किस परिवार में जन्म लेना पुण्य है ? उसका धर्म उसे किधर ले जाएगा ? अगला जन्म वह किसान के यहाँ लेगा या कसाई के यहाँ ? धर्मनिष्ठ किसान गरीब तो है परन्तु शास्त्रकार की तत्त्वदर्शी दृष्टि में असली पुण्य उसी दरिद्रनारायण की झोंपड़ी में है और वही पुण्यानुबन्धी सच्चा पुण्य है—जो यहाँ भी प्रकाश देता है आगे भी प्रकाश देता है और उसी प्रकाश से सारी वसुधा प्रकाशमान होती है।* मारवाड़ी भाषा में कहते हैं—'उससे सुखे सुखे मोक्ष प्राप्त होता है।

*देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र ३, १०

लीन भूख की भयानक ज्वालाओ मे भस्म हो गया ।

उस दुर्भिक्ष के सम्बन्ध मे यहाँ तक सुना गया है कि—लोग हीरे और मोतियो के कटोरे भर कर लाते थे । वह कटोरा अन्न के व्यापारी को अर्पण करते और हजारो मिन्नते करते थे, और साथ हो आँसुओ के मोती भी अर्पण कर देते थे। तब कही मोतियो के बराबर ज्वार के दाने मिलते थे । उन्ही दानों पर किसी तरह गुजारा किया जाता था । जब ऐसी भयानक स्थिति थी तो वह ज्ञान, विज्ञान, विचार और विवेक कहाँ ठहरता ? बडे-बडे सन्त, त्यागी और वैरागी, जिनको जाना था, वे तो सथारा करके आगे की दुनिया मे चले गए । परन्तु जो नही जा सके, वे लोग भूख के मारे घबरा गए । तनिक उस समय की परिस्थिति पर विचार तो कीजिए । जो साधक एक दिन बडी शान से साम्राज्य को भी ठुकरा कर आए थे, आज वे ही अन्न के थोडे-से दानो के अभाव में—रोटी न मिलने पर—डगमगाते दिखाई देते हैं ।

वास्तव मे यह जीवन का जटिल प्रश्न है । जब इसका ठीक तरह से अध्ययन करेंगे, तभी तो हमें सही राह मिलेगी । अन्यथा चिन्तन के अभाव मे सही दिशा नही मिल सकती । सही चिन्तन करने पर आपको स्पष्टतया मालूम हो जाएगा कि वास्तव मे भाग्यशाली वही है, जिसकी अन्न-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, और जिसकी यह आवश्यकता पूर्ण नही होती, उसके भाग्य का कोई अर्थ नही रहता ।

परन्तु आजकल लोगो ने पुण्य की कसौटी दूसरी ही बना रखी है । वे जीवन के पुण्य को हीरे, जवाहरात, सोने

और चाँदी से तोलते हैं। जहाँ हीरों का ज्यादा ढेर लगा हो वहाँ ज्यादा पुण्य समझा जाता है। परन्तु जब पुण्य का इस अर्थवाद की तराजू पर तोलना शुरू किया तभी जीवन में सबसे पहले गड़बड़ शुरू हुई। अस्तु, आपको विचारना है कि इस सम्बन्ध में शास्त्रकार क्या कहते हैं, आप क्या कहते हैं और हमारे दूसरे साथी क्या कहते हैं ?

थोड़ा-सा विचार कीजिए और गम्भीर होकर सोचिए। एक गृहस्थ है, उसके यहाँ खेती-बाड़ी का धन्धा होता है। वह कठोर परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है और गरीब होते हुए भी न्याय-नीति की मर्यादा में रहता है। दूसरा परिवार एक कसाई का है। उसके यहाँ प्रतिदिन हजारों पशु काटे जाते हैं और इस धन्धे के कारण उसके यहाँ हीरे और जवाहरात के ढेर लगे हैं। अब यदि किसी को जन्म लेना है तो इन दो परिवारों में से किस परिवार में जन्म लेना पुण्य है ? उसका धर्म उसे किधर ले जाएगा ? अगला जन्म वह किसान के यहाँ लेगा या कसाई के यहाँ ? धर्मनिष्ठ किसान गरीब तो है परन्तु शास्त्रकार की तत्त्वदर्शी दृष्टि में असली पुण्य उसी दरिद्रनारायण की झोंपड़ी में है और वही पुण्यानुबन्धी सच्चा पुण्य है—जो यहाँ भी प्रकाश देता है आगे भी प्रकाश देता है और उसी प्रकाश से सारी वसुधा प्रकाशमान होती है।* मारवाड़ी भाषा में कहते हैं—'उससे सुखे सुखे मोक्ष प्राप्त होता है।

---

*देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र ३, १७

पापाचार के द्वारा रुपए, पैसे, अठन्नियाँ और चवन्नियाँ ज्यादा मिल गई तो किस काम की ? यदि रूखी-सूखी रोटी विवेक, विचार और नीति के साथ मिल जाती है, तो वही पुण्य का सीधा मार्ग है। दुनिया भर के अत्याचारो के वाद और निरीह प्राणियो का खून वहाकर अगर हीरे और मोती मिल भी जाएँ तो हमारे यहाँ वह पुण्य का मार्ग नही माना जाता है।

अब आप क्या निर्णय करते हैं ? किस परिवार में जन्म लेना पसन्द करते हैं ? हमारे यहाँ एक श्रावक ने, जोकि एक बडे विचारशील हो चुके हैं, यह कहा है कि मुझे अन्याय और अत्याचार के सिंहासन पर यदि चक्रवर्त्ती का साम्राज्य भी मिले तो उसे ठुकरा दूंगा और अनन्त-अनन्त काल तक उसकी कल्पना भी नही करूंगा। मेरे सत्कर्मो के फलस्वरूप, मेरी तो यही भावना है कि मुझे अगला जन्म लेना ही न पडे। यदि जन्म लेना ही पडे तो मैं किसी ऐसे परिवार मे ही जन्म लूँ, जहाँ विवेक हो, विचार हो, न्याय और नीति हो, फिर चाहे उस परिवार मे जूठन उठाने का ही काम मुझे क्यो न करना पडे !

वस्तुत यही निर्णय ठीक है और आदर्श-जीवन का प्रतीक है। आपके पूर्वजो का यह आदर्शपूर्ण निर्णय, भारत की मूल सस्कृति का द्योतक है और यह वह प्रतीक है जिसे जैन-धम ने अपना गौरव माना है। इसमें जो उमग, उत्साह और आनन्द है, वह अन्यत्र कहाँ ?

मै आप से पूछता हूँ—दो यात्री चले जा रहे हैं। बहुत बडा मैदान है, सैकडो कोसो तक गाँव क[illegible] नही है।

दोनो यात्री भमकूर रास्ते से गुजर रहे है। उन दोनो को भूख लग आई। भूख के मारे छटपटाते हुए, व्याकुल होते हुए चले जा रहे है। अकस्मात् उस समय वे एक तरफ दो थैले पडे हुए देखते है। उन्हे देखकर वे अपने को भाग्यशाली समझते है और आपस मे फैसला करते है कि यह थैला तेरा और वह मेरा। अर्थात्—वे दोनो उन थैलो का बँटवारा कर लेते हैं। वे दोनो थैलो के पास पहुँचते हैं और अपने अपने थैल को खोलते है। एक मे भुने चने निकलते है और दूसरे मे हीरे और मोती। अब आप ही निर्णय दीजिए कि वास्तव मे भाग्यशाली कौन है ? यहाँ किसके पुण्य का उदय हुआ है ? जिसे जवाहरात का थैला मिला है वह उन्हे लेकर अपने सिर से मार लेता है और कहता है कि इनकी अपेक्षा यदि दो मुट्ठी चने मिल जाते तो ही अच्छा था ! उनसे प्राण तो बच जाते ! ऐसी स्थिति मे जीवन रक्षा की दृष्टि से उन हीरो और मोतियो का क्या मूल्य है ?

जिसे अन्न का थैला मिला वह बाग-बाग हो जाता है कि न जाने किस जन्म का पुण्य आज काम दे गया है।

इसके लिए मै तो यही कहूँगा कि शास्त्रो को भी टटोलने की जरूरत नही है सिर्फ जीवन को ही टटोलने की जरूरत है और जीवन-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति के एक आचार्य ने कहा है कि—अन्न की निन्दा करना पाप है।" जूठन छोड़ना हमारे यहाँ हिंसा है क्योकि वह अन्न का अपमान है और अन्न

खाना पुण्य है। कम खाना पुण्य तो अवश्य है, परन्तु खाने को कम मिलना क्या है ? आपके सामने तीन चीजें हैं—ज्यादा खाना, कम खाना और कम खाने को मिलना। ज्यादा खाने के विषय में तो आपने कह दिया कि ग्रन्थकारो के कथनानुसार ज्यादा खाने वाला अगले जन्म में अजगर बनता है। और कम खाना धर्म माना जाता है। अपने यहाँ ऊनोदर तप माना गया है जो कि अनशन के बाद आता है, वह बडा उत्कृष्ट तप है। तपो मे एक के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा सूक्ष्म होता जाता है, अर्थात्—उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होता जाता है। एक आचार्य ने कहा है कि अनशन की तुलना में ऊनोदर तप विशेष महत्त्व रखता है। इसका क्या कारण है ? अनशन तप के समय बिल्कुल ही नही खाया जाता, खाने की तरफ ध्यान ही नही दिया जाता, परन्तु ऊनोदर में कम खाया जाता है। खाने के लिए बैठना और जब स्वादिष्ट मिष्टान्नो के खाने का आनन्द अनुभव हो तो भी अधूरा खाना मुश्किल होता है। भोजन करते समय भोजन के रस को बीच में ही छोड देना, भोजन बिल्कुल ही न करने की अपेक्षा अधिक त्यागवृत्ति माँगता है। यह एक बडा एव पवित्र परिवर्तन है, आध्यात्मिक क्रान्ति है। इस प्रकार का कम खाना हमारे यहाँ धर्म माना गया है।

---

*जैन-धर्म में अनशन आदि बारह तप माने गए हैं, उनमें ऊनोदर दूसरे नम्बर पर है। ऊनोदर का अर्थ है—जितनी भूख हो, उससे भी कुछ कम खाना। अर्थात्—पेट को थोडा खाली रखना।

परन्तु खाने को कम मिलना क्या है ? इसे पाप माना गया है। भारतीय संस्कृति कहती है कि कम खाना तो धर्म है किन्तु खाने की मात्रा कम मिलना पाप है। जिस देश के बच्चो बूढ़ो महिलाओ और नौजवानो को खाना नही मिलता है उस देश की व्यवस्था करने वालो के लिये यह एक बड़ा गुनाह है। कम खाने की शिक्षा अवश्य दी गई है, पर खाना कम क्यों मिलना चाहिए ? खाने की मात्रा कम मिलना अपनी व्यवस्था को दोषपूर्ण सिद्ध करना है और अपने में एक पाप को प्रकट करना है। और यह पाप ऐसी बुराई है जो हजारो दूसरी बुराइयो को पैदा करती है,।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म को पुण्य को या सत्कर्म को हीरो और मोतियो से तोलना गलत बात है। पर दु ख तो इस बात का है कि गलत राह को सही मान लिया गया है। पुण्य और पाप को जीवन की उपयोगिता से और उपयोगिताओ की पूरक आवश्यकताओ से तोलना चाहिए। जीवन की किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की परिपूर्ति हीरों-जवाहरात की विद्यमानता से नही हो सकती। चाँदी सोने की 'रोटियाँ' खाकर, मोतियो का 'शाक' बनाकर और हीरे का 'पानी' पीकर कोई अपने प्राणो की रक्षा नही कर सकता। प्राणो की रक्षा तो केवल अन्न ही कर सकता है। अमीर हो या गरीब दोनो को ही अन्न की सीधी-सच्ची राह पर चलना होगा। आखिर, जीवन तो जीवन की ही राह पर चलेगा। इस सम्बन्ध मे एक आचार्य ने कहा है —

'पृथिव्या त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढै: पाषाण-खण्डेषु, रत्न-संज्ञा विधीयते ॥'

सहित अयोध्या वापिस आए तो परिवार के लोग तथा राज्य के बड़े-बड़े सेठ साहूकार उनके स्वागत के लिए दौड़ पड़े। हजारों की संख्या में जनता अभिनन्दन के लिए वहाँ आ पहुँची। रामचन्द्रजी ने सबसे कुशल पूछते समय एक ही प्रश्न किया—घर में सब ठीक है धान्य की कमी तो नहीं है?

कुछ लोग रामचन्द्रजी के प्रश्न का मर्म नहीं समझ सके। उन्होंने सोचा—'मालूम होता है महाराज भूखे आए हैं। तभी तो यह नहीं पूछा कि रत्न भंडार तो भरे हैं? और यह भी नहीं पूछा कि घर में कितना धन है? वरन् यह पूछा कि घर में धान्य की कमी तो नहीं है। महाराज के मस्तक में आजकल रोटी ही समाई हुई है।

अस्तु, उपस्थित लोगों ने हँसते हुए कहा—'महाराज आपकी कृपा है। अन्न की कमी नहीं है। अन्न के भंडार इतनी विशाल मात्रा में भरे पड़े हैं कि बरसों खाएँ तब भी खाली नहीं हों। उक्त कथन में स्पष्ट ही परिहास की ध्वनि सुनाई दे रही थी।

लोगों की इस भ्रान्त धारणा को समझने में रामचन्द्र जी को देर नहीं लगी। उन्होंने सोचा—जिनके पेट भरे हुए हैं उनकी निगाह अन्न से हटकर अन्यत्र भटक गई है। इसीलिए ये सब लोग मेरे प्रश्न के महत्व को नहीं समझ सके और मुस्कराने लगे हैं।

स्वागत अभिनन्दन के बाद रामचन्द्रजी अयोध्या में आ गए। एक दिन राज्य भर में यह सन्देश प्रसारित किया

यह संस्कृत पद्य है, मैंने हिन्दी में उसका अनुवाद इस प्रकार किया है —

'भूमण्डल में तीन रत्न हैं, पानी अन्न-सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकड़ों में करते, रत्न-कल्पना पामर प्राणी॥"

वास्तव में इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न चमक रहे हैं—जल, अन्न और सुभाषित वाणी। नदी, तालाब या नहर में जो जल बह रहा है, उसकी एक-एक बूंद की तुलना मोतियों और हीरों से भी नहीं की जा सकती। यदि कोई तोलता है तो वह गलती करता है। अन्न का एक-एक दाना चमकता हुआ रत्न है, जिसकी रोशनी हीरों की चमक को भी मात करती है। तीसरा रत्न है—सुभाषित वाणी, अर्थात्—मीठा बोल। ऐसा बोल, जो लगे हुए घाव पर मरहम का काम करे, प्रेम का उपहार अर्पण कर दे। बेगानों को अपना बना दे और जब मुँह से निकले तो ऐसा लगे कि मानो फूल झर रहे हैं, ऐसा सुभाषित भी एक रत्न है।

जो मूढ़ है—यहाँ आचार्य 'मूढ' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं तो मुझे भी करना पड़ रहा है, अर्थात्—अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टुकड़ों में रत्नों की कल्पना करते हैं। किन्तु पूर्वोक्त तीन रत्न ही वास्तविक रत्न हैं, और ये चमकते हुए पत्थर के टुकड़े उनके समकक्ष कहाँ?

रामायण काल की एक घटना है, जिसमें बहुत ही सुन्दर तथ्य का वर्णन है।* जब रामचन्द्रजी चौदह वर्ष का वनवास समाप्त कर रावण-वध के बाद सीता तथा वानरों

*देखिए, उपदेश—तरंगिणी।

सहित अयोध्या वापिस आए तो परिवार के साथ तथा राज्य के छोटे-बड़े सेठ साहूकार उनके स्वागत के लिए दौड़ पड़े। हजारों की संख्या में जनता अभिनन्दन के लिए वहाँ आ पहुँची। रामचन्द्रजी ने सबसे क्षेम कुशल पूछते समय एक ही प्रश्न किया—घर में सब ठीक है? अन्न की कमी तो नहीं है?

कुछ लोग रामचन्द्रजी के प्रश्न का मर्म नहीं समझ सके। उन्होंने सोचा—"मालूम होता है महाराज भूखे आए हैं। तभी तो यह नहीं पूछा कि रत्न भंडार तो भरे हैं? और यह भी नहीं पूछा कि घर में कितना धन है? वरन् यह पूछा कि घर में अन्न की कमी तो नहीं है। महाराज के अन्तर में आजकल रोटी ही समाई हुई है।

अस्तु, उपस्थित लोगों ने हँसते हुए कहा—'महाराज आपकी कृपा है। अन्न की तो कहीं कमी नहीं है। अन्न के भंडार इतनी विशाल मात्रा में भरे पड़े हैं कि कभी खाएँ, तब भी खाली नहीं हो। उक्त कथन में स्पष्ट ही परिहास की ध्वनि समाई हुई थी।

लोगों की इस भ्रान्त धारणा को समझने में रामचन्द्र जी को देर नहीं लगी। उन्होंने सोचा—जिनके पेट भरे हुए हैं उनकी निगाह अन्न से हटकर अन्यत्र भटक गई है। इसीलिए ये सब लोग मेरे प्रश्न के महत्त्व को नहीं समझ सके और मुस्कराने लगे हैं।

स्वागत अभिनन्दन के बाद रामचन्द्रजी अयोध्या में आ गए। एक दिन राज्य-भर में यह सन्देश प्रसारित किया

यह संस्कृत पद्य है, मैंने हिन्दी में इसका अनुवाद इस प्रकार किया है —

'भूतल में तीन रत्न हैं, पानी अन्न-सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकड़ों में करते, रत्न-कल्पना पामर प्राणी ॥"

वास्तव में इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न चमक रहे है—जल, अन्न और सुभाषित वाणी। नदी, तालाब या नहर में जो जल बह रहा है, उसकी एक-एक बूँद की तुलना मोतियों और हीरों से भी नहीं की जा सकती। यदि कोई तोलता है तो वह गलती करता है। अन्न का एक-एक दाना चमकता हुआ रत्न है, जिसकी रोशनी हीरों की चमक को भी मात करती है। तीसरा रत्न है—सुभाषित वाणी, अर्थात्—मीठा बोल। ऐसा बोल, जो लगे हुए घाव पर मरहम का काम करे, प्रेम का उपहार अर्पण कर दे। बेगानों को अपना बना दे और जब मुँह से निकले तो ऐसा लगे कि मानो फूल झर रहे है ऐसा सुभाषित भी एक रत्न है।

जो मूढ हैं—यहाँ आचार्य 'मूढ' शब्द का प्रयोग कर रहे है तो मुझे भी करना पड रहा है, अर्थात्—अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टुकडो मे रत्नो की कल्पना करते हैं। किन्तु पूर्वोक्त तीन रत्न ही वास्तविक रत्न है, और ये चमकते हुए पत्थर के टुकडे उनके समकक्ष कहाँ ?

रामायण काल की एक घटना है, जिसमे बहुत ही सुन्दर तथ्य का वर्णन है।* जब रामचन्द्रजी चौदह वर्ष का वनवास समाप्त कर रावण-वध के बाद सीता तथा वानरो

---

*देखिए, उपदेश—तरंगिणी।

रामचन्द्र जी बोले—क्या हुआ ? एक-एक हीरा लाखों का मूल्य का है और कुछ रत्न तो सर्वथा अनमोल हैं। आप सोच-विचार मे क्या पड़े है ? भोजन कीजिए न ?

प्रजाजन बोले—महाराज अनमोल तो अवश्य हैं। इनसे जैब ही भरी जा सकती है परन्तु पेट नही भरा जा सकता। पेट तो पट के तरीके से ही भरेगा।

राम ने फिर कहा—बड़ी सुन्दर चीजें हैं! ऐसी चीजें देखने मे भी कम आती हैं। ये तो पट के लिए ही हैं।

प्रजाजन कहने लगे—महाराज इन्हें पट में डालें भी कैसे ? यह पेट की नही जेब की खुराक है।

अब रामचन्द्रजी ने असली मर्म खोला। बोले—उस दिन जब मैंने प्रश्न किया था कि—घर मे धान्य की कमी तो नही है ? तब आप लोग धन के प्रमोद मे हँसने लगे थे। आपकी आँखों मे तो धन का ही महत्त्व है ! आपको तो हीरे और मोती ही चाहिएँ ! धान्य की जरूरत ही क्या है ? बस धन मिल गया तो ठीक है उसी से जीवन पार हो जाएगा।

इसके बाद रामचन्द्रजी ने फिर कहा—अब आप भली भाँति समझ गए होंगे ! धन से पहला नम्बर धान्य का है। धान्य मिलेगा तो धन कमाने के लिए हाथ उठेगा और धान्य नही मिला तो एक कौड़ी कमाने के लिए भी हाथ नही उठ सकता। आपके सकल्प गलत रास्ते पर चले गए है अतः सही स्थिति को आप नही समझ सके हैं। अन्न की उपेक्षा जीवन की उपेक्षा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र भी अपमानित हुए बिना नही रह सकता। जिस देश के लोग

गया कि महाराज रामचन्द्रजी वनवास की अवधि पूरी करके सकुशल लौट आए हैं, अत नगर-निवासियो को प्रीतिभोज देना चाहते है। सारी प्रजा को निमंत्रण दे दिया गया। अमुक समय निश्चित कर दिया गया और तदनुसार सब प्रजाजन आ पहुँचे।

निमंत्रण सभी को प्रिय होता है। साधारण घर का मिले तो भी लोगो को वह बडी चीज मालूम होती है फिर कही सम्राट् के घर का मिल जाए, तब तो कहना ही क्या है ? आज जवाहरलाल नेहरू के यहाँ यदि किसी को एक गिलास सादा पानी ही क्यो न मिल जाए, फिर देखिए, वह अभिमान की तीरकमान से कैसी तीरदाजी दिखाता है।

हाँ, तो नियत समय पर सब लोग भोजन के लिए आ गए और पगत बैठ गई। रामचन्द्रजी ने कहा—"भैया, हम अपने हाथो से परोसेगे।" हीरे और मोतियो की भरी हुई डलियाँ आई। राम ने एक-एक मुट्ठी सब की थाली मे परोस दिए।

हमारी भारतीय परम्परा यह है कि भोजन कराने वाले की आज्ञा मिलने पर ही भोजन आरम्भ किया जाता है। लोगो ने सोचा कि हीरे आदि तो पहले-पहल भेट-स्वरूप परोसे गए हैं, भोजन तो अब आएगा। परन्तु रामचन्द्रजी ने हाथ जोडकर विनम्र निवेदन किया—"भोजन आरम्भ कीजिए।"

लोग पशोपेश मे पड गए कि खाएँ क्या ? खाने की तो कोई चीज परोसी ही नही गई !

रामचन्द्र जी बोले—क्या हुआ? एक-एक हीरा लाखों के मूल्य का है और कुछ रत्न तो सर्वथा अनमोल हैं। आप सोच-विचार में क्या पड़े हैं? भोजन कीजिए न?

प्रजाजन बोले—महाराज अनमोल तो अवश्य हैं। इनसे जेब ही भरी जा सकती है परन्तु पेट नहीं भरा जा सकता। पेट तो पेट के तरीके से ही भरेगा।

राम ने फिर कहा—बड़ी सुन्दर चीज हैं! ऐसी चीज देखने में भी कम आती हैं। ये तो पेट के लिए ही हैं।

प्रजाजन कहने लगे—महाराज इन्हें पेट में डालें भी कैसे? यह पेट की नहीं जेब की खुराक है।

अब रामचन्द्रजी ने असली मर्म खोला। बोले—उस दिन जब मैंने प्रश्न किया था कि—घर में धान्य की कमी तो नहीं है? तब आप लोग धन के उन्माद में हँसने लगे थे। आपकी दृष्टि में तो धन का ही महत्त्व है! आपको तो हीरे और मोती ही चाहिए! धान्य की जरूरत ही क्या है? बस धन मिल गया तो ठीक है उसी से जीवन पार हो जाएगा।

इसके बाद रामचन्द्रजी ने फिर कहा—अब आप भली भाँति समझ गए होंगे! धन में पहला नम्बर धान्य का है। धान्य मिलेगा तो धन कमाने के लिए हाथ उठेगा और धान्य नहीं मिला तो एक कौड़ी कमाने के लिए भी हाथ नहीं उठ सकता। आप एकदम गलत रास्ते पर चले गए हैं। आप सही स्थिति का पार नहीं समझ सके हैं। धान्य की उपेक्षा जीवन की उपेक्षा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र भी अपमानित हुए बिना नहीं रह सकता। जिस देश के लोग

अन्न को हीन दृष्टि से देखने लगे, फिर वह देश दुनिया के द्वारा हीन दृष्टि से क्यो न देखा जाए ?

अन्न की समस्या जीवन की प्रमुख समस्या है। इसीलिये भगवान् ऋषभदेव जब इस ससार मे अवतीर्ण हुए और उन्हे भूखी जनता मिली तो धर्म का उपदेश देने से पहले उन्होने आजीविका का ही प्राथमिक उपदेश दिया और उसमे कृषि ही एकमात्र ऐसी आजीविका थी, जिसका साक्षात् सम्बन्ध उदर पूर्ति मे था। हजारो आचार्यो ने उनके उपदेश का ऊँचा उठा लिया और कहा कि उन्होने इतना पुण्य प्राप्त किया कि हम उसकी कोई सीमा बांधने मे असमर्थ है। भगवान् ने जो आय-वृत्ति सिखलाई, उसका वर्णन आचार्यो ने भी किया है और मूल-सूत्रकारो ने भी किया है।

इस सम्बन्ध मे लोग शायद यह कह सकते है कि उस समय भगवान् गृहस्थ थे, इसीलिये उन्होने गृहस्थ का मार्ग सिखा दिया। बात तो ठीक ही है, सभी विचारक कृषि को गृहस्थ का और ससार का मार्ग कहते है। कौन कहता है कि वह मोक्ष का मार्ग है ? परन्तु प्रश्न तो नीति और अनीति का है। गृहस्थ की आजीविका दोनो तरह से चलती है। कोई गृहस्थ न्याय-नीति से अपना जीवन-निर्वाह करता है, और कोई अनीति से—जुआ खेलकर, कमाई खाना खोलकर, शिकार करके, चोरी करके, या ऐसा ही कोई दूसरा अनैतिक धन्धा करके निर्वाह करता है। आप इनमे से किसे अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं ?

जहाँ न्याय और नीति है, वहाँ पुण्य है। भगवान् ने तो

संसार को नीति ही सिखाई, अनीति नहीं। यदि शिकार खेलना सिखा देते तो वह भी एक आजीविका का मार्ग था परन्तु वह अनीति का मार्ग है। अतएव भगवान् ने जनता को अन्याय का मार्ग जान-बूझकर नहीं सिखाया।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र में जहाँ युगलियों की जीवन-लीला का वर्णन है और उसी में यह उल्लेख भी है कि—भगवान् ने उन्हें तीन कर्म सिखलाए साथ में यह भी कहा है—

"पयाहियाए उवदिसइ।

अर्थात्—प्रजा के हित के लिए, उनके कल्याण के लिए ये सब कलाएँ सिखलाईं।

भगवान् के द्वारा उन कलाओं का सिखाया जाना रिपट पड़े की हरगङ्गा' नहीं था। एक बूढ़ा सर्दी के मौसम में गङ्गा के किनारे किनारे जा रहा था। उसका पैर फिसल गया और वह गङ्गा में गिर पड़ा। जब गिर पड़ा तो कहने लगा—हर गंगा हर गंगा। इसी को 'रिपट पड़े की हर गंगा' कहते हैं। सर्दी के कारण गंगा-स्नान करने की इच्छा नहीं थी किन्तु जब गंगा में गिर ही पड़े तो गंगा-स्नान का नाटक खेलने लगे।

हाँ तो भगवान् के द्वारा इस तरह बिना समझे-बूझे कलाएं नहीं सिखाई गई। उन्होंने विवेक को साथ में लेकर और विचार के मापक से नीति को सही दृष्टिकोण से नापकर प्रजा के कल्याण की कल्पना की थी। लोगों को नरक के द्वार पर पहुँचाने के लिए नहीं वरन् कल्याण के मार्ग पर

अन्न को हीन दृष्टि से देखने लगे, फिर वह देश दुनिया के द्वारा हीन दृष्टि से क्यों न देखा जाए ?

अन्न की समस्या जीवन की प्रमुख समस्या है। इसीलिये भगवान् ऋषभदेव जब इस संसार में अवतीर्ण हुए और उन्हें भूखी जनता मिली तो धर्म का उपदेश देने से पहले उन्होंने आजीविका का ही प्राथमिक उपदेश दिया और उसमें कृषि ही एकमात्र ऐसी आजीविका थी, जिसका साक्षात् सम्बन्ध उदर पूर्ति से था। हजारों आचार्यों ने उनके उपदेश को ऊँचा उठा लिया और कहा कि उन्होंने इतना पुण्य प्राप्त किया कि हम उसकी कोई सीमा बाँधने में असमर्थ हैं। भगवान् ने जो आर्य-वृत्ति सिखलाई, उसका वर्णन आचार्यों ने भी किया है और मूल-सूत्रकारों ने भी किया है।

इस सम्बन्ध में लोग शायद यह कह सकते हैं कि उस समय भगवान् गृहस्थ थे, इसीलिये उन्होंने गृहस्थ का मार्ग सिखा दिया। बात तो ठीक ही है, सभी विचारक कृषि को गृहस्थ का और संसार का मार्ग कहते हैं। कौन कहता है कि वह मोक्ष का मार्ग है ? परन्तु प्रश्न तो नीति और अनीति का है। गृहस्थ की आजीविका दोनों तरह से चलती है। कोई गृहस्थ न्याय-नीति से अपना जीवन-निर्वाह करता है, और कोई अनीति से—जुआ खेलकर, कसाई खाना खोलकर, शिकार करके, चोरी करके, या ऐसा ही कोई दूसरा अनैतिक धन्धा करके निर्वाह करता है। आप इनमें से किसे अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं ?

जहाँ न्याय और नीति है, वहाँ पुण्य है। भगवान् ने तो

— १ :—

श्रावक और स्फोट कर्म

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न इतना जटिल है कि जब तक गहराई में पहुँच कर हम इस पर विचार नहीं कर लेते तब तक उसकी वास्तविक रूप-रेखा हमारे सामने नहीं आ सकती। प्राय देखा जाता है कि लोग शब्दों को पकड़ कर चल पड़ते हैं फलत उनके हाथ मे किसी तत्त्व का केवल एक छोला मात्र ही रह जाता है और उसका रस प्राय निचुड़ जाता है। जिस फल का रस निचुड़ जाता है और केवल ऊपरी छोला ही रह जाता है उसका कोई मूल्य नहीं होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध मे भी आजकल यही दृश्य देखा जाता है। प्राय लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दों को ऊपर-ऊपर से पकड़ कर बैठ गए हैं इस कारण उन शब्दों के भीतर का मर्म उनकी समझ मे नहीं आ सका।

हिंसा और अहिंसा का वास्तविक मर्म समझाने के लिए बहुत दिनों से सामूहिक प्रवचन एवं व्यक्तिगत चर्चाओं द्वारा स्पष्ट प्रयत्न किए जा रहे हैं। किन्तु इन प्रयत्नों का उपयोग

अग्रसर करने के लिए , मानव को दानव बनाने के लिए नहीं, वरन् इन्सान की इन्सानियत को कायम रखने के लिए, कृषि आदि आदर्श कलाओं का सत् शिक्षण दिया था ।

— १ —

श्रावक और स्फोट कर्म

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न इतना जटिल है कि जब तक गहराई में पहुँच कर हम इस पर विचार नहीं कर लेते तब तक उसकी वास्तविक रूप रेखा हमारे सामने नहीं आ सकती। प्राय देखा जाता है कि लोग शब्दो को पकड कर चल पडते हैं फलत उनके हाथ में किसी तत्त्व का केवल एक छोला मात्र ही रह जाता है और उसका रस प्राय निचुड जाता है। जिस फल का रस निचुड जाता है और केवल ऊपरी छोला ही रह जाता है उसका कोई मूल्य नहीं होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध मे भी आजकल यही दृश्य देखा जाता है। प्राय लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दो को ऊपर-ऊपर से पकड कर बैठ गए है इस कारण उक्त शब्दो के भीतर का मर्म उनकी समझ मे नही आ सका।

हिंसा और अहिंसा का वास्तविक मर्म समझाने के लिए बहुत दिनो से सामूहिक प्रवचन एव व्यक्तिगत चर्चाओ द्वारा सम्यक् प्रयत्न किए जा रहे हैं। किन्तु इन प्रयत्नो का उपयोग

केवल मनोरंजन के रूप में नहीं करना है। हमारा मूल आशय तो यह है कि अहिंसा की स्पष्ट रूप-रेखा जनता के सामने प्रस्तुत की जानी चाहिए और जब तक वह नहीं रूप में नहीं आएगी, तब तक हम धर्म के प्रति, समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति भी प्रामाणिक नहीं हो सकेंगे। अतएव बारीकी से सोचना चाहिए कि हिंसा और अहिंसा का वास्तविक रूप क्या है?

यह एक लम्बी चर्चा है। प्राय लोग जब इस प्रश्न पर विचार करने के लिए शास्त्रों के पन्ने पलटते हैं तो पहले से ही कुछ सकल्प रख कर चलते हैं। और जब इस तरह चलते हैं तो उनका सकल्प एक ओर टकराता है और शास्त्रों की आवाज दूसरी ओर सुनाई देती है। ऐसी स्थिति में प्राय सकल्प की आवाज तो सुन ली जाती है और शास्त्रों की आवाज के स्वर दूर जा पड़ते हैं। परन्तु इससे सचाई हाथ नहीं आती, वास्तविकता का पता नहीं चलता, सिर्फ आत्म-सन्तोष मात्र थोड़े-से कल्पित विश्वास को पोषण मिल जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी तत्त्व पर विचार करते समय हमारी बुद्धि निष्पक्ष हो, क्योंकि तटस्थ बुद्धि के द्वारा ही सच्चा निर्णय प्राप्त हो सकता है।

एक न्यायाधीश है। वादी और प्रतिवादी उसके न्यायालय में उपस्थित हैं। किन्तु न्यायाधीश यदि किसी एक के पक्ष में पहले से ही बुद्धि को स्थिर कर लेता है तो वह जज की कुर्सी या न्याय के सिंहासन का उत्तरदायित्व पूरी तरह नहीं निभा सकता। आपको ज्यो ही यह बात मालूम पड़ती है, आप उस

न्यायालय को छोड़कर दूसरे न्यायालय में जाने की प्रार्थना करते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि फैसला किसी एक के ही पक्ष में होगा किन्तु निर्णय देने से पहले ही यदि निर्णय कर लिया जाता है और दिमाग में पहले ही पक्ष-विशेष का भाव भर लिया जाता है तो न्याय का उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अदा नहीं किया जा सकता। पक्षपात के पथ में कर्तव्य के कदम बिना मने रह नहीं सकते। ठीक यही बात शास्त्रों के सम्बन्ध में भी है। अगर आप हम किसी भी शास्त्रीय विषय पर गहराई से विचार करने के लिए उद्यत हों तो पहले अपनी बुद्धि को निष्पक्ष अवश्य बना लें और तटस्थ भाव जरूर रखें। यदि निष्पक्ष बुद्धि रखकर चलेंगे तो सिद्धान्त और जीवन को सही-सही परख सकेंगे और साथ ही समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को भी समझ सकेंगे। अन्यथा व्यर्थ ही शास्त्रों को गदला करते रहेंगे और अपने जीवन को भी नहीं परख सकेंगे। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र ने एक बड़ी ही सुन्दर बात कही है —

> आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
> पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥'

जब कदाग्रही और पक्षपाती मनुष्य किसी सिद्धान्त पर विचार करता है तब वह शास्त्रों को दलीलों का तथा युक्तियों को भी खींचकर घसीटता हुआ वहीं ले जाता है जहाँ उसकी बुद्धि ने पहले से ही कदम जमा लिया है। ऐसे लोग शास्त्र के आशय तथा औचित्य का भी नहीं देख पाते। बस उनका मुख्य ध्येय यही होता है कि किसी प्रकार मेरी

मनगढन्त धारणा को पुष्टि मिले। किन्तु जो पक्षपात से रहित होता है वह अपनी धारणा को वही ले जाता है, जहाँ युक्ति या शास्त्र का कथन उसे ले जाने की प्रेरणा देते हैं।

पक्षपात किसे कहते हैं ? पक्ष का अर्थ 'पख' है। पक्षी जब उडता है तो उसके दोनो पख ठीक और सम रहने चाहिएं। तभी वह ठीक तरह से गति कर सकता है, ऊँची उडान भर सकता है और लम्बे-लम्बे मैदानो को शीघ्रता से पार कर सकता है। किन्तु यदि उस पक्षी का एक पख टूट जाय तो वह उड नहीं सकता। इसी प्रकार जहाँ पक्षपात हुआ, और मनुष्य एक पक्ष का सहारा लेकर चला तो वहाँ सिद्धान्त, विचार और चिन्तन ऊपर नही उठ सकते, बल्कि वे रेंगते दिखाई पडेंगे। तो पक्षपात का स्पष्ट अर्थ है—सत्य के पख टूट जाना। आवश्यकता इस बात की है कि जब हम सिद्धान्त के किसी विषय पर विचार करें तो अपना दिल और दिमाग साफ रखे और गम्भीर विचार-मथन के द्वारा सत्य का जो मक्खन निकले, उसे ग्रहण करने को सदैव तैयार रहें।

पहले हमारी बुद्धि विकसित थी तो हम आग्रह को, अहकार को और किसी भी व्यक्ति-विशेष को महत्व न देकर केवल सत्य को ही महत्व देते थे और सत्य की ही पूजा करते थे। जहाँ सत्य की पूजा होती है, वहाँ ईश्वर की प्रतिष्ठा है। किसी देवालय में नारियल चढा देना, नैवेद्य चढा देना या मस्तक झुका देना सच्ची ईश्वरोपासना नही है, किन्तु मन-वचन-कर्म से सत्य की पूजा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना है।

जो मनुष्य तटस्थ भाव से आगे बढ़ता है और अपनी बद्धमूल मान्यताओं के आग्रह को ठुकरा देता है और उसके बदले में सामने आने वाले सत्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है वही मर्म को पा सकता है वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है। चाहे वह तरुण हो या बूढ़ा गृहस्थ हो या साधु वह अपने आप में बहुत ऊपर उठ सकता है। उसके जीवन की गति ईश्वरीय प्रगति है। वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊँचाई पर ले जाता है और गिरावट की ओर अग्रसर नहीं होता।

परन्तु सत्य का मार्ग सुगम नहीं है। वह बड़ा कठिन पेचीदा और टेढ़ा है। इतना कठिन और टेढ़ा कि जिसके लिए भारत के एक सन्त ने कहा है —

> "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
> दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।"
> —कठोपनिषद्

अर्थात्—छुरे की धार पर चलना कठिन है। जिस मार्ग में छुरे बिछे हों और तलवारों की नोकें ऊपर को उठी हों उस मार्ग पर चलने वाला नृत्य करने वाला कितनी सावधानी से कितनी बड़ी तैयारी के साथ एक-एक कदम रखता है और कितनी तटस्थता रखता है और आखिर नृत्य को पूरा कर ही जाता है। परन्तु सत्य का मार्ग छुरे की धार से भी तेज और टेढ़ा है और विद्वान् उसे दुर्गम भी बताते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् भी वहाँ चलते चलते धीरज छोड़ देते हैं।

किन्तु इसमे किसी से घृणा या द्वेष करने की आवश्यकता नही है। यह तो मार्ग ही ऐसा है कि डिग जाना, फिसल जाना या विचलित हो जाना कोई बडी बात नही है। गीता मे योगिराज कृष्ण ने भी कहा है —

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता।"

अर्थात्—कर्म क्या है, और अकर्म क्या है ? धर्म क्या है, और अधर्म क्या है ? पुण्य क्या है, और पाप क्या है ? इसके निष्पक्ष निर्णय मे बडे-बडे विद्वान भी भ्रमित हो जाते हैं।

अतएव इस मार्ग पर पांडित्य का भार लादकर भी नही चला जा सकता। इस पर तो सत्य की दृष्टि लेकर, अपने आपको सत्य के चरणो मे समर्पित करके ही चला जा सकता है। यदि व्यर्थ के पाडित्य का भार लादकर चलेगे तो निष्पक्ष निर्णय नही कर सकगे। सत्य के प्रति गद्गद् भाव और सहज भाव लिए हुए साधक चलेगा तो सम्भव है उसे सत्य का पता लग सकना है। इसके अभाव मे विद्वान भी सत्य की झाँकी नही पा सकता।

आपका अध्ययन कितना ही अल्प क्यो न हो, यदि सत्य को ही आपने अपना लक्ष्य बना लिया है और सहज भाव से उसे ग्रहण करने के लिए आप तैयार हैं तो अवश्य ही आप सत्य के निकट पहुँच सकते हैं। इसके विपरीत बडे-बडे विद्वान् भी अहकार और पाण्डित्य के प्रमाद को साथ लेकर सत्य के द्वार तक नही पहुँच सकते।

इस सम्बन्ध मे हमारे आचार्यों ने श्रेष्ठ-से श्रेष्ठतर बाते कह दी है, वे अधिक ऊँचाई पर हैं, परन्तु हमारे विचारो के

हाथ इतने छोटे हैं कि हम ऊँचाई को छू भी नहीं सकते।

परन्तु सत्य के महत्त्व के सामने बड़े से बड़ा व्यक्तित्व भी हीन है। हम व्यक्ति को महत्त्व तो दे देते हैं किन्तु विचार करने से विदित होगा कि उसे वह महत्त्व सत्य के द्वारा ही मिला है। अपने आप मे व्यक्ति का क्या महत्त्व है ? वह तो हड्डी और मांस का स्थूल ढाँचा है। परन्तु जब वह सत्य की पूजा के लिए सन्मार्ग पर चल पड़ता है सत्य की ही परिधि मे रहता है और सत्य के साम्राज्य मे ही विचरण करता है तभी उसकी पूजा की जाती है उसका स्वागत और सम्मान किया जाता है। वह पूजा वह आदर और वह सम्मान उसकी सुन्दर मानव आकृति का नही अपितु उसकी सत्य-निष्ठा का है।

कल्पना कीजिए—एक लम्बा आदमी सीधा दण्डायमान खड़ा होता है और उसका सिर यदि मकान की छत से छू जाता है तो उसकी हड्डियो की ऊँचाई देखने वालो को तमाशा जरूर बन सकती है पर वह हमारी श्रद्धा एव भक्ति का पात्र नही हो सकता। किन्तु जीवन की सार्थकता के लिए विचारो की और सत्य की जो ऊँचाई है वही आदर एव सम्मान की उपादेय वस्तु बनती है। यह ऊँचाई तमाशे की वस्तु नही अपितु चरणो मे झुकने और समर्पित होने की श्रद्धा की वस्तु है।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने यह कहा है कि—आप व्यक्ति को क्यो महत्त्व देते है ? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा इस प्रकार कहकर आप एक ओर तो साक्षियाँ

आए हैं हम उन सब के विचारों का तटस्थ वृत्ति से अध्ययन करते हैं उन सब की वाणी का चिन्तन मनन और विश्लेषण करते हैं। जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी के विचारों को निःशंक भाव से स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तोल रहे हैं जो सदियों से और सहस्राब्दियों से बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय विशेष को तोला जाए तो वह तोल पर पूरा नहीं उतरता है। क्योंकि जितने भी सम्प्रदाय हैं उनमें प्रायः सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है अतः जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एक-मात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने वालों में तो वही तोल ठीक होगा।

आखिर आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यों करते हैं? उनका सत्कार और सम्मान क्यों करते हैं? आखिर, उनमें ऐसा क्या चमत्कार है, जो हम अपने को उनके चरणों में समर्पित करते हैं। उनके जीवन का जो परम सत्य है वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा उनके गुणों की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत के एक बड़े आचार्य ने तो स्वयं भगवान् के ही

चलाते हैं और दूसरी ओर सत्य, जो तटस्थ भाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नही सुनते। इस शोचनीय स्थिति को देखकर दुख होता है कि यह कैसी गडवड चल रही है। अतएव हमे भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना मे व्यक्ति का जो महत्त्व है, वह केवल सत्य की ही वदौलत है। सम्प्रदाय का, समाज का और व्यक्ति का महत्व एकमात्र सत्य के ही पीछे है। सत्य का वडप्पन ही व्यक्ति को वडप्पन देता है।

इस सम्वन्ध में जैनाचार्य हरिभद्र वहुत वडी वात कह गए है। आचार्य हरिभद्र वडे ही वहुश्रुत विद्वान् हो चुके हैं, जिनकी विद्वत्ता को महाकाल की काली छाया भी धुंधला नही वना सकी। उनकी अमर वाणी हम आपके सामने रख रहे हैं। वे कहते हैं—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेप कपिलादिपु ।
युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥"

भगवान् महावीर के प्रति हमें पक्षपात नही है। वे हमारी जाति-विरादरी के नही और सगे-सम्वन्वी भी नही है। किन्तु सत्याचरण और कठिन साधना से आखिरकार वे भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके है, अत उनकी वाणी के सम्बन्ध मे हम जो भी विचार करते हैं, वह किसी तरह का पक्षपात लेकर नही। और कपिल आदि जो अन्य महर्षि हो चुके हैं, उनके प्रति हमे लेशमात्र भी द्वेष और घृणा नही है। जो भी सत्य के उपासक आज तक प्रकाश में

आए हैं हम उन सब के विचारों का तटस्थ वृत्ति से अध्ययन करते हैं उन सब की वाणी का चिन्तन मनन और विश्लेषण करते हैं। जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी के विचारों को निःशंक भाव से स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तोल रहे हैं जो सदियों से और सहस्राब्दियों से बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय-विशेष को तोला जाए तो वह तोल पर पूरा नहीं उतरता है। क्योंकि जितने भी सम्प्रदाय हैं उनमें प्रायः सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है अतः जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एकमात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने चलोगे तो सही तोल ठीक होगा।

आखिर आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यों करते हैं ? उनका सत्कार और सम्मान क्यों करते हैं ? आखिर उनमें ऐसा क्या चमत्कार है जो हम अपने को उनके चरणों में समर्पित करते हैं। उनके जीवन का जो परम सत्य है वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा उनके गुणों की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत के एक बड़े आचार्य ने तो स्वयं भगवान् के ही

चलाते हैं और दूसरी ओर सत्य, जो तटस्थ भाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नही सुनते। इस शोचनीय स्थिति को देखकर दुःख होता है कि यह कैसी गडबड चल रही है। अतएव हमे भली-भांति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना मे व्यक्ति का जो महत्त्व है, वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय का, समाज का और व्यक्ति का महत्व एकमात्र सत्य के ही पीछे है। सत्य का बडप्पन ही व्यक्ति को बडप्पन देता है।

इस सम्बन्ध में जैनाचार्य हरिभद्र बहुत बडी बात कह गए है। आचार्य हरिभद्र बडे ही बहुश्रुत विद्वान् हो चुके हैं, जिनकी विद्वत्ता को महाकाल की काली छाया भी धुंधला नही बना सकी। उनकी अमर वाणी हम आपके सामने रख रहे हैं। वे कहते हैं—

> "पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु ।
> युक्तिमद्वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥"

भगवान् महावीर के प्रति हमें पक्षपात नही है। वे हमारी जाति-बिरादरी के नही और सगे-सम्बन्धी भी नही हैं। किन्तु सत्याचरण और कठिन साधना से आखिरकार वे भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अत उनकी वाणी के सम्बन्ध मे हम जो भी विचार करते हैं, वह किसी तरह का पक्षपात लेकर नही। और कपिल आदि जो अन्य महर्षि हो चुके हैं, उनके प्रति हमे लेशमात्र भी द्वेष और घृणा नही है। जो भी सत्य के उपासक आज तक प्रकाश में

आए हैं हम उन सब के विचारों का तटस्थ वृत्ति से अध्ययन करते हैं उन सब की वाणी का चिन्तन मनन और विश्लेषण करते है। जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी के विचारो को निःशक भाव से स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पडता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तोल रहे हैं जो सदियो से और सहस्राब्दियो से बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय विशेष को तोला जाए तो वह तोल पर पूरा नही उतरता है। क्योंकि जितने भी सम्प्रदाय हैं उनमें प्राय सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है अतः जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एकमात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने चलोगे तो वही तोल ठीक होगा।

आखिर आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यो करते हैं ? उनका सत्कार और सम्मान क्यो करते हैं ? आखिर उनमे ऐसा क्या चमत्कार है जो हम अपने को उनके चरणो मे समर्पित करते हैं। उनके जीवन का जो परम सत्य है वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा उनके गुणो की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नही है।

भारत के एक बडे आचार्य ने तो स्वय भगवान् के ही

मुँह से कहलाया है —

"तापाच्छेदान्निकषात्सुवर्णमिव पण्डितै ।
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्य , मद्वचो न तु गौरवात् ।"

भगवान् ने अपने सभी शिष्यो को सम्बोधन करते हुए कहा था—"हे भिक्षुओ ! मेरे वचनो को भी परीक्षणात्मक दृष्टि से सत्य की कसौटी पर जाँचो, और परखो । अच्छी तरह से जांचने और परखने के पश्चात् यदि वे तुम्हे ग्रहण करने योग्य प्रतीत हो तो ग्रहण करो । केवल मेरे वडप्पन के कारण ही मेरे वचनो को मत मानो । सत्य के पक्ष को प्रधानता न देकर केवल गुरु के पक्ष पर ही अडे रहना किसी प्रकार उचित नही है , क्योकि व्यक्ति-विशेष का व्यक्तित्व सत्य के अस्तित्व से किसी भी अश मे ऊँचा नही है ।

देखिए, कितनी निष्पक्ष एव आदर्श बात कही है ! जो सत्य का निर्णय करने चले हैं, वे व्यक्ति-विशेष को अधिक महत्व नही देते, अपितु सत्य को ही अधिक महत्व देते हैं । सत्य की प्रधानता के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कहा भी गया है —

"न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिर ।"

अर्थात्—"सिर के वाल पक जाने से ही कोई वडा नही हो जाता । वडा वह है, जिसके विचार स्पष्ट हो गए हैं, फिर भले ही वह वय की अपेक्षा छोटा ही क्यो न हो । जिसके विचारो मे कोई स्पष्टता नही आई है, यदि उसका सारा सिर वगुले की तरह सफेद भी हो जाए, तब भी वह बडा नही कहा जा सकता ।

जो चर्चा चल रही है, उसके सम्बन्ध मे सही निर्णय

पर पहुँचने के लिए इतनी विस्तृत भूमिका देना आवश्यक ही है। तभी हम सत्य के किनारे पर पहुँच सकेंगे।

अब प्रश्न यह है कि—क्या हिंसा और अहिंसा अपने आप में दो अलग-अलग चीजें हैं? जैन-धर्म क्या सिखाता है? वह हिंसा से अहिंसा की ओर जाने की राह बतलाता है या अहिंसा से हिंसा की ओर जाने को? जैन धर्म अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है या प्रकाश से अन्धकार की ओर? जो धर्म अथवा धर्मोपदेशक प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाता है—वह धर्म नहीं हो सकता न वह गुरु ही हो सकता है और न भगवान् ही। यदि आप इस बात को स्वीकार करते हैं तो आपको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए थे प्रकाश से अन्धकार की ओर कदापि नहीं।

यह माना कि भगवान् ऋषभदेव ने प्रारम्भ में जो कुछ भी शिक्षा दी वह गृहस्थ अवस्था में दी थी। परन्तु उस समय उन्हें कौन-सा सम्यक्त्व* प्राप्त था? शास्त्रों के अनुसार उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। इसका अर्थ यह है कि

---

*जैन-दर्शन में विचार-शुद्धि की विकास-भूमिका को सम्यक्त्व कहते हैं। उसके क्षायिक क्षयोपशम आदि अनेक भेद हैं। जब विचार-दर्शन सर्वथा शुद्ध होता है अतः निष्ठा सर्वथा पवित्र होती है, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है। यह विचार-शुद्धि की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। क्षयोपशम में जैसे अतिचार दूषण लग जाते हैं वैसे क्षायिक में नहीं लगते। वह सर्वथा निर्दूषण है।

उनकी विचार-सृष्टि मे लेशमात्र भी मैल नही था। जहाँ कही भी थोडी-बहुत मलिनता होती है, वहाँ क्षयोपशम-सम्यक्त्व होता है। मलिनता की न्यूनाधिकता के कारण क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक प्रकार का होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व पूरी तरह पवित्र और निर्मल होता है। और जहाँ पूर्णता है, वहाँ भेद नही होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानो के जहाँ सैकडो भेद गिनाए गए हैं, वहाँ क्षायिक-ज्ञान अर्थात्—'केवल-ज्ञान' एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के भी असख्य भेद हैं, जबकि क्षायिक सम्यक्त्व अखण्ड है। आखिर क्षायिक सम्यक्त्व मे यह विशिष्टता क्यो आई ? यदि इसमें मिथ्यात्व मोहनीयजन्य विकारो का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी न किसी अश मे भेद प्रकट हो जाता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ भिन्नता अनिवार्य है और जहाँ अभिन्नता एव अखण्डता है, वहाँ पूर्णता विद्यमान है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहाँ दर्शन-सम्बन्धी विकारो का मैल अणुमात्र भी नही है। और जब मैल नही रहा तो वह अखण्ड-निर्विकल्प हो जाता है।

हाँ, तो भगवान् को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। आप तनिक अनुमान कीजिए कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए ? सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये सब सम्यक्त्व के ही लक्षण हैं। किन्तु जो गुण सब से अधिक चमकता हुआ है और जिससे सम्यक्त्व की परख की

जाती है वह है अनुकम्पा'।

भगवान् के हृदय मे कितनी दया कितनी करुणा और कितनी अनुकम्पा थी ? उनके अन्तःकरण मे करुणा का सागर लहरा रहा था। वे जो भी प्रवृत्ति करते उसमे भले ही अनिवार्य हिंसा हो परन्तु उस हिंसा के पीछे भी करुणा छिपी रहती थी। कदाचित् आप कहेगे कि अन्धकार और प्रकाश को एक किया जा रहा है ? किन्तु ऐसा नही है। हिंसा तो अशक्य परिहार स्वरूप आचार मे होती है परन्तु विचार मे तो दया और करुणा का निर्मल झरना बहता रह सकता है।

अस्तु, कथन का आशय यही है कि दूसरे सम्यक्त्व मे तो विचार-सम्बन्धी आंशिक मैल लग सकता है परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व मे अणुमात्र भी नही लग सकता। भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से प्रारम्भ हुई है। और जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो कभी हो ही नही सकता कि सम्यक्त्व तो प्रकट हो परन्तु अनुकम्पा प्रवाहित न हो ? यह कदापि सम्भव नही है कि सूर्य हो परन्तु प्रकाश न हो मिश्री की डली हो किन्तु मिठास न हो। ऐसी असगत बात कभी बनने वाली नही है। तो निष्कर्ष यही निकला कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात्—अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नही सकता। अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना भी नही की जा सकती।

अब इस दृष्टि से विचार करेंगे तो स्पष्ट अनुभव होगा

उनकी विचार-सृष्टि मे लेशमात्र भी मैल नही था। जहाँ कही भी थोडी-बहुत मलिनता होती है, वहाँ क्षयोपशम-सम्यक्त्व होता है। मलिनता की न्यूनाधिकता के कारण क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक प्रकार का होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व पूरी तरह पवित्र और निर्मल होता है। और जहाँ पूर्णता है, वहाँ भेद नही होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानो के जहाँ सैकडो भेद गिनाए गए हैं, वहाँ क्षायिक-ज्ञान अर्थात्—'केवल-ज्ञान' एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के भी असख्य भेद हैं, जबकि क्षायिक सम्यक्त्व अखण्ड है। आखिर क्षायिक सम्यक्त्व मे यह विशिष्टता क्यो आई ? यदि इसमे मिथ्यात्व मोहनीयजन्य विकारो का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी न किसी अश मे भेद प्रकट हो जाता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ भिन्नता अनिवार्य है और जहाँ अभिन्नता एव अखण्डता है, वहाँ पूर्णता विद्यमान है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहाँ दर्शन-सम्बन्धी विकारो का मैल अणुमात्र भी नही है। और जब मैल नही रहा तो वह अखण्ड-निर्विकल्प हो जाता है।

हाँ, तो भगवान् को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। आप तनिक अनुमान कीजिए कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए ? सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, ये सब सम्यक्त्व के ही लक्षण हैं। किन्तु जो गुण सब से अधिक चमकता हुआ है और जिससे सम्यक्त्व की परख की

चाती है वह है 'अनुकम्पा'।

भगवान् के हृदय मे कितनी दया कितनी करुणा और कितनी अनुकम्पा थी ? उनके अन्तःकरण मे करुणा का सागर लहरा रहा था। वे जो भी प्रवृत्ति करते उसमे भले ही अनिवार्य हिंसा हो परन्तु उस हिंसा के पीछे भी करुणा छिपी रहती थी। कदाचित् आप कहेगे कि अन्धकार और प्रकाश को एक किया जा रहा है ? किन्तु ऐसा नही है। हिंसा तो असक्य परिहार स्वरूप आचार मे होती है परन्तु विचार मे तो दया और करुणा का निर्मल झरना बहता रह सकता है।

अस्तु, कथन का आशय यही है कि दूसरे सम्यक्त्व मे तो विचार-सम्बन्धी क्षायिक मैल लग सकता है परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व मे अणुमात्र भी नही लग सकता। भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से आरम्भ हुई है। और जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो कभी हो ही नही सकता कि सम्यक्त्व तो प्रकट हो परन्तु अनुकम्पा प्रदर्शित न हो ? यह कदापि सम्भव नही है कि सूर्य हो परन्तु प्रकाश न हो मिश्री की डली हो किन्तु मिठास न हो। ऐसी असमत बात कभी बनने वाली नही है। तो निष्कर्ष यही निकला कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात्—अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नही सकता। अनुकम्पा के अभाव मे सम्यक्त्व की कल्पना भी नही की जा सकती।

जब हम दृष्टि से विचार करते तो स्पष्ट अनुभव होगा

कि भगवान् की जो भी प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही रही होगी। दया का झरना तो निरन्तर बहता ही रहा होगा और उस बहाव के साथ ही सारी क्रियाएँ भी हुई होगी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियो में, जब कि जनता पर विपत्ति के घने बादल छाये हुए थे, भयानक सकट मुँह बाये खडा था और लोगो को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आँखो के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी, उस सकट काल में भगवान् ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाश-किरण थे। करुणानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण सकट से उबारने के लिए ही कृषि सिखलाई, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाए। तो भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप मे हुई ? वस्तुत वह हिंसा के रूप मे नही हुई, जनता को गलत राह पर भटकाने के लिए भी नही हुई। भगवान् तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए। उन्होने जनता को प्रकाश से अन्धकार की ओर नही ढकेला, शास्त्रकार इस बात को भूले नही हैं। इसीलिए जहाँ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र मे युगलियो का वर्णन किया गया है और उस वर्णन मे पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए, तो साथ मे एक महत्त्वपूर्ण पद भी जोड दिया गया है —

"पयाहियाए उवदिसइ।"

अर्थात्—"प्रजा के हित के लिए यह सब उपदेश दिया।" शास्त्रकार ने इतना कहकर भगवान् की जो भी मर्यादाएँ थी, वे सभी व्यक्त कर दी। इस प्रकार भगवान् ने जो भी

कार्य किया उसके पीछे अनुकम्पा थी और जहाँ अनुकम्पा तथा हितभावना है वहाँ अहिंसा विद्यमान है।

'पयाहिआए'—इस एक पद ने भगवान् की उच्च भावना को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है। अब तक यह पद सुरक्षित है—और हम चाहते हैं कि वह भविष्य में भी चिर सुरक्षित रहे—उससे भगवान् की दया का प्रामाणिक परिचय मिलता रहेगा।

अब आप समझ सकते हैं कि भगवान् ने कृषि आदि की जो शिक्षा दी उसके पीछे उनकी क्या दृष्टि थी ? वे जनता को हिंसा से अहिंसा की ओर ले गए। वे चाहते थे कि लोग महान् आरम्भ की ओर न जाकर अल्पारम्भ की ओर ही जाएँ। यदि वे अल्पारम्भ से महारम्भ की ओर ले जाते तो इसका अर्थ होता— प्रकाश से अन्धकार की ओर ले गए। उन्होंने भोगी, भूमी और समस्त जनता को ऐसा कर्त्तव्य बताया कि वह महारम्भ से बच जाए और साथ ही पेट की जटिल समस्या भी हल कर सके और अपनी जीवन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

आज भी उद्योग धन्धा के रूप में जो हिंसा होती है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जैन-धर्म छोटी से छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बताता है। गृहस्थों की बात जाने भी दें और केवल संसार-त्यागी साधुओं की ही बात लें तो उनमें भी—क्रोध मान माया और लोभ के विकार कुछ मात्रा मौजूद रहते हैं और इसीलिए उन्हें भी पूर्णतया अहिंसा

कि भगवान् की जो भी प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही रही होगी। दया का झरना तो निरन्तर बहता ही रहा होगा और उस बहाव क साथ ही सारी क्रियाएँ भी हुई होगी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियो में, जब कि जनता पर विपत्ति के घने बादल छाये हुए थे, भयानक सकट मुँह बाये खडा था और लोगो को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आँखो के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी, उस सकट काल में भगवान् ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाश-किरण थे। करुणानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण सकट से उबारने के लिए ही कृषि सिखलाई, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाए। तो भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप मे हुई ? वस्तुत वह हिंसा के रूप में नही हुई, जनता को गलत राह पर भटकाने के लिए भी नही हुई। भगवान् तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए। उन्होने जनता को प्रकाश से अन्धकार की ओर नही ढकेला, शास्त्रकार इस बात को भूले नही हैं। इसीलिए जहाँ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र में युगलियो का वर्णन किया गया है और उस वर्णन मे पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए, तो साथ मे एक महत्त्वपूर्ण पद भी जोड दिया गया है —

"पयाहियाए उवदिसइ।"

अर्थात्—"प्रजा के हित के लिए यह सब उपदेश दिया।" शास्त्रकार ने इतना कहकर भगवान् की जो भी मर्यादाएँ थी, वे सभी व्यक्त कर दी। इस प्रकार भगवान् ने जो भी

कार्य किया उसके पीछे अनुकम्पा थी और जहाँ अनुकम्पा तथा हितभावना है वहाँ अहिंसा विद्यमान है।

'पयाहियाए'—इस एक पद ने भगवान् की उस भावना को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है। जब तक यह पद सुरक्षित है—और हम चाहते है कि वह भविष्य मे भी चिर सुरक्षित रहे—उससे भगवान् की दया का प्रामाणिक परिचय मिलता रहेगा।

अब आप समझ सकते है कि भगवान् ने कृषि आदि की जो शिक्षा दी उसके पीछे उनकी क्या दृष्टि थी? वे जनता को हिंसा से अहिंसा की ओर ले गए। वे चाहते थे कि लोग महान् आरम्भ की ओर न जाकर अल्पारंभ की ओर ही आएँ। यदि वे अल्पारंभ से महारंभ की ओर ले जाते तो इसका अर्थ होता—'प्रकाश से अन्धकार की ओर ले गए। उन्होने भोली भूखी और सत्रस्त जनता को ऐसा कर्तव्य बताया कि वह महारंभ से बच जाए और साथ ही पेट की जटिल समस्या भी हल कर सके और अपनी जीवन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

आज भी उद्योग-धन्धो के रूप मे जो हिंसा होती है उससे इन्कार नही किया जा सकता। जैन-धर्म छोटी से छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बताता है। गृहस्थो की बात जाने भी दें और केवल ससार-त्यागी साधुओ की ही बात लें तो उनमे भी—क्रोध मान माया और लोभ के विकार युक्त भाव मौजूद रहते है और इसीलिए उन्हे भी पूर्णतया अहिंसा

का प्रमाण-पत्र नही मिल जाता है। साधु-जीवन मे भी 'आरभिया'* और 'मायावत्तिया' क्रिया चालू रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरभिया क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है, यद्यपि उस हिंसा मे आरम्भ छूट जाता है। उस दशा मे हिंसा रहती है, पर आरभ नही रहता, यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति मे द्रव्य-हिंसा तो है, किन्तु अन्तर्मन मे हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नही है। ज्यो ही साधक जागृत होता है, त्यो ही उसमें अप्रमत्त भाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी बाह्य क्रिया स्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है किन्तु उसमे आन्तरिक भाव-हिंसा नही रहती।

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र मे, श्रावक जब उद्योग-धन्धे के रूप मे कोई काम करता है तो वहाँ उसकी कार्य-विधि एकान्त हिंसा की दृष्टि से ही रहती है या उसमे उद्योग-धन्धे की दृष्टि भी कुछ काम करती है? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल जीवो को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के ही मूल उद्देश्य को लेकर व्यापार करना होता है?

---

* प्राणिहिंसा-मूलक दोष 'आरभिया' क्रिया कहलाती है। और क्रोध, मान, माया—दम्भ एव लोभ मूलक दोषो को 'मायावत्तिया' क्रिया कहते हैं।

कृषि के सम्बन्ध में भी यही दृष्टि रखकर सोचना चाहिए। देहात के सैकड़ों किसान बहुत सवेरे ही उठकर खेतों में काम करने जाते हैं। हमने पंजाब और उत्तर प्रदेश के जैन-किसानों को देखा है। वे कृषि का धन्धा करते हैं और प्रायः बड़े ही भावपूर्ण और श्रद्धालु होते हैं। सम्भव है वह श्रद्धा आप व्यापारियों में नहीं भी हो। किन्तु उनमें तो इतना प्रेम है और उनके हृदय प्रेम रस से इतने भरे होते हैं कि जिसका बखान नहीं किया जा सकता। यद्यपि वे पसीने से तर खेतों से वापिस आए हैं किन्तु ज्यों ही साधु को गृह-द्वार पर देखा तो झट से उनके पास आते हैं और 'सामायिक' करवाने की प्रार्थना करने लगते हैं। वे बराबर सामायिक' और 'पौषध' आदि करते हैं। जब साधु गोचरी के लिए निकलते हैं तो एक तूफान-सा मच जाता है। सब यही चाहते हैं कि पहले मेरे घर को पवित्र करें।

वे खेतों का काम करने वाले लोग जब प्रातःकाल हल लेकर चल पड़ते हैं उस समय कौन-सी भावना उनके हृदय में काम करती है? क्या वे इस दृष्टि से चलते हैं कि खेत में जीव बहुत इकट्ठे हो गए हैं अतः चलकर शीघ्र ही उनको समाप्त

'सामायिक' जैन-धर्म की वह साधना है जिसमें गृहस्थ दो घड़ी के लिए हिंसा असत्य आदि पापाचरणों का त्याग कर, अपनी अन्तरात्मा को परमात्म-भाव में लीन करने का प्रयत्न करता है।

'पौषध' वह साधना है जिसमें सूर्योदय से लेकर अगले दिन सूर्योदय तक सब प्रकार के हिंसा असत्य आदि पापाचरण और भोजन का त्याग कर एकान्त स्थान में साधु जैसी वृत्ति का अभ्यास किया जाता है।

का प्रमाण-पत्र नही मिल जाता है। साधु-जीवन मे भी 'आरभिया'* और 'मायावत्तिया' क्रिया चालू रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरभिया क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है, यद्यपि उस हिंसा मे आरम्भ छूट जाता है। उस दशा मे हिंसा रहती है, पर आरभ नही रहता, यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति मे द्रव्य-हिंसा तो है, किन्तु अन्तर्मन मे हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नही है। ज्यो ही साधक जागृत होता है, त्यो ही उसमे अप्रमत्त भाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी बाह्य क्रिया स्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है किन्तु उसमें आन्तरिक भाव-हिंसा नही रहती।

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र मे, श्रावक जब उद्योग-धन्धे के रूप मे कोई काम करता है तो वहाँ उसकी कार्य-विधि एकान्त हिंसा की दृष्टि से ही रहती है या उसमे उद्योग-धन्धे की दृष्टि भी कुछ काम करती है? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल जीवो को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के ही मूल उद्देश्य को लेकर व्यापार करना होता है?

---

* प्राणिहिंसा-मूलक दोष 'आरभिया' क्रिया कहलाती है। और क्रोध, मान, माया—दम्भ एव लोभ मूलक दोषों को 'मायावत्तिया' क्रिया कहते हैं।

कृषि के सम्बन्ध मे भी यही दृष्टि रखकर सोचना चाहिए। देहात के सैकड़ो किसान बहुत सबेरे ही उठकर खेतो मे काम करने जाते है। हमने पजाब और उत्तर प्रदेश के जैन-किसानो को देखा है। वे कृषि का धन्धा करते हैं और प्राय बड़े ही भावपूर्ण और श्रद्धालु होते हैं। सम्भव है वह श्रद्धा आप व्यापारियो मे नही भी हो। किन्तु उनमें तो इतना प्रेम है और उनके हृदय प्रेम रस से इतने भरे होते हैं कि जिसका वर्णन नही किया जा सकता। यद्यपि वे पसीने से तर खेतो से वापिस आए है किन्तु ज्यों ही साधु को गृह-द्वार पर देखा तो झट से उनके पास आते है और 'सामायिक' करवाने की प्रार्थना करने लगते है। वे बराबर सामायिक और 'पौषध'* आदि करते है। जब साधु गोचरी के लिए निकलते है तो एक तूफान-सा मच जाता है। सब यही चाहते हैं कि पहले मेरे घर को पवित्र करें।

वे खेती का काम करने वाले लोग जब प्रातःकाल हल लेकर चल पड़ते हैं उस समय कौन-सी भावना उनके हृदय मे काम करती है? क्या वे इस दृष्टि से चलते हैं कि खेत मे जीव बहुत इकट्ठे हो गए है अत चलकर शीघ्र ही उनको समाप्त

'सामायिक' जैन-धर्म की वह साधना है, जिसमें गृहस्थ दो घड़ी के लिए हिंसा असत्य आदि पापाचरण का त्याग कर, अपनी अन्तरात्मा को परमात्म-भाव में लीन करने का प्रयत्न करता है।

*पौषध' वह साधना है जिसमें सूर्योदय से लेकर अगले दिन सूर्योदय तक सब प्रकार के हिंसा असत्य आदि पापाचरण और भोजन का त्याग कर एकान्त स्थान में साधु जैसी वृत्ति का अभ्यास किया जाता है।

किया जाए ? नही, वहाँ तो उद्योग की दृष्टि होती है। यदि दृष्टि में विवेक और विचार है तो वह कृषक आरभ मे भी अशत अनारभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यही है कि कृषक आरभ का सकल्प लेकर नहीं चला है। अस्तु, जब काम करता है तब यह वृत्ति नही होती है कि इन जीवो को मार डालू । हिंसा करने का उसका सकल्प कदापि नही है, हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नही करता है। उसका एकमात्र सकल्प 'धन्धा' करना है, जीवन-निर्वाह करना है और यदि उसमे विवेक है तो वह वहाँ भी जीवो को इधर-उधर बचा देता है।

विवेकशील बहिनें घरो मे झाड़ू लगाती हैं। ऐसा करने में हिंसा अवश्य होती है, किन्तु उनकी दृष्टि मूल मे हिंसा करने की, अर्थात् जीवो को मारने की कभी नही होती। प्राय मकान को साफ-सुथरा रखने की ही भावना होती है, जिससे कि जीव-जन्तु पैदा न होने पाएँ।

जहाँ तक विचार काम देते हैं—'यावद्बुद्धि-बलोदयम्' ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि जीव-जन्तु किसी-न-किसी प्रकार बच जाएँ। ऐसा विवेक हो तो आरभ* मे भी अश-विशेष के रूप मे कुछ-न-कुछ अनारभ की भूमिका बन ही जाती है।

जिस प्रकार विचारक और अविचारक की कलम के चलने मे अन्तर होता है, वैसे ही हल के चलने मे भी अन्तर होता है।

---

*जैन-दर्शन में हिंसा के लिए 'आरभ' और अहिंसा के लिए 'अनारभ' शब्द का प्रयोग भी होता है।

हमारे यहाँ कसम-कसाई शब्द भी प्रचलित है। मला बेचारी कसम कैसे कसाई हो गई ? नहीं वह तो कसाई नहीं होती। किन्तु किसी की गर्दन काटने के विचार से जो कसम खाता है, वह कसम 'कसम-कसाई' हो जाता है। यदि कोई ईमानदारी के साथ हिसाब मिलाता है तो वह कसम-कसाई नहीं कहलाता। यही बात सब जगह है।

इस प्रकार यदि अपने दिमाग को साफ रखकर सोचा जाए तो प्रतीत होगा कि श्रावक का 'उद्योगी हिंसा' होती है 'संकल्पी हिंसा' नहीं जो श्रावक साल भर चोटी से एड़ी तक पसीना बहा कर दो-चार सौ रुपए पैदा करता है उसी को यदि यह कहा दिया जाय कि यह एक कीड़ा जा रहा है इसे मार दो। मैं तुम्हें हजार रुपया दूंगा। तो क्या वह कृषक श्रावक उसे मार देगा ? नहीं वह स्पष्ट इन्कार कर देगा। जब खेती करने में असंख्य जीव मर जाते हैं रात-दिन कठिन परिश्रम करना पड़ता है और फिर भी दो-चार सौ की ही कमाई होती है और इधर सिर्फ एक कीड़ा मारने से ही हजार रुपए मिल रहे हैं तब भी वह कृषक कीड़े को क्यों नहीं मारता ? श्रावक की अहिंसा निरपराध कीड़े को मारने के लिए तैयार नहीं होती और बड़े से बड़े प्रलोभन को ठुकरा देती है। आप कहेंगे कि खेती में तो वह प्रयोजन के लिए हिंसा करता है तो यहाँ भी उसे हजार रुपए मिल रहे हैं। क्या यह प्रयोजन नहीं है ? परन्तु यहाँ तो वह प्रयोजन के लिए भी हिंसा करने को तैयार नहीं है। इसका कारण यही है कि हजार रुपए के प्रलोभन में पड़ कर निरपराध कीड़े को मारना संकल्पी हिंसा' है और

किया जाए ? नही, वहाँ तो उद्योग की दृष्टि होती है। यदि दृष्टि मे विवेक और विचार है तो वह कृषक आरभ मे भी अशत अनारभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यही है कि कृषक आरभ का सकल्प लेकर नहीं चला है। अस्तु, जब काम करता है तब यह वृत्ति नही होती है कि इन जीवो को मार डालूँ। हिंसा करने का उसका सकल्प कदापि नही है, हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नही करता है। उसका एकमात्र सकल्प 'धन्धा' करना है, जीवन-निर्वाह करना है और यदि उसमे विवेक है तो वह वहाँ भी जीवो को इधर-उधर बचा देता है।

विवेकशील बहिनें घरो मे झाड़ू लगाती हैं। ऐसा करने मे हिंसा अवश्य होती है, किन्तु उनकी दृष्टि मूल मे हिंसा करने की, अर्थात् जीवो को मारने की कभी नही होती। प्राय मकान को साफ-सुथरा रखने की ही भावना होती है, जिससे कि जीव-जन्तु पैदा न होने पाएँ।

जहाँ तक विचार काम देते हैं—'यावद्बुद्धि-बलोदयम्' ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि जीव-जन्तु किसी-न-किसी प्रकार बच जाएँ। ऐसा विवेक हो तो आरभ* मे भी अश-विशेष के रूप मे कुछ-न-कुछ अनारभ की भूमिका बन ही जाती है।

जिस प्रकार विचारक और अविचारक की कलम के चलने मे अन्तर होता है, वैसे ही हल के चलने मे भी अन्तर होता है।

---

*जैन-दर्शन में हिंसा के लिए 'आरभ' और अहिंसा के लिए 'अनारभ' शब्द का प्रयोग भी होता है।

संकल्पजा हिंसा नहीं है। जहाँ निरपराध की संकल्पजा हिंसा होगी वहाँ श्रावक की भूमिका स्थिर नहीं रहेगी। इसी कारण युद्ध में इतने मनुष्यों को मारने के बाद भी राजा चेटक का श्रावकत्व सुरक्षित रहा। और यदि वे संकल्प पूर्वक एक निरपराध क्षुद्र कीड़ा मार देते तो उनका श्रावकत्व खंड-खंड हो जाता।

यह हिंसा और अहिंसा का मार्मिक दृष्टिकोण है। इस पर गम्भीरता एवं निष्पक्षता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

खेती में महारंभ है इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया? समग्र जैन-साहित्य में 'फोडीकम्मे'* ही एक ऐसा शब्द है जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर हमें 'फोडीकम्मे' के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। 'फोडी' शब्द संस्कृत के 'स्फोट' शब्द से बना है जिसका अर्थ है धड़ाका होना। जब सुरंग खोदकर उसमें बारूद भरी जाती है और तदुपरान्त उसमें आग लगाई जाती है तो धड़ाका होता है और बड़ी से बड़ी चट्टान भी टुकड़े-टुकड़े होकर इधर उधर उछल कर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते हैं और जब उसमें

---

* जैन साहित्य में श्रावक के आचार का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रावक को पन्द्रह प्रकार के व्यापार या कर्म नहीं करने चाहिएं क्योंकि उनमें महाहिंसा होती है। शास्त्रीय भाषा में उन्हें कर्मादान कहते हैं। 'फोडी-कम्म' उनमें से एक है जिसे कुछ लोग आधुनिक खेती करना समझते हैं।

श्रावक ऐसी सकल्पी हिंसा नही कर सकता। किन्तु खेती-बाडी में जो हिंसा हो रही है, वह 'औद्योगिक हिंसा' है। हम सकल्पी और औद्योगिक हिंसा के भेद को यदि ठीक तरह समझ जाएँ तो बहुत-सी समस्याओ का निपटारा हो सकता है और अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं।

राजा चेटक और कोणिक मे भयकर सहारक युद्ध* हुआ था। कदाचित् कोणिक यह कहता कि अच्छा, हार और हाथी हल-विहल के पास रहने दें, मैं दोनो चीजें छोड सकता हूँ, परन्तु शर्त यह है कि तुम इस कीडे को मार दो, तो क्या राजा चेटक ऐसा करने के लिए तैयार हो जाते? जिस ऊपरी दृष्टि से साधारण लोग देखते हैं, यह सौदा महँगा नही, सस्ता ही था। लाखो मनुष्यो के बदले एक कीडे की जान लेने से ही फैसला हो जाता। कितनी हिंसा बच जाती? परन्तु नही, वहाँ कीडे और मनुष्य का प्रश्न नही हैं। वहाँ प्रश्न है 'सकल्पी' और 'विरोधी' हिंसा का। वहाँ न्याय और अन्याय का प्रश्न है। यदि सघर्ष और विरोध है तो वह चेटक और कोणिक के बीच है, उस बेचारे कीडे ने क्या गुनाह किया है कि उसकी जान ले ली जाए? कीडे को मारने मे सकल्पजा हिंसा है और वह भी निरपराध क्षुद्र जन्तु की। और उधर जहाँ लाखो मनुष्य मारे गए हैं, वहाँ

---

* मगधराज अजातशत्रु कोणिक के लघु बन्धु हल-विहल, बडे भाई के अत्याचार से पीडित होकर चेटक राजा की शरण में गए थे। कोणिक ने इस पर क्रुद्ध होकर वैशाली पर आक्रमण कर दिया, फलत चेटक को शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध करना पडा।

का अर्थ होता है—विलेखन'। 'कृष्' धातु कुरेदने के अर्थ मे ही आती है। क्या पाणिनि-व्याकरण और क्या शाकटायन व्याकरण सर्वत्र 'कृष्' धातु का अर्थ 'विलेखन' ही किया गया है।

अस्तु, अभिप्राय यह है कि जमीन का खोदना 'फोडीकम्मे' के अन्तर्गत नही है। 'फोडीकम्मे' का संस्कृत रूप 'स्फोट-कर्म' होता है और पूर्वोक्त प्रकार से यह स्पष्ट है कि जमीन मे हल चलाना न तो स्फोट करना है और न खोदना ही क्योंकि जमीन खोदते समय न तो धडाका किया जाता है, और न गड्ढे ही किये जाते हैं।

वास्तव मे 'स्फोट-कर्म' तब होता है जब सुरग खोदकर उसमे बारूद भरकर एवं आग लगाकर धडाका किया जाता है। पहाडो में खान खोदने का काम बहुत पुरातन युग से चला आ रहा है। हथौडो और साँबरो से विशालकाय पत्थर कहाँ तक तोडे जा सकते है? अस्तु, उनमे छेद करके बारूद भर दी जाती है और ऊपर से आग लगा दी जाती है। जब बारूद मे आग भडकती है तो चट्टानें टूट-टूटकर उछलती है। और जब वे उछलती हैं तो दूर-दूर तक के प्रदेश मे रहने वाले जानवर और इन्सान के भी कभी-कभी प्राण ले बैठती है। कितने ही निर्दोष भागियो के प्राण-पखेरू उड जाते हैं और कितने ही बुरी तरह घायल हो जाते हैं।

देहली की एक घटना है। एक बार हम शौच के लिए पहाड पर गए हुए थे। हम पहुँचे ही थे कि कुछ मजदूर दौड कर आए और बोले—महाराज भागिए, दौडिए। जब मैं विचार करने लगा तो उनमे से एक ने कहा— बाबा क्या

चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यही है कि बारूद के द्वारा धडाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है।

खेती करते समय विस्फोट नही होता। खेती मे बारूद भर कर आग नही लगाई जाती, न जमीन में कोई स्फोट ही होता है और न बारूद से जमीन जोती ही जाती है, वह तो हल से ही जोती जाती है। जोधपुर से एक सज्जन आए थे। उनके साथ एक बच्चा भी था, जो सातवी कक्षा में पढता था। उसने सातवी कक्षा का व्याकरण भी पढा था। मैंने उस बालक से प्रश्न किया—किसान खेत में हल चलाता है। इसके लिए जमीन को 'जोतना' कहा जायगा, या 'फोडना' कहा जायगा ? इन दोनो प्रयोगो मे से शुद्ध प्रयोग कौन-सा है ? उस बालक को भी 'जोतना' प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोडी नही जाती। हल से जमीन का फोडना तो दूर रहा, कभी-कभी तो जमीन खोदी भी नही जाती। खोदना तब कहलाता है, जब गहरा गड्डा किया जाए। हाँ, हल से जमीन कुरेदी जरूर जा सकती है।

व्याकरण का मुझे अच्छा ज्ञान है। दावा तो नही करता, परन्तु व्याकरण के पोछे कई वर्ष घुलाए अवश्य हैं। अत इस नाते मैं बोलने का साहस कर रहा हूँ और चुनौती के साथ कहता भी हूँ कि—फोडना, खोदना और कुरेदना अलग-अलग क्रियाएँ है। खोदना—फावडे या कुदाल से होता है, हल से फोडना या खोदना नही होता।

सस्कृत भाषा के 'कृषि' शब्द को ही ले लीजिए। कृषि

निरर्थक बातें लेकर बस पड़े हैं। जन-हित के लिए कुआ खुदवाना भी महारंभ माना जाता है और यदि कोई दूसरा लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारंभ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाए तो वह जनता के हित का कोई काम नहीं कर सकता क्योंकि महारंभ हो जाएगा। और जनता के सम्बन्ध में यदि वह कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मांस का पिण्ड ही माना जायगा। मनुष्य खुद तो दुनिया भर के भोग-विलास करता रहे किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करे, किमाश्चर्यमतः परम्!

अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म कोरे मिथ्या आदर्श या कल्पना पर चलने वाला धर्म नहीं है। यह तो पूर्णतः यथार्थवादी धर्म है। वह आदर्श को अपने सामने रखता अवश्य है पर उसकी दृष्टि सर्वत्र व्यवहार और वास्तविकता पर रहती है। उसने स्फोट-कर्म किसे बताया था और हम उसे क्या समझ बैठे हैं। जो लोग खेती कर रहे हैं उन्हें महारंभी कहने लगे। और कितने दुःख की बात है कि महारंभी कहकर उन्हें भी पशु-हिंसकों की प्रथम श्रेणी में रख दिया गया है। ऐसा करने वालों ने वास्तव में कितना गलत काम किया? वे समझते हैं कि हम कृषि की आजीविका को गर्हित ठहरा रहे हैं। पर वे वास्तव में कसाई खाने की आजीविका की भयानकता एवं गर्हितता को कम कर रहे हैं। पशु-वध और कृषि दोनों को महारंभ की एक ही कोटि में रखकर कितनी बड़ी भूल की है। काश कुछ सोचा तो होता।

सोचता है, क्या मरेगा ? क्या यही पर हत्या देगा ?' तव तो हमने भी पीछे को तेज कदम वढाए। मै कुछ ही कदम पीछे हटा था कि इतने मे ही वहाँ वारूद फटी, जोर का धडाका हुआ और उसके साथ ही पत्थर के वडे-वडे भीमकाय टुकडे उछलकर आ गिरे। मै जरा-सा वच गया, वर्ना वही जीवन-नाटक समाप्त हो जाता।

ऐसे स्फोटो से पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नही रहता है। कभी-कभी जोरदार धडाके से पहाड भी खिसक जाते हैं, और न जाने कितने मनुष्य दवकर मर जाते हैं, जिनका फिर कोई पता ही नही चलता। तो ऐसा स्फोट-कर्म महारभ है, महा-हिंसा है और मानव-हत्या का काम है।

मजदूर लोग काम करने के लिए सुरगो मे घुसते हैं और जव कभी गैस पैदा हो जाती है तो अन्दर ही अन्दर उनका दम घुट जाता है। अभी कुछ ही दिनो पहले हम खेतडी गाँव से गुजरे तो मालूम हुआ कि एक खान में आदमी दव गए हैं। वे वेचारे खान में काम कर रहे थे। पहाड धँसक गया और वे वही दवकर खत्म हो गए।

ऐसे कामो में पचेन्द्रिय की, और पचेन्द्रियो में भी मनुष्यो की हत्या का सम्वन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोट-कर्म को महान् हिंसा में गिना। श्रावक तो कदम कदम पर करुणा और दया की भावना को लेकर चलता है, अत उसे यह स्फोट-कर्म शोभा नही देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके वदले कुछ इधर-उधर की

निरर्थक बातें लेकर चल पड़े हैं। जन-हित के लिए कुआ खुदवाना भी महारम्भ माना जाता है और यदि कोई दूसरा लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारम्भ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन रा[illegible] हो जाए तो वह जनता के हित का कोई काम नहीं [illegible] सकता क्योंकि महारम्भ हो जाएगा। और जनता के सम्बन्ध में यदि वह कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से मिट्टी मास का पिण्ड ही माना जायगा। मनुष्य खुद तो जिन्दगी भर के भोग-विलास करता रहे किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करे, किमाश्चर्यमतः परम्!

अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म कोरे मिथ्या आदर्श की कल्पना पर चलने वाला धर्म नहीं है। यह तो पूर्णतः यथार्थवादी धर्म है। वह आदर्श को अपने सामने रखता अवश्य है पर उसकी दृष्टि सर्वत्र व्यवहार और वास्तविकता पर रहती है। उसने स्फोट-कर्म किसे बताया था और हम उसे भूलकर क्या समझ बैठे हैं। जो लोग खेती कर रहे हैं उन्हें महारम्भी कहने लगे। और कितने दुःख की बात है कि महारम्भी कहकर उन्हें भी पशु-हिंसकों की प्रथम श्रेणी में रख दिया गया है। ऐसा करने वाला मैं वास्तव में कितना गलत काम किया। वे समझते हैं कि हम कृषि की आजीविका को गर्हित ठहरा रहे हैं। पर वे वास्तव में कसाई खाने की आजीविका की भयानकता एवं गर्हितता को कम कर रहे हैं। पशु-वध और कृषि दोनों को महारम्भ की एक ही कोटि में रखकर किस बड़ी भूल की है। काश कुछ सोचा तो होता।

सोचता है, क्या मरेगा ? क्या यही पर हत्या देगा ?' तब तो हमने भी पीछे को तेज कदम बढाए। मैं कुछ ही कदम पीछे हटा था कि इतने मे ही वहाँ बारूद फटी, जोर का धडाका हुआ और उसके साथ ही पत्थर के बडे-बडे भीमकाय टुकडे उछलकर आ गिरे। मै जरा-सा बच गया, वर्ना वही जीवन-नाटक समाप्त हो जाता।

ऐसे स्फोटो से पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नही रहता है। कभी-कभी जोरदार धडाके से पहाड भी खिसक जाते हैं, और न जाने कितने मनुष्य दबकर मर जाते हैं, जिनका फिर कोई पता ही नही चलता। तो ऐसा स्फोट-कर्म महारभ है, महा-हिंसा है और मानव-हत्या का काम है।

मजदूर लोग काम करने के लिए सुरगो मे घुसते हैं और जब कभी गैस पैदा हो जाती है तो अन्दर ही अन्दर उनका दम घुट जाता है। अभी कुछ ही दिनो पहले हम खेतडी गाँव से गुजरे तो मालूम हुआ कि एक खान में आदमी दब गए हैं। वे बेचारे खान मे काम कर रहे थे। पहाड धँसक गया और वे वही दबकर खत्म हो गए।

ऐसे कामो मे पचेन्द्रिय की, और पचेन्द्रियो में भी मनुष्यो की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोट-कर्म को महान् हिंसा में गिना। श्रावक तो कदम कदम पर करुणा और दया की भावना को लेकर चलता है, अत उसे यह स्फोट-कर्म शोभा नही देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके बदले कुछ इधर-उधर की

न कोई बड़ा पाप।"

दो महीने बाद वही गृहस्थ एक दिन रोते हुए-से मेरे पास आए। पूछा—क्या हाल है ? उसने कहा—महाराज मर गया। किसी काम का न रहा। सारी पूंजी गँवा बैठा।

मैंने कहा— 'अरे तुम्हारा तो पूर्व पुण्य का उदय हुआ था और प्रासुक काम की शुरूआत हुई थी। न कोई हिंसा और न कोई पाप ! फिर बर्बाद कैसे हो गए।'"

हाँ तो जो असत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है उससे महा-हिंसा को उत्तेजना मिलती है। यह न करो वह न करो इस तरह उसे मर्यादित बाह्य जीवन से उखाड़ कर दूसरे सट्ट आदि के कुपथ पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है और न उधर का। वह बाह्य हिंसा के चक्र में उलझा हुआ यह नहीं समझ पाता कि सट्टे के पीछे कितनी अनैतिकता रही हुई है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम जैन-धर्म की वास्तविकता को समझें, साफ दिमाग रखकर समझें और फिर मन-मस्तिष्क पर कोहरे की तरह घनीभूत छाए हुए भ्रमों को दूर कर दें।

एक कसाई और एक कृपक जब यह सुनता है कि कसाई-खाना चलाना भी महारंभ है और कृषि भी महारंभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नही मिल सकती। वह कृपक की कोटि मे अपने आपको पाकर दुगुने उत्साह का अनुभव करेगा और सन्तोप मानेगा। यदि पशु-वध को त्याग देने का विचार उसके दिमाग मे उठ भी रहा होगा, तब भी वह न त्यागेगा। दूसरी ओर जब कृपक यह जानेगा कि उसकी आजीविका भी कसाई की आजीविका के समान है और जब उसे इस बात पर विश्वास भी हो जाएगा तब कौन कह सकता है कि कृषि जैसे श्रमसाध्य धन्धे को त्याग कर वह कसाईखाने की आजीविका को न अपना ले ?

कितने खेद की बात है कि इस प्रकार भ्राति मे पडकर और गलत विवेचनाएँ करके हमने भगवान् महावीर के उपदेशों की प्रतिष्ठा नही बढाई, बल्कि क्षुद्र स्वार्थो मे फँसकर घटाई ही है।

एक गृहस्थ देहली मे दर्शन करने आए। मैंने पूछा—कहिए, क्या बात हैं ? उसने कहा—"आपकी कृपा है, बडे आनन्द मे हूँ। महाराज, मैं पहले बहुत दुखी था। खेती का काम करता था तो महा-हिंसा का काम होता था। अब जमीन बेचकर चाँदी का सट्टा करता हूँ। बस, कोई झगडा-टटा नहीं है। न जाने, किस पाप-कर्म का उदय था कि खेती जैसे महापाप के काम मे फँसा था। अब पूर्व पुण्य का उदय हुआ तो उससे छुटकारा मिला है। अब सट्टे का धधा बिल्कुल प्रासुक (निर्दोप) धधा है। न कोई हिंसा है,

न कोई बड़ा पाप।"

दो महीने बाद वही गृहस्थ एक दिन रोते हुए-से मेरे पास आए। पूछा—क्या हाल है? उसने कहा—महाराज मर गया। किसी काम का न रहा। सारी पूंजी गँवा बैठा।

मैंने कहा—अरे तुम्हारा तो पूर्व पुण्य का उदय हुआ था और प्रासुक काम की मुस्मात हुई थी। न कोई हिंसा और न कोई पाप! फिर बर्बाद कैसे हो गए।"

हाँ तो जो गलत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है, उससे महा-हिंसा को उत्तेजना मिलती है। यह न करो वह न करो इस तरह उसे मर्यादित आजू जीवन से उखाड़ कर दूसरे सट्टे आदि के कूपथ पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है और न उधर का। वह भ्राता हिंसा के चक्र में उलझा हुआ यह नहीं समझ पाता कि सट्टे के पीछे कितनी अनैतिकता खड़ी हुई है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम जैन-धर्म की वास्तविकता को समझें, साफ दिमाग रखकर समझें और फिर मन-मस्तिष्क पर कोहरे की तरह घनीभूत छाए हुए भ्रमों को दूर कर दें।

—: ४ :—

आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म

जैन-धर्म की अहिंसा इतनी विराट है कि ज्यो-ज्यो उस पर विचार करते हैं, वह अधिकाधिक गम्भीर होती जाती है। जैन-धर्म ने सूक्ष्म अहिंसा के सम्बन्ध मे जितना विचार किया है, उतना ही विचार स्थूल अहिंसा के सम्बन्ध मे भी किया है। यह बात नही है कि वह निष्क्रिय होकर पडे रहने की सलाह दे और जब कर्त्तव्य की बात सामने आए, जीवन-व्यवहार में अहिंसा को उतारने का प्रसग चले, तो मौन हो जाए। यदि ऐसा होता तो जैन-धर्म आज दुनिया के सामने एक क्षण भी खडा नही रह सकता था। वह बालू रेत की दीवार के समान दूसरे धर्मों और मतो के मामूली झोंको से ही ढह जाता। परन्तु वह ऐसा निष्प्राण और निराधार नही है। वह, क्या गृहस्थ और क्या साधु, सभी कर्त्तव्यो का स्पष्ट रूप से निर्देश करता है। दुर्भाग्य से हमारे कुछ साथियो ने जैन-धर्म का वास्तविक और मौलिक स्वरूप भुला दिया है, फलत कुछ ने तो स्पष्ट 'हाँ' या 'ना' न कहकर एकमात्र मौन मृत्यु की ही राह पकड ली है। पर, इस तरह बच-बच कर बात करने से कब तक काम चलेगा ? यदि कोई गृहस्थ

विद्यालय अथवा औषधालय आदि खोलता है तो वह अपने इस काम के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहेगा ही कि वह जो कार्य कर रहा है वह धर्म है या पाप है ? गोल-मोल भाषा में कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना-खुलवाना अच्छा है। पर, सोचना तो यह है कि वह केवल लोक-भाषा में अच्छा है या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है ? हमें किसी स्पष्ट निर्णय पर आना ही पड़ेगा। केवल लोक-धर्म राष्ट्र-धर्म या गृहस्थ-धर्म कहने से अब काम नहीं चल सकेगा।

कोरे मौन धारण करने से भी अब काम नहीं चल सकता क्योंकि समय प्रगति-पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। जो व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र व्यापक दृष्टिकोण से समय की गति देख लेता है और अपने विकास-साधक कर्मों को समय के अनुकूल बना लेता है समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तरदाता मौन हो रहे तो इसका अर्थ नहीं समझा जाएगा कि कहीं कोई गड़बड़ है दाल में काला है और आप में कहीं न कहीं दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का मर्म कुल कर बाहर आना चाहता है। भला कब तक कोई उसे दबाए छिपाए रख सकता है।

इन सब उलझनों के कारण राजस्थान के एक पत्र ने तो स्पष्ट रूप से 'ना' कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—इन सांसारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।

मैं पूछता हूँ वे केवल आत्मा की ही बात करने वाले

— ४ —

आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म

जैन-धर्म की अहिंसा इतनी विराट है कि ज्यों-ज्यों उस पर विचार करते है, वह अधिकाधिक गम्भीर होती जाती है। जैन-धर्म ने सूक्ष्म अहिंसा के सम्बन्ध मे जितना विचार किया है, उतना ही विचार स्थूल अहिंसा के सम्बन्ध मे भी किया है। यह बात नही है कि वह निष्क्रिय होकर पडे रहने की सलाह दे और जब कर्त्तव्य की बात सामने आए, जीवन-व्यवहार में अहिंसा को उतारने का प्रसग चले, तो मौन हो जाए। यदि ऐसा होता तो जैन-धर्म आज दुनिया के सामने एक क्षण भी खडा नही रह सकता था। वह बालू रेत की दीवार के समान दूसरे धर्मो और मतो के मामूली झोंको से ही ढह जाता। परन्तु वह ऐसा निष्प्राण और निराधार नही है। वह, क्या गृहस्थ और क्या साधु, सभी कर्त्तव्यो का स्पष्ट रूप से निर्देश करता है। दुर्भाग्य से हमारे कुछ साथियो ने जैन-धर्म का वास्तविक और मौलिक स्वरूप भुला दिया है, फलत कुछ ने तो स्पष्ट 'हाँ' या 'ना' न कहकर एकमात्र मौन मृत्यु की ही राह पकड ली है। पर, इस तरह बच-बच कर बात करने से कब तक काम चलेगा? यदि कोई गृहस्थ

विद्यालय अथवा औषधालय आदि खोलता है तो वह अपने इस कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहेगा ही कि वह जो कार्य कर रहा है वह धर्म है या पाप है? जनसाधारण भाषा में कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना-खुलवाना अच्छा है। पर सोचना तो यह है कि वह केवल लोक-भाषा में अच्छा है या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है? हमें किसी स्पष्ट निर्णय पर आना ही पड़ेगा। केवल लोक-धर्म राष्ट्र-धर्म या गृहस्थ-धर्म कहने से अब काम नहीं चल सकेगा।

कोरे मौन धारण करने से भी अब काम नहीं चल सकता क्योंकि समय प्रगति-पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। जो व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र व्यापक दृष्टिकोण से समय की गति देख लेता है और अपने विकास-साधककर्मों को समय के अनुकूल बना लेता है समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तरदाता मौन हो रहे तो इसका अर्थ यही समझा जाएगा कि कहीं कोई गड़बड़ है दाल में काला है और आप में कहीं न कहीं दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का मर्मसर्म खुल कर बाहर आना चाहता है। भला कब तक कोई उसे दबाए-छिपाए रख सकता है।

इन सब उलझनों के कारण राजस्थान के एक पक्ष ने तो स्पष्ट रूप से 'ना' कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—इन सांसारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।

मैं पूछता हूँ वे केवल आत्मा की ही बात करने वाले

व्यक्ति भोजन क्यों करते हैं ? औषधालयो मे जा-जाकर दवाइयाँ क्यो लाते हैं ? चलते-फिरते क्यो हैं ? ये सब तो आत्मा की बाते नही हैं ! केवल आत्मा-सम्बन्धी बातें करने वालो को ससार से कोई सम्बन्ध ही नही रखना चाहिए । वे शहरो में क्यो रहते हैं ? जगल की हवा क्यो नही खाते ? लम्बे-लम्बे भाषण झाडकर श्रोताओ का मनोरंजन करने की उन्हे क्या आवश्यकता है ?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उदर-देव की पूर्ति तो सभी को करनी पडती है । ऐसा कभी नही हो सकता कि 'करेमि भते' का पाठ बोलते ही ; अर्थात्—साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे ।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चय ही करेगा । वह या तो खेती करेगा या कोई और व्यापार करेगा । भिक्षापात्र लेकर तो वह अपना जीवन निर्वाह कर नही सकता ! साधु-जीवन में भी आखिर भिक्षा-रूपी उद्योग करना ही पडता है । इस दृष्टि से साधु का जीवन भी एक प्रकार से उद्योग पर ही आश्रित है । अपनी भूमिका के अनुरूप प्रयत्न तो वहाँ भी करना पडता है । इस प्रकार गृहस्थ और साधु दोनो ही अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं । जैन-धर्म यदि साधुओ को भोजन बनाने का आदेश नहीं देता तो दूसरी ओर साधारण गृहस्थ को भिक्षा माँगकर निर्वाह करने का विधान भी नहीं करता । क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख

माँग कर लीधी रोटी खाना धर्म है और कर्तव्य समर में जूझकर रोटी खाना अधर्म है ? नहीं जैन-धर्म ऐसा कभी नहीं कहता। परन्तु हमारे अनेक भाइयो ने यह समझ लिया है कि भिक्षा माँग कर खाना 'धर्म' है और कर्त्तव्य करके जीवन निर्वाह करना 'पाप' है! परन्तु जो रोटी न्याय-नीतिपूर्वक पुरुषार्थ से और उत्पादन से प्राप्त की जाती है क्या वह पाप की रोटी है ?

जो लोग ऐसी रोटी को पाप की रोटी बतलाते हैं, उनके सम्बन्ध मे मै साहस-पूर्वक कहता हूँ कि उन्होंने जैन-शास्त्रों का अन्तस्तल छुआ तक नहीं है। वे नासमझी और सकुचित विचार-शृंखला में उलझे पड़े हैं। उनका कहना है कि गृहस्थ तो प्रवृत्ति मे पड़ा हुआ है इसलिए उसकी कमाई हुई रोटी पाप की रोटी है और यदि वह भिक्षा माँग कर लीधा खाता है तो प्रासुक होने से वह धर्म की रोटी है। परन्तु जैन-धर्म के आचार्यों ने हाथ पर हाथ धरकर निष्क्रिय बैठे रहने वाले परश्रमोपजीवी गृहस्थों को भिक्षा से निर्वाह करने का अधिकार कब और कहाँ दिया है ? ऐसे सामान्य गृहस्थों के लिए भिक्षा का विधान ही कहाँ है ? जो हट्ट कट्ट होकर भी दूसरो के श्रम के सहारे माल उड़ाते हैं और भिक्षा करके सुखी जीवन बिताते हैं उनकी भिक्षा को हमारे यहाँ 'पौरुषघ्नी' भिक्षा बतलाया गया है*। सामान्य गृहस्थ की भूमिका श्रम करने की है भिक्षा माँग कर खाने की नहीं।

---

* देखिए, आचार्य हरिभद्र का भिक्षाष्टक

व्यक्ति भोजन क्यों करते हैं? औषधालयो में जा-जाकर दवाइयाँ क्यो लाते हैं? चलते-फिरते क्यो हैं? ये सब तो आत्मा की बातें नही हैं। केवल आत्मा-सम्बन्धी बाते करने वालो को ससार से कोई सम्बन्ध ही नही रखना चाहिए। वे शहरो में क्यो रहते हैं? जगल की हवा क्यो नही खाते? लम्बे-लम्बे भाषण झाडकर श्रोताओ का मनोरजन करने की उन्हें क्या आवश्यकता है?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उदर-देव की पूर्ति तो सभी को करनी पडती है। ऐसा कभी नही हो सकता कि 'करेमि भते' का पाठ बोलते ही, अर्थात्—साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चय ही करेगा। वह या तो खेती करेगा या कोई और व्यापार करेगा। भिक्षापात्र लेकर तो वह अपना जीवन निर्वाह कर नहीं सकता। साधु-जीवन में भी आखिर भिक्षा-रूपी उद्योग करना ही पडता है। इस दृष्टि से साधु का जीवन भी एक प्रकार से उद्योग पर ही आश्रित है। अपनी भूमिका के अनुरूप प्रयत्न तो वहाँ भी करना पडता है। इस प्रकार गृहस्थ और साधु दोनो ही अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। जैन-धर्म यदि साधुओ को भोजन बनाने का आदेश नही देता तो दूसरी ओर साधारण गृहस्थ को भिक्षा माँगकर निर्वाह करने का विधान भी नही करता। क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख

तो पहले ही क्यों नहीं छोड़ दिया ? क्या पहले राज्य में आसक्ति की प्रधानता थी ? या उनमें छोड़ने की ताकत नहीं थी ? या उन्हें धर्म-निष्ठ जीवन की वास्तविकता ज्ञात नहीं थी ? नहीं यह सब कुछ नहीं था। तब तक केवल काम सम्बि परिपक्व नहीं हुई थी इसलिए पहले नहीं छोड़ा गया।

वृक्ष में फल लगता है। परन्तु जब तक वह कच्चा रहता है तब तक डंठल से बँधा रहता है—झड़ता नहीं है। जब वह पक जाता है तो अपने आप टूटकर गिर जाता है उसे बलात् तोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

त्याग भी दो तरह से होता है। एक त्याग हठ-पूर्वक होता है जो किसी आवेश में आकर किया जाता है। परन्तु उसमें त्यागी हुई वस्तु से सूक्ष्म रूप में सम्बन्ध बना रहता है। ऐसे त्याग से पतन की सम्भावना बनी रहती है। दूसरा त्याग सहज-त्याग है जो समुचित भूमिका आने पर अपने आप हो जाता है। दार्शनिक भाषा में हम इसे 'छूट जाना' कह सकते हैं छोड़ना' नहीं।

आपने आर्द्रकुमार की कथा पढ़ी है ? आर्द्रकुमार जब दीक्षित होने लगे तो आकाशवाणी होती है— अभी तुम्हारा भोगावली कर्म पूरा नहीं हुआ है। अभी भोग का समय बाकी है अतः समय आने पर संयम लेना।" परन्तु आर्द्रकुमार ने आकाशवाणी की उपेक्षा की और गर्वोद्धुर भाव से कहा— "क्या चीज होते हैं कर्म ! मैं उन्हें नष्ट कर दूँ या तोड़ डालूँगा। और उन्होंने हठात् दीक्षा ले ली। तदुपरान्त वे साधना के पथ पर चल पड़े। वास्तव में वे बड़े ही तपस्वी थे। साधना की

इस प्रकार जीवन तो चाहे साधु का हो या गृहस्थ का, प्रवृत्ति के बिना चल नही सकता। इतना ही नही, प्रवृत्ति के बिना संसार मे क्षण भर भी नही रहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे गीताकार कितनी आदर्शपूर्ण बात कहते हैं—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

अर्थात्—कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी कर्म किए बिना नही रह सकता।

यदि सारा ससार भिक्षा-पात्र लेकर निकल पडे तो रोटियाँ आएँगी भी कहाँ से ? क्या रोटियाँ आकाश से बरसने लगेंगी ? कोई देव आकाश से रोटियाँ नही बरसाएगा। उनके लिए तो यथोचित प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना ही पडेगा। प्रवृत्ति को कोई छोड ही नही सकता, वह तो सहज भूमिका आने पर और काल-लब्धि* पूरी हो जाने पर, स्वत ही छूट जाएगी। जब प्रवृत्ति छूटने का दिन आएगा, तब वह अपने आप छूटेगी।

भगवान् शान्तिनाथ आदि ने चक्रवर्ती राज्य को स्वय छोडा, या भोग्य कर्म समाप्त होने पर वह यथासमय अनायास ही छूट गया ?

आपको यह तो मानना ही पडेगा कि छोडने की भूमिका आने पर ही वह छोडा गया। जब तक छोडने की भूमिका नही आती, तब तक छोडा नही जाता। यदि छोडना ही था

---

* जैन-धम में काल-लब्धि का अर्थ है—"किसी भी स्थिति परिवतन के योग्य समय का पूर्ण हो जाना। स्थिति-परिवर्तन में स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि अनेक हेतु हैं, उनमें काल भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।"

तो पहले ही क्यों नहीं छोड़ दिया ? क्या पहले राज्य मे आसक्ति की प्रधानता थी ? या उसमें छोड़ने की ताकत नहीं थी ? या उन्हें धर्म-निष्ठ जीवन की वास्तविकता ज्ञात नहीं थी ? नहीं यह सब कुछ नहीं था । तब तक केवल काल लब्धि परिपक्व नहीं हुई थी इसलिए पहले नहीं छोड़ा गया ।

वृक्ष मे फल लगता है । परन्तु जब तक वह कच्चा रहता है तब तक डण्ठल से बँधा रहता है—झड़ता नहीं है । जब वह पक जाता है तो अपने आप टूटकर गिर जाता है उसे बलात् तोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती ।

त्याग भी दो तरह से होता है । एक त्याग हठ-पूर्वक होता है जो किसी आवेश में आकर किया जाता है । परन्तु उसमें त्यागी हुई वस्तु से सूक्ष्म रूप में सम्बन्ध बना रहता है । ऐसे त्याग से पतन की सम्भावना बनी रहती है । दूसरा त्याग सहज-त्याग है जो समुचित भूमिका आने पर अपने आप हो जाता है । दार्शनिक भाषा मे हम इसे 'छूट जाना' कह सकते हैं 'छोड़ना' नहीं ।

आपने आर्द्रकुमार की कथा पढ़ी है ? आर्द्रकुमार जब दीक्षित होने लगे तो आकाशवाणी होती है— अभी तुम्हारा भोगावली कर्म पूरा नहीं हुआ है । अभी भोग का समय बाकी है अत समय आने पर संयम लेना । परन्तु आर्द्रकुमार ने आकाशवाणी की उपेक्षा की और गर्वोद्धुर भाव से कहा— 'क्या चीज होते है कर्म ! मैं उन्हे नष्ट कर दूँगा तोड डालूँगा । और उन्होने हठात् दीक्षा ले ली । तदुपरान्त वे साधना के पथ पर चल पड़े । वास्तव मे वे बड़े ही तपस्वी थे । साधना की

भट्टी मे उन्होंने अपने शरीर को झोंक दिया और समझने लगे कि आकाशवाणी झूठी हो जाएगी। किन्तु भोग का निमित्त मिलते ही उन्हे वापिस लौटना पडा। वे फिर उसी गृहस्थ दशा के स्तर पर वापिस आ गए और 'पुनर्मूषिको भव' वाली गति हुई। आर्द्रकुमार के अन्तर्जीवन में से भोग-वासना की दुर्बलता समाप्त नही हुई थी। वह हठात् ग्रहण किए गए सयम के आवरण मे छिप अवश्य गई थी, किन्तु समय आते ही वह पुन प्रकट हुई और उन्हे सयम से पतित होकर फिर पहले की स्थिति में आना पडा।

पहली कक्षा के विद्यार्थी को जब तीसरी कक्षा मे ले लिया जाता है तो वह उसके भार को सँभाल नही सकता। यही कारण है कि स्कूलो मे जब कोई विद्यार्थी किसी कक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाता है तो उसे उसी कक्षा मे रखा जाता है। उसके लिए यही उपाय विकास का माध्यम है।

इस प्रकार यदि गृहस्थी को छोडा जाय तो फल पकने पर, अर्थात्—परिपक्व स्थिति मे ही छोडा जाय। ऐसा न हो कि कर्त्तव्य के दायित्व से घबराकर भाग खडे हो और ऊपर की ओर व्यर्थ ही छलागे मारने लगें।

हमारे यहाँ साधु-जीवन निस्सन्देह ऊँचा है और उसके प्रति धर्मनिष्ठ लोगो मे श्रद्धा भी है। पर, जो साधक गलत और अधूरी साधना करके ही आगे बढ़ जाते हैं, वे साधु-वेष लेकर भी फिसल जाते हैं और सहज-भाव मे नही रहते। साधु का जीवन तो सहज-भाव मे ही बहना चाहिए। अत जैन-धर्म किसी वस्तु को हठाग्रह-पूर्वक छोडने की अपेक्षा आत्म-भाव की

के उथला साथ सहज रूप से छूट जाने को ही अधिक महत्त्व देता है।

दुर्भाग्य से आज का श्रावक साधु की भूमिका की ओर दौड़ता है और साधु, गृहस्थ की भूमिका की ओर। जिसे प्रथम कक्षा मिली है वह एम० ए की कक्षा मे प्रवेश करने के लिए भागता है और जिसे एम ए की कक्षा मिली है वह पहली कक्षा मे बैठने का प्रयत्न करता है।

यदि किसी बीमार को स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक भोजन दे दिया जाए तो वह कैसे पचा सकता है? ऐसा करने पर तो उसकी शक्ति का पूर्वपेक्षया अधिक ह्रास ही होगा। इसी प्रकार किसी स्वस्थ आदमी को यदि बीमार का खाना दे दिया जाए तो उसे क्या लाभ होगा? वह भूखा रहकर थोड़े ही दिनो मे दुर्बल हो जाएगा।

इस तरह आज हमारे यहाँ सारी बातें परिवर्तित-सी दिखलाई पड़ती है। इसका मुख्य कारण 'अज्ञान' है। अज्ञान से ही यह नारा लगने लगा कि—'यह सब ससार है पाप है, अज्ञान मे पड़ना है!' कहा जाने लगा—'पहली कक्षा तो मूर्ख रहने की है! यहाँ क्या ज्ञान मिलेगा? ऐसे नारे सुन सुनकर सम्भ्रान्त व्यक्ति भी इस ससार (गृहस्थ जीवन) की कक्षा से खिसकने लगे। वे जल्दी से जल्दी निकल भागने की कोशिश करने लगे। यदि उस प्रथम कक्षा वाले से यह कहा जाता कि तुमने भी प्रगति की है तुम्हारे भीतर भी हक्किलाव था रहा है तुम भी ठीक राह पर हो तुमने भी कुछ न कुछ ज्ञान पा लिया है खोया नहीं है। यदि इस तरह धीरे-धीरे विकास करते रहे तो एक दिन तुम अवश्य उच्च

भट्टी मे उन्होंने अपने शरीर को झोंक दिया और समझने लगे कि आकाशवाणी झूठी हो जाएगी। किन्तु भोग का निमित्त मिलते ही उन्हे वापिस लौटना पडा। वे फिर उसी गृहस्थ दशा के स्तर पर वापिस आ गए और 'पुनर्मूषिको भव' वाली गति हुई। आर्द्रकुमार के अन्तर्जीवन में से भोग-वासना की दुर्बलता समाप्त नही हुई थी। वह हठात् ग्रहण किए गए सयम के आवरण मे छिप अवश्य गई थी, किन्तु समय आते ही वह पुन प्रकट हुई और उन्हे सयम से पतित होकर फिर पहले की स्थिति मे आना पडा।

पहली कक्षा के विद्यार्थी को जब तीसरी कक्षा में ले लिया जाता है तो वह उसके भार को सँभाल नही सकता। यही कारण है कि स्कूलो में जब कोई विद्यार्थी किसी कक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है तो उसे उसी कक्षा मे रखा जाता है। उसके लिए यही उपाय विकास का माध्यम है।

इस प्रकार यदि गृहस्थी को छोडा जाय तो फल पकने पर, अर्थात्—परिपक्व स्थिति में ही छोडा जाय। ऐसा न हो कि कर्त्तव्य के दायित्व से घबराकर भाग खडे हो और ऊपर की ओर व्यर्थ ही छलागे मारने लगें।

हमारे यहाँ साधु-जीवन निस्सन्देह ऊँचा है और उसके प्रति धर्मनिष्ठ लोगो मे श्रद्धा भी है। पर, जो साधक गलत और अधूरी साधना करके ही आगे बढ़ जाते हैं, वे साधु-वेष लेकर भी फिसल जाते हैं और सहज-भाव मे नही रहते। साधु का जीवन तो सहज-भाव मे ही बहना चाहिए। अत जैन-धर्म किसी वस्तु को हठाग्रह-पूर्वक छोडने की अपेक्षा आत्म-भाव की

के उपरान्त साथ सहज रूप से छूट जाने को ही अधिक महत्त्व देता है।

दुर्भाग्य से आज का श्रावक साधु की भूमिका की ओर दौड़ता है और साधु, गृहस्थ की भूमिका की ओर। जिसे प्रथम कक्षा मिली है वह एम ए की कक्षा मे प्रवेश करने के लिए भागता है और जिसे एम ए की कक्षा मिली है वह पहली कक्षा मे बैठने का प्रयत्न करता है।

यदि किसी बीमार को स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक भोजन दे दिया जाए तो वह कैसे पचा सकता है ? ऐसा करने पर तो उसकी शक्ति का पूर्वापेक्षया अधिक ह्रास ही होगा। इसी प्रकार किसी स्वस्थ आदमी को यदि बीमार का खाना दे दिया जाए तो उसे क्या लाभ होगा ? वह भूखा रहकर थोड़े ही दिनो मे दुर्बल हो जाएगा।

इस तरह आज हमारे यहाँ सारी बाते परिवर्तित-सी दिखलाई पड़ती हैं। इसका मुख्य कारण 'अज्ञान' है। अज्ञान से ही यह मारा जाने लगा कि—यह सब ससार है पाप है अज्ञान मे पड़ना है ! कहा जाने लगा—'पहली कक्षा तो मूर्ख रहने की है ! यहाँ क्या ज्ञान मिलेगा ? ऐसे नारे सुन सुनकर सम्भ्रान्त व्यक्ति भी इस ससार (गृहस्थ जीवन) की कक्षा से खिसकने लगे। वे जल्दी से जल्दी निकल भागने की कोशिश करने लगे। यदि उस प्रथम कक्षा वाले से यह कहा जाता कि तुममे भी क्रान्ति की है तुम्हारे भीतर भी इन्किलाब आ रहा है तुम भी ठीक राह पर हो तुमने भी कुछ न कुछ ज्ञान पा लिया है, खोया नही है। यदि इस तरह धीरे-धीरे विकास करते रहे तो एक दिन तुम अवश्य सम्य

कोटि के विद्वान् वन जाओगे। इस प्रकार प्रथम कक्षा वाले को भी अपनी कक्षा मे रम आता। उसे भी अपने जीवन का कुछ आनन्द आए विना नही रहता।

पर, हमारे कुछ साधको ने भ्रान्त विचार-शृ खलाओ मे फँसकर और सत्यमार्ग से विचलित होकर जोरो के साथ यह वात फैला दी कि—पुत्र-पुत्रियो द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह ससारी काम है। इसमे धर्म का अश भी नही है। इस प्रकार की वाते कह-कहकर उन्होंने गृहस्थ का मन गृहस्थ-धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है। फलत गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खडा होता है। दोनो ओर से रह जाता है। न तो वह गृहस्थ धर्म का ही पूरी तरह पालन कर सकता है, और न साधु-जीवन के रस का ही पूरा आस्वादन कर पाता है। उसके विषय में यह उक्ति चरितार्थ होती है —

"हलवा मिले न मांडे, दोई दीन से गये पाडे।"

एक पाडेजी घर-वार छोडकर सन्यासी वने थे। यह सोचकर कि घर की रूखी-सूखी रोटियो से पीछा छूट जायगा और हलुवा-पूरी खाने को मिलेगा। पर, उन्हे वहाँ रूखी-सूखी रोटियाँ भी ठीक समय पर न मिली। "चौवेजी वनने चले थे छव्वे जी, रह गए दुव्वे जी।"

आज गृहस्थ-जीवन की पगडडियो पर चलने वालो ने अपना मार्ग अत्यन्त सकीर्ण वना लिया है। वे समझ वैठे हैं कि जो काम साधु करे, उसी मे धर्म है, और जो काम साधु न करे, उसमे पाप के सिवाय और कुछ नही है।

बहुतेरे लोगों के दिमाग में ऐसी भ्रान्त धारणा बैठ गई है। इसीलिए उनका विश्वास हो गया है कि रोटियाँ खाई तो जाएँ, पर उनके लिए कमाई न की जाए कपड़ा पहना तो जाए, पर बुना न जाए पति-पत्नी बना तो जाए, परन्तु एक-दूसरे की सेवा न की जाए माता का पद तो लिया जाए, पर माता का काम न किया जाए, पिता बनने में सौभाग्य समझते हैं परन्तु पिता के दायित्व से बचना चाहते हैं।

इन भ्रमपूर्ण धारणाओं ने आज गृहस्थ-जीवन को विकृत कर दिया है। आखिर यह उलटी गाड़ी कब तक चलेगी? क्या जैन-धर्म ऐसी ही उलटी गाड़ी चलाने का आदेश देता है? वह यह कहाँ कहता है कि जो कुछ तुम बनना चाहते हो उसके दायित्व से बचने की कोशिश करो।

जैन-धर्म जीवन की आवश्यक प्रवृत्तियों को एकान्ततः बन्द करने के लिए नहीं आया है। वह इस सम्बन्ध में एक सुन्दर सन्देश देता है जो सर्वतोभावेन अभिनन्दनीय है।

खेती-बाड़ी व्यापार-वाणिज्य आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं उन सबको बन्द करके चलोगे तो एक दिन भी टिक नहीं सकोगे। यही नहीं अकर्मण्य होकर, आलसियों की पंक्ति में बैठ जाने मात्र से ही तुम प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं पा सकते। तुम्हारा मन जो कि प्रवृत्तियों का मूल स्रोत है अपनी उधेड़-बुन में निरन्तर लगा ही रहेगा। उसकी दुकान-दारी कभी बन्द न होगी। उसे कहाँ से लाकर बिठाओगे और किस कोने में छिपाओगे? ऐसी स्थिति में जैन-धर्म

कोटि के विद्वान् वन जाओगे । इस प्रकार प्रथम कक्षा वाले को भी अपनी कक्षा मे रस आता । उसे भी अपने जीवन का कुछ आनन्द आए बिना नही रहता ।

पर, हमारे कुछ साधको ने भ्रान्त विचार-शृ खलाओ मे फँसकर और सत्यमार्ग से विचलित होकर जोरो के साथ यह वात फैला दी कि—पुत्र-पुत्रियो द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह ससारी काम है । इसमे धर्म का अश भी नही है । इस प्रकार की वातें कह-कहकर उन्होने गृहस्थ का मन गृहस्थ धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है । फलत गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खडा होता है । दोनो ओर से रह जाता है । न तो वह गृहस्थ धर्म का ही पूरी तरह पालन कर सकता है, और न साधु-जीवन के रस का ही पूरा आस्वादन कर पाता है । उसके विषय मे यह उक्ति चरितार्थ होती है —

"हलआ मिले न माडे, दोई दीन से गये पाडे ।"

एक पाडेजी घर-वार छोडकर सन्यासी वने थे । यह सोचकर कि घर की रूखी-सूखी रोटियो से पीछा छूट जायगा और हलुवा-पूरी खाने को मिलेगा । पर, उन्हें वहाँ रूखी-सूखी रोटियाँ भी ठीक समय पर न मिली । "चौवेजी वनने चले थे छब्बे जी, रह गए दुब्बे जी ।"

आज गृहस्थ-जीवन की पगडडियो पर चलने वालो ने अपना मार्ग अत्यन्त सकीर्ण वना लिया है । वे समझ बैठे हैं कि जो काम साधु करे, उसी मे धर्म है , और जो काम साधु न करे, उसमें पाप के सिवाय और कुछ नही है ।

जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म की एक ही व्याख्या करता है अर्थात्—विवेकपूर्वक न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म आर्य-कर्म है और अन्याय से अनीति से छल-कपट से एवं दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म 'अनार्य-कर्म' है।

उदाहरणार्थ एक दुकानदार है। उसकी दुकान पर चाहे बच्चा आए चाहे जिन्दगी के किनारे लगा हुआ बूढ़ा आए चाहे कोई भोली भाली ग्रामीण बहिन आ जाए, यदि वह सभी को ईमानदारी के साथ सौदा देता है और अपना उचित मुनाफा रखकर सब का बराबर तोलता है तो वह आर्य-कर्म की राह पर है। इसके विपरीत यदि दूसरा दुकानदार सभी को मूंडने की कोशिश करता है दूसरों का गला काटना प्रारम्भ कर देता है नमूना कुछ और दिखाता है किन्तु देता कुछ और है तो वह अनार्य-कर्म की पगडंडी पर है।

अध्यापक का कर्तव्य है—बच्चों को सत् शिक्षा देकर उनका चरित्र निर्माण करना तथा विकास मार्ग पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह अपने कर्तव्य के प्रति लापरवाह रहता है विद्यार्थी पढ़ें या न पढ़ें इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं है और थोड़ी-सी भूल होते ही वह विद्यार्थी पर बेंत बरसाता है तो वह अनार्य-कर्म की राह पर है। यदि कोई अध्यापक अपने काम में पूर्ण विवेक रखता है अपनी जवाबदेही भली भाँति समझता है और उसे पूरी भी करता है तो उसका वह कर्म अमृत-कर्म होगा वह उसका शुद्ध यज्ञ कहलाएगा। अन्याय अनीति अविवेक और अज्ञान

कहता है—प्रवृत्तियाँ भले ही हो, पर उनमे जो विप का पुट है, उसे हटा दीजिए। उनके पीछे क्षुद्र स्वार्थ एव आसक्ति की जो विपाक्त भावनाएँ हैं उन्हे धक्का देकर वाहर निकाल दीजिए। यदि तुम दुकान पर वैठे हो तो अन्याय से धन न वटोरो, किसी गरीव का खून मत चूसो, दूसरो को मूँडने की ही दुर्वृत्ति मत रखो। तुम्हारी प्रवृत्ति मे से यदि अनीति और धोखाधडी का विष निकल जाएगा, तो वह तुम्हारे जीवन की प्रगति मे वाधक नही वनेगा, अपितु विकास की नई प्रेरणा प्रदान करेगा।

खेती-वाडी करने वाले को भी जैन-धर्म यही कहता है कि यदि तुम खेती करते हो तो उसमे अन्धाधुन्धी से प्रवृत्ति मत करो। खेती की प्रवृत्ति मे से अज्ञान और अविवेक का जहर निकाल दो। अपने उत्पादन किये अन्न को ऊँचे दामो मे बेचने के लिए दुर्भिक्ष पडने की गन्दी कामना न करो, बल्कि दूसरो के जीवन-निर्वाह में सहायक बनने की करुणा-मयी पवित्र भावना रखो। वस, वही खेती आर्य-कर्म कहलाएगी। पवित्र एव करुणामयी भावना के अनुरूप कुछ अश में पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी कार्य मे हाथ डाले, यदि उसके पास विवेक का दिव्य-प्रकाश है तो उसके लिए वह आर्य-कर्म होगा। इसके विपरीत यदि असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से कोई कार्य किया जाएगा, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर को सफाई करने का ही साधारण काम क्यो न हो, तो वह अनार्य-कर्म होगा।

जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म की एक ही व्याख्या करता है अर्थात्—विवेकपूर्वक न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म आर्य-कर्म है और अन्याय से अनीति से छल-कपट से एवं दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म अनार्य-कर्म' है।

उदाहरणार्थ एक दुकानदार है। उसकी दुकान पर चाहे बच्चा आए चाहे जिन्दगी के किनारे लगा हुआ बूढ़ा आए, चाहे कोई भोली-भाली ग्रामीण महिला आ जाए, यदि वह सभी को ईमानदारी के साथ सौदा देता है और अपना उचित मुनाफा रखकर सब का बराबर तोलता है तो वह आर्य कर्म की राह पर है। इसके विपरीत यदि दूसरा दुकानदार सभी को मूंडने की कोशिश करता है दूसरों का गला काटना प्रारम्भ कर देता है नमूना कुछ और दिखाता है किन्तु देता कुछ और है तो वह अनार्य-कर्म की पगडंडी पर है।

अध्यापक का कर्तव्य है—बच्चों को सत् शिक्षा देकर उनका चरित्र निर्माण करना तथा विकास मार्ग पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह अपने कर्तव्य के प्रति लापरवाह रहता है विद्यार्थी पढ़ें या न पढ़ें इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं है और थोड़ी-सी भूल होते ही वह विद्यार्थी पर बेंत बरसाता है तो वह अनार्य-कर्म की राह पर है। यदि कोई अध्यापक अपने काम में पूर्ण विवेक रखता है अपनी जवाबदेही भली भाँति समझता है और उसे पूरी भी करता है तो उसका वह कर्म आर्य कर्म होगा वह उसका शुद्ध यज्ञ कहलाएगा। अन्याय अनीति अविवेक और अज्ञान

को निकाल कर जो कर्त्तव्य या कर्म किया जाता है, वही आर्य-कर्म है ।

जैन-धर्म से पूछा गया—आस्रव का काम कौन-सा है और सवर का काम कौन-सा है ? अर्थात् ससार का मार्ग क्या है और मोक्ष का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचाराग सूत्र में बडे ही सुन्दर ढग से दिया गया है —

'जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा ।'

अर्थात्—"जिस प्रवृत्ति से आस्रव होता है, जो कर्मों के आगमन का हेतु है, उस प्रवृत्ति मे यदि विवेक का रस डाला गया है, अज्ञान को निकाल दिया गया है, न्याय-नीति और सयम की तन्मयता उसके पीछे रखी गई है, तो वही प्रवृत्ति सवर का हेतु बन जाती है । इसके विपरीत सामायिक दया, पौषध आदि जो प्रवृत्तियाँ सवर का कारण हैं, यदि उनमे विवेक नही है, ज्ञान की सुगन्ध नही है, सावधानी नही है, तो वे ही प्रवृत्ति 'आस्रव' का कारण बन जाती हैं । श्रावक एव साधु बन जाना सवर है, किन्तु कर्त्तव्य की पवित्र भावना यदि न रही, सदसत् का विवेक न रखा गया, तो वह ऊपर से दिखाई देने वाला सवर भी आस्रव है । वह रग-रोगन किया हुआ कागज का फूल है, जिसकी कलियो मे प्रेम, शील आदि सद्गुणो की सुवास नही है ।

यह है 'आस्रव' और 'सवर' के विषय मे जैन-धर्म का स्पष्ट दृष्टिकोण ! यह है 'आस्रव' और 'सवर' को नापने का जैन-धर्म का विशाल गज ! जिस धर्म ने इतना महान् मगल-सूत्र सिखाया हो, उसके अनुयायी वर्ग मे जब हम धर्म के प्रति

सकुचित और गलत दृष्टिकोण पाते हैं तो हमारे मन में निराशा की लहर उठने लगती है। हम सोचते हैं कि जब जैन-धर्म ने अपने साधकों को मार्ग खोजने के लिए प्रकाश मान रत्न दे दिया है फिर तो यह उन साधकों की ही अपनी गलती है जो ऐसा अमूल्य रत्न पाकर भी अन्ध श्रद्धा की दीवार में सिर टकराएँ और व्यर्थ का वितण्डावाद बढाएँ। सचमुच जैन धर्म ने 'आस्रव और सवर' के कार्यों की लम्बी सूची नहीं बनाई है सूची पूरी बनाई भी नहीं जा सकती। उसने थोडे से भेद गिनाकर उनके बाद विराम नहीं लगा दिया है। धार्म-अधार्म कर्मों के सम्बन्ध में भी उसने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य गिनाकर ही समाप्ति की घोषणा नहीं कर दी है। उसने तो 'जे यावन्ने तहप्पगारा' लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि—इस प्रकार के जो भी अन्य कार्य हैं वे सभी धार्म-कर्म हैं। इसी प्रकार 'आस्रव' और सवर के विषय में भी उसने कहा है— विवेकी पुरुष आस्रव में भी सवर की स्थिति प्राप्त कर सकता है और अविवेकी पुरुष सवर के कार्य में भी आस्रव ग्रहण कर लेता है। देखिए यह दृष्टिकोण कितना व्यापक एव शाश्वत है।

सामान्यतया कहा जा सकता है कि खेती धार्य कर्म है, इस विषय में प्रमाण क्या है? सबसे पहले मैं यही कहूँगा कि प्रश्नकार का विवेक ही प्रमाण है उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण हैं। सबसे बडा प्रमाण मनुष्य का अपना अनुभव ही है। क्या तीर्थंकर किसी बात के निर्णय

के लिए किसी ग्रथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते हैं ? नही, क्योकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते हैं। उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि❀ 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर ।"

अर्थात्—'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय।"

❀ वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

अर्थात्—'साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।

वस्तुत जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अत खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-युक्त अन्त करण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहाता है अन्न उत्पन्न करके ससार को देता है अपना सारा समय परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वय आर्य-कर्मी होने का दावा करें भला इस निरा धार बात का किसी भी विवेकशील का अन्त करण क्या स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज लेकर जरा अपने को नाप-तौल कर देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणो की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना मे व्यतीत करता है जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है वह अपनी मानव आयु समाप्त करके देवलोक मे जाता है। देवलोक के जीवन

के लिए किसी ग्रथ, शास्त्र या महापुरुप के किसी वाक्य को खोजते फिरते हैं ? नही, क्योकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते हैं। उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि* 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के विना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर ।"

अर्थात्–'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय ।"

---

* यह सवदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानत पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

अर्थात्—"साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।"

वस्तुत जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अत कृषि आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्त करण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहाता है अन्न उत्पन्न करके ससार को देता है अपना सारा समय परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वय आर्य-कर्मी होने का दावा करे क्या इस निरा धार बात को किसी भी विवेकशील का अन्त करण कभी स्वीकार कर सकता है? आप बुद्धि का गज डालकर जरा अपने को नाप-तोल कर देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति मे अनार्य-कर्म हो सकती है?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणो की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नही है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है जो सर्वत्र सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है वह अपनी मानव आयु समाप्त करके देवलोक मे जाता है। देवलोक के जीवन

के लिए किसी ग्रथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते है ? नही, क्योंकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते हैं। उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। मै तो यहाँ तक कहता हूँ कि* 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर ।"

अर्थात्—'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय।"

* वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

अर्थात्— 'साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।

वस्तुतः जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-युक्त अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहाता है अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है अपना सारा समय परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वयं आर्य-कर्मी होने का दावा करें भला इस निराधार बात को किसी भी विवेकशील का अन्तःकरण कब स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज डालकर जरा अपने को नाप-तौल कर देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणों की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है वह अपनी मानव आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन

के लिए किसी ग्रंथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते है ? नही, क्योंकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड जाते है। उन्हे किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नही होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कही भी भटकने की आवश्यकता नही है। जिसकी दृष्टि यदि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वय कर सकता है। मै तो यहाँ तक कहता हूँ कि* 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योंकि वही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और अन्तत आत्मा को केवल-ज्ञान का प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बाते करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नही आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है —

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर।"

अर्थात्—'जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नही।'

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है —

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्त तत्त विणिच्छिय।"

---

* वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

अर्थात्—"साधक की सहज बुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।

वस्तुतः जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं, और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहाता है अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है अपना सारा समय परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को यदि आप अनार्य-कर्मी कहें और उस अन्न को खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप स्वयं आर्य-कर्मी होने का दावा करें भला इस निरा-धार बात को किसी भी विवेकशील का अन्तःकरण क्या स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज डालकर जरा अपने को नाप-तौल कर देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणों की भी यदि आवश्यकता है तो उनकी भी कमी नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है वह अपनी मानव आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन

के पश्चात् वह कहाँ पहुँचता है ? यह बताने के लिए वहाँ ये गाथाएँ दी गई हैं —

खेत्त वत्थु हिरण्णं च पसवो दास—पोरुस ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसो बले ॥

—उत्तरा० ३, १७-१८

उपर्युक्त गाथाओ मे कहा गया है कि जो साधक देवलोक मे जाते हैं, वे जीवन का पुन प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेंगे ? उत्तर—जहाँ खेती लहलाती होगी । सब से पहला पद यह आया है कि उस साधक को खेत मिलेगा ! उसे खेत की उपजाऊ भूमि मिलेगी, जिसमे वह सोने से भी बढकर जीवनकण-अन्न उत्पन्न करेगा ।

यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है । इस प्रकार जैन-परम्परा खेती-बाडी को पुण्य का फल मानती है । खेती-बाडी, खेत और जमीन यदि पाप का फल होता तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यो बतलाते ?

उत्तराध्ययन सूत्र मे आगे भी कहा है —

'कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"

अर्थात्—कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी होता है ।

यहाँ कर्म से वैश्य होना बतलाया गया है, परन्तु उस कर्म का निर्णय आप कैसे करेंगे ? कौन सा दया, पौषध आदि है, जो आप मे से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी

को वैश्य और किसी को शूद्र बनाता है ? ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के रूप मे बाँटने वाला कर्म कौन-सा है ? धार्मिक नियम और मर्यादाएँ तो सभी के लिए समान हैं और उनका फल भी सभी के लिए समान ही बताया गया है। कोई धार्मिक नियम या व्रत-कर्म ऐसा नही, जो किसी एक को ब्राह्मण और किसी दूसरे को वैश्य बनाता हो।

तब फिर यहाँ 'कर्म' से क्या अभिप्राय है ? यह बात समझने के लिए हमे प्राचीन टीकाकारो की ओर नजर डालनी होगी। उत्तराध्ययन पर विस्तृत और प्रामाणिक टीका लिखने वाले वादि-वेताल शान्त्याचार्य विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी मे हुए है। उन्होने अपना स्पष्ट चिन्तन जैन जनता के सामने रखा है। उन्होने 'कम्मुणा वइसो होइ' पद पर टीका लिखते हुए कहा है

'कृषि-पशु पालन-वाणिज्यादि कर्मणा वैश्यो भवति।

भगवद्‌गीता मे भी यही बात स्पष्ट रूप से कही गई है —

कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

प्रामाणिक शास्त्रो का दिव्य-प्रकाश उपलब्ध होते हुए भी आज हम गलतफहमी के कारण कर्मों को समझने मे गड़बड़ा गए है लेकिन प्राचीन जैन और जैनेतर साहित्य स्पष्ट बताते है कि कृषि करना वैश्य वर्ण का ही कार्य था जो आज एकमात्र शूद्रो या अनार्यों के मत्थे मढा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने भी कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियो को वैश्य बतलाया है। भगवान् महावीर के पास आने

के पश्चात् वह कहाँ पहुँचता है ? यह बताने के लिए यहाँ ये गाथाएँ दी गई हैं —

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पसवो दास—पोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसो बले ॥
—उत्तरा० ३, १७-१८

उपर्युक्त गाथाओं में कहा गया है कि जो साधक देवलोक में जाते हैं, वे जीवन का पुनः प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेंगे ? उत्तर—जहाँ खेती लहलाती होगी । सब से पहला पद यह आया है कि उस साधक को खेत मिलेगा ! उसे खेत की उपजाऊ भूमि मिलेगी, जिसमें वह सोने से भी बढ़कर जीवनकण-अन्न उत्पन्न करेगा ।

यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है । इस प्रकार जैन-परम्परा खेती-बाड़ी को पुण्य का फल मानती है । खेती-बाड़ी, खेत और जमीन यदि पाप का फल होता तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यों बतलाते ?

उत्तराध्ययन सूत्र में आगे भी कहा है —

'कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"

अर्थात्—कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी होता है ।

यहाँ कर्म से वैश्य होना बतलाया गया है, परन्तु उस कर्म का निर्णय आप कैसे करेंगे ? कौन सा दया, पौषध आदि है, जो आप में से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी

शास्त्रों का इतना स्पष्ट विवरण हमारे सामने मौजूद है और त्याग का क्रम भी स्पष्ट रूप से बतला दिया रहे हैं दुर्भाग्य से फिर भी कुछ लोग भ्रम में पड़े हुए हैं। यह कितना आश्चर्यजनक एवं खेदपूर्ण है कि जो बात आगे की भूमिका में छोड़ने की है उसे पहले की भूमिका में छोड़ देने का आग्रह किया जाता है और जो विषय पहले की भूमिका में त्यागने योग्य है उसका ठिकाना ही नहीं है! धोती की जगह पगड़ी और पगड़ी की जगह धोती लपेट कर हम अपने आपको शेखचिल्ली की भांति दुनिया की दृष्टि में हास्यास्पद बना रहे हैं।

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में भी आया है। वहाँ आर्य कर्मों के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोड़े से कर्म गिनकर अन्त में 'जे यावन्ने तहप्पगारा' कहकर सारा निचोड़ बतला दिया है। इसका साराश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के धन्धे को भी वहाँ आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य कर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर, इस गए गुजरे जमाने में कई नए टीकाकार पैदा हुए हैं जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओं और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परम्पराओं को तिलांजली देने की अभद्र चेष्टा कर रहे हैं। जैन-जगत् में युगद्रष्टा एवं क्रान्तिकारी आचार्य पूज्यपाद श्री जवाहरलालजी महाराज का सिद्धान्त

वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावकों का वर्णन उपासक दशाग सूत्र मे आता है, उनमें कोई भी ऐसा नही था, जो श्रावक अवस्था में खेती-वाडी का धन्धा न करता हो। इससे आप स्वय अनुमान लगा सकते हैं कि हमारी परम्परा हमे खेती के विषय मे क्या निर्देश करती है ? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखना चाहिए कि बारह व्रत-धारी श्रावक की भूमिका तक तो खेती का कही भी निषेध नही है। इससे ऊपर की भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की भूमिका है। क्रमश पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओ को स्वीकार करने के बाद जब श्रावक आठवी प्रतिमा को अगीकार करता है, तब आरम्भ के कार्यो का परित्याग कर कृषि का त्याग करता है। इस सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा के सभी आचार्य एक स्वर से समर्थन करते हुए कहते हैं* —

आरम्भ —कृष्यादि कम, तत्त्याग करोति।"

अर्थात्—यहाँ आरम्भ से कृषि-कर्म आदि समझना चाहिए। उसका त्याग आठवी प्रतिमा में होता है। इस तरह प्रतिमाधारी श्रावक आठवी प्रतिमा में स्वय कृषि करने का त्याग करता है और नौवी प्रतिमा मे कराने का भी त्याग कर देता है।

---

*देखिए—समन्तभद्र कृत 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार और प्रवचन-सारोद्धार की सिद्धसेनीया वृत्ति।

शास्त्रों का इतना स्पष्ट विवरण हमारे सामने मौजूद है और त्याग का क्रम भी स्पष्ट रूप से बतला दिया रहे हैं। दुर्भाग्य से फिर भी कुछ लोग भ्रम मे पड़े हुए हैं। यह कितना आश्चर्यजनक एव खेदपूर्ण है कि जो बात आगे की भूमिका मे छोड़ने की है उसे पहले की भूमिका मे छोड़ देने का आग्रह किया जाता है और जो विषय पहले की भूमिका मे त्यागने योग्य है उसका ठिकाना ही नही है। धोती की जगह पगड़ी और पगड़ी की जगह धोती लपेट कर हम अपने आपको शेखचिल्ली की भांति दुनिया की दृष्टि मे हास्यास्पद बना रहे है।

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में भी आया है। वहाँ आर्य-कर्मों के स्वरूप का निर्देश करते हुए कुछ थोड़े से कर्म गिनकर अन्त में जे यावन्ने तहप्पगारा' कहकर सारा निचोड़ बतला दिया है। इसका सारांश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के धन्धे को भी वहाँ आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य कर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर, इस गए गुजरे जमाने मे कई नए टीकाकार पैदा हुए हैं जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओ और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परम्पराओं को तिलाञ्जली देने की अमाद चेष्टा कर रहे हैं। जैन-जगत् के युगद्रष्टा एव क्रान्तिकारी आचार्य पूज्यपाद श्री जवाहरलालजी महाराज को जिन्होंने

वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावको का वर्णन उपासक दशाग सूत्र मे आता है, उनमें कोई भी ऐसा नही था, जो श्रावक अवस्था मे खेती-वाडी का धन्धा न करता हो। इससे आप स्वय अनुमान लगा सकते हैं कि हमारी परम्परा हमे खेती के विपय मे क्या निर्देश करती है ? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

यहाँ एक बात ध्यान मे रखना चाहिए कि वारह व्रत-धारी श्रावक की भूमिका तक तो खेती का कही भी निषेध नही है। इससे ऊपर की भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की भूमिका है। क्रमश पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओ को स्वीकार करने के वाद जव श्रावक आठ ी प्रतिमा को अगीकार करता है, तव आरम्भ के कार्यों का परित्याग कर कृषि का त्याग करता है। इस सम्वन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा के सभी आचार्य एक स्वर से समर्थन करते हुए कहते हैं* —

आरम्भ —कृप्यादि कर्म, तत्त्याग करोति।"

अर्थात्—यहाँ आरम्भ से कृपि-कर्म आदि समझना चाहिए। उसका त्याग आठवी प्रतिमा मे होता है। इम तरह प्रतिमाधारी श्रावक आठवी प्रतिमा मे स्वय कृपि करने का त्याग करता है और नौवी प्रतिमा मे कराने का भी त्याग कर देता है।

---

*देखिए—समन्तभद्र कृत रत्नकरण्डक श्रावकाचार' और प्रवचन-सारोद्धार की सिद्धसेनीया वृत्ति।

व्यवसाय करता है तो वह अल्पारंभ की भूमिका में है —

अल्पसावद्यकर्मार्यत्व श्रावका।

खेती आदि कर्मों के आर्य-कर्म होने के सम्बन्ध में इनसे अच्छे और क्या प्रमाण हो सकते हैं ? सारांश यही है कि श्रावक की भूमिका ही अल्पारंभ की भूमिका है। इसका रहस्य यही है कि श्रावक में विवेक होता है। वह जो भी काम करेगा उसमें विवेक की दृष्टि अवश्य रखेगा। श्रावक का हाथ वह अद्भुत हाथ है कि जिसे वह छू ले बस सोना बन जाए। श्रावक की भूमिका वह भूमिका है जिसमें विवेक का जादू है। यही जादू उसके कार्य को अल्पारम्भ बना देता है।

असली चीज तो विवेक है। जहाँ विवेक नहीं है वहाँ खेती भी सावद्य कर्म है। यहाँ तक कि विवेक के अभाव में लेखन तथा वस्त्र आदि का व्यवसाय करना भी अल्पारंभ नहीं होगा।

इस तरह हमें जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म तथा अल्पारंभ और महारंभ का निर्णय कर लेना चाहिए। विवेक को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के खूँटे को पकड़ कर हम चिल्लाते रहेंगे तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आएगा और हम जैन-धर्म को भी विश्व की दृष्टि में हेय सिद्ध कर देंगे।

प्राचीन परम्परा के आधार पर अपना स्पष्ट चिन्तन रखा, ऐसे ही कुछ टीकाकार उत्सूत्रप्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्य-कर्म नही है, इससे बढकर सफेद झूठ और क्या हो सकता है?

शायद विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी मे आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होने आर्य-कर्मो की व्याख्या करते हुए कहा है —

"कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृषिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तय।"

यह चिन्तन कहाँ से आया है? उपर्युक्त प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर ही यहाँ चिन्तन किया गया है।

आचार्य अकलक भट्ट ने (आठवी शताब्दी) तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक मे अपना विशिष्ट चिन्तन जनता के समक्ष रखा। उन्होने खेती-बाडी, चन्दन, वस्त्र आदि का व्यापार तथा लेखन-अध्यापन आदि उद्योगो को, सावद्य आर्य-कर्म बतलाया है। इसका कारण बतलाते हुए वे कहते है —

"षडप्येतेऽविरतिप्रवणत्वात्सावद्यकर्मार्या।*"

यह छह प्रकार के आर्य अविरति के कारण सावद्य आर्य-कर्मी है, अर्थात्—व्रती श्रावक की भूमिका से पहले ये सावद्यकर्मार्य हैं। परन्तु बाद मे व्रती श्रावक होने पर जो मर्यादाबद्ध खेती आदि कर्म करता है, लिखने-पढने का

---

* आचार्य अकलक ने लेखन आदि के समान कृषि को सावद्यकर्म ही कहा है महासावद्य नही। कृषि को महारंभ—महापाप कहने वाले सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें।

वसाय करता है तो वह अल्पारंभ की भूमिका में है —
"अल्पसावद्यकर्मार्थिक्व श्रावका।"

खेती आदि कर्मों के आर्य-कर्म होने के सम्बन्ध मे इनसे अच्छे
र क्या प्रमाण हो सकते हैं ? सारांश यही है कि श्रावक की
मिका ही अल्पारम्भ की भूमिका है। इसका रहस्य यही है
क श्रावक मे विवेक होता है। वह जो भी काम करेगा
समे विवेक की दृष्टि अवश्य रखेगा। श्रावक का हाथ वह
द्भुत हाथ है कि जिसे वह छू ले बस सोना बन जाए।
ावक की भूमिका वह भूमिका है जिसमे विवेक का जादू
। यही जादू उसके कार्य को अल्पारम्भ बना देता है।

असली चीज तो विवेक है। जहाँ विवेक नही है वहाँ
ेती भी सावद्य कर्म है। यहाँ तक कि विवेक के अभाव मे
ख्रम तथा वस्त्र आदि का व्यवसाय करना भी अल्पारम्भ
ही होगा।

इस तरह हमे जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्य-कर्म और
नार्य-कर्म तथा अल्पारम्भ और महारम्भ का निर्णय कर
ेना चाहिए। विवेक को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष
के खूँटे को पकड़ कर हम चिल्लाते रहेंगे तो हमारी समझ
ें कुछ भी नही आएगा और हम जैन-धर्म को भी विश्व की
दृष्टि मे हेय सिद्ध कर देंगे।

प्राचीन परम्परा के आधार पर अपना स्पष्ट चिन्तन रखा, ऐसे ही कुछ टीकाकार उत्सूत्रप्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्य-कर्म नही है, इससे बढकर सफेद झूठ और क्या हो सकता है ?

शायद विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी मे आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होंने आर्य-कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है —

"कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृषिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तय.।"

यह चिन्तन कहाँ से आया है ? उपर्युक्त प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर ही यहाँ चिन्तन किया गया है।

आचार्य अकलक भट्ट ने (आठवी शताब्दी) तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक मे अपना विशिष्ट चिन्तन जनता के समक्ष रखा। उन्होने खेती-बाडी, चन्दन, वस्त्र आदि का व्यापार तथा लेखन-अध्यापन आदि उद्योगो को, सावद्य आर्य-कर्म बतलाया है। इसका कारण बतलाते हुए वे कहते है —

"षडप्येतेऽविरतिप्रवणत्वात्सावद्यकर्मार्या ।*"

यह छह प्रकार के आर्य अविरति के कारण सावद्य आर्य-कर्मी हैं , अर्थात्—व्रती श्रावक की भूमिका से पहले ये सावद्यकर्मार्य हैं। परन्तु बाद मे व्रती श्रावक होने पर जो मर्यादाबद्ध खेती आदि कर्म करता है, लिखने-पढने का

---

* आचार्य अकलक ने लेखन आदि के समान कृषि को सावद्यकर्म ही कहा है, महासावद्य नही। कृषि को महारभ—महापाप कहने वाले सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें।

तक आगे कदम बढ़ा चुका है और दूसरी ओर गृहस्थ अपने क्षेत्र में कदम बढ़ाकर चला ही है। फिर साधु जीवन भी तो ऊँचा-नीचा है। उसकी भी अनेक श्रेणियाँ हैं।

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन की भी अनेक कक्षाएँ हैं। और कक्षाओं के भी कई भेद हैं। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ छोटा अतः वह नगण्य है और विष का टुकड़ा है। परिस्थिति वश गृहस्थ साधु की अपेक्षा नीचा होते हुए भी किसी विषय में साधुत्व ऊँचा है। जो गृहस्थ जीवन के मैदान में विवेक-पूर्वक चलता है जिसके हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिए दया का झरना बहता है जो महा-हिंसा से दूर रहकर अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहा है वह अपने श्रावक के कर्त्तव्यों को दृढ़ता से पूरा कर रहा है। भले ही वह धीमे कदमों से चलता हो पर अभीष्ट लक्ष्य की ओर उसकी गति नियमित और निरन्तर अवश्य है।

हमें अपनी पुरानी परम्परा की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। वह क्या कहती है? वह ऐसे गृहस्थ को जो अपनी जीवन नौका के साथ-साथ दूसरों की जीवन नौका को भी पार करता है कभी भी पापी और विष का टुकड़ा नहीं बतला सकती। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि गृहस्थ को अपनी रोटी कमानी पड़ती है वस्त्र जुटाना पड़ता है समय आने पर अपने पड़ौसी समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर कर्त्तव्य भी अदा करना पड़ता है इस लिए वह तो पाप में डूबा हुआ है। परन्तु हम यदि बुद्धि

—: ५ :—

कृषि अल्पारम्भ है

प्रत्येक व्यक्ति को हिंसा और अहिंसा का मर्म समझना चाहिए। मनुष्य को अपने जीवन के प्रत्येक कार्य की छान-बीन करनी चाहिए और देखना चाहिए कि कहाँ कितनी हिंसा हो रही है और कहाँ कितनी अहिंसा की साधना चल रही है।

साधारणतया साधको के जीवन के दो भाग होते हैं—एक गृहस्थ-जीवन और दूसरा साधु-जीवन। गृहस्थ को अपने आदर्श गृहस्थ-जीवन की ऊँचाइयाँ प्राप्त करना है, और साधु को अपने शाश्वत क्षेत्र मे जीवन के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श करना है। ऐसी बात नही है कि साधु बनते ही उसके जीवन मे पूर्णता आ जाती है। महाव्रतो को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते ही जीवन मे पूर्णता आ गई, ऐसा समझना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा। साधु भी अपने आप मे अपूर्ण है और उसे शाश्वत जीवन की पूर्णता प्राप्त करना है। वस्तुत पूर्णता हिमालय की सर्वोच्च चोटी है और साधु को वहाँ तक पहुँचने के लिए कठिन साधना अपेक्षित है।

यह ठीक है कि साधु, श्रावक की अपेक्षा कुछ आगे बढ गया है, कुछ ऊँचा भी चढ चुका है, मजिल की राह पर

तक भागे कदम बढ़ा चुका है भौर दूसरी भोर गृहस्थ अपने क्षेत्र म कदम बढाकर चला ही है। फिर साधु जीवन भी तो ऊँचा-नीचा है। उसकी भी भनेक र्यां हैं।

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन की भी भनेक कक्षाएँ हैं। भौर कक्षाभो के भो कई स्तर हैं। ऐसा नही है कि गृहस्थ छोटा सत वह ममध्य है भौर विष का टुकडा है। परिस्थिति वश स्थ साधु की भपेक्षा नीचा होते हुए भी किसी विषय मे प्राकृत ऊँचा है। जो गृहस्थ जीवन के मैदान मे विवेक-क चलता है जिसके हृदय मे प्रत्येक प्राणी के लिए दया भरता बहता है जो महा-हिंसा से दूर रहकर भपनी वन-यात्रा तय कर रहा है वह भपने श्रावक के व्यो को इन्ता से पूरा कर रहा है। भले ही वह धीमे मो से चलता हो पर भभीष्ट लक्ष्य की भोर उसकी ा नियमित भौर निरन्तर भवश्य है।

हम भपनो पुरानी परम्परा की भोर भा दृष्टिपात कर ा चाहिए। वह क्या कहती है ? वह ऐसे गृहस्थ को भपनी जीवन नौका के साथ-साथ दूसरो की जीवन नौका भी पार करता है कभी भी पापी भौर विष का टुकडा हे बतला सकती। कुछ लोगो का ऐसा विचार है कि स्थ को भपनी रोटी कमानी पडती है वस्त्र जुटाना ता है समय भाने पर भपने पडौसी समाज भौर राष्ट्र की ा के लिए कठोर कर्त्तव्य भी भदा करना पड़ता है इस ए वह तो पाप मे डूबा हुमा है। परन्तु हम यदि बुद्धि

की कसौटी पर गृहस्थ-जीवन को कसकर देखें तो विदित होगा कि विवेकवान् गृहस्थ यदि साधु के गुणस्थानो से नीचा है तो प्रथम चार गुणस्थानो से ऊँचा भी है। सकुचित दृष्टिकोण होने के कारण दुर्भाग्य से हमारा ध्यान निचाई की ओर तो जाता है, पर ऊँचाई की ओर कभी नही जाता।

इसीलिए कुछ लोगो ने एक मनगढन्त सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ का स्तर नीचा है, इसलिए उसका सत्कार-सम्मान करना, उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना, दूसरे गृहस्थ के लिए भी ससार का मार्ग है। वह हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का निन्दनीय मार्ग है और पतन की पगडडी है। मेरे विचार से इस हीन विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नही है। सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी इसी अज्ञान के कुपरिणाम हैं। गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नही है, साधु को देना ही एकमात्र धर्म है। इस प्रकार की कल्पनाएँ सकुचित विचारों द्वारा ही आ गई हैं। इस प्रकार एकान्तत छोटे-बडे के आधार पर धर्म और अधर्म का निष्पक्ष निर्णय कभी नही हो सकता। आखिर साधु भी, जोकि छठे गुणस्थान में है, सातवें गुणस्थान वाले से नीचा है। इसी प्रकार सातवें गुणस्थान वाला आठवे गुणस्थान वाले से नीचा है। केवल-ज्ञानी की भूमिका से तो सभी सामान्य साधु नीचे ही हैं। हाँ, तो मैं पूछता हूँ कि तेरहवें गुणस्थान वाले अरिहन्त की भूमिका छोटी है या बडी ?

यदि बारहवे गुणस्थान से वह ऊँची है तो चौदहवें गुणस्थान से नीची भी है। तो इस प्रकार की अपेक्षाकृत ऊँचाई और निचाई भले ही रहे परन्तु उसी को स्वर्ग की चर्चा का आधार बनाने में कोई महत्त्व नहीं है। नीचे की भूमिकाओ को पार करके ऊँची भूमिका मे प्रतिष्ठित होना ही महत्त्वपूर्ण बात है। अस्तु, हमे देखना चाहिए कि जीवन ऊपर की ओर गतिशील है या नीचे की ओर ? साधक कही नीचे की ओर तो नही खिसक रहा है ?

अब तनिक श्रावक की भूमिका पर विचार कीजिए। वह मिथ्यात्व के प्रगाढ अन्धकार को धकर अनन्तानुबन्धी रूप तीव्र कषाय की फौलादी दीवार को लाघ कर अव्रत के असीम सागर को पार करके और अपरिमित भोगो की लिप्साओ से ऊँचा उठकर आया है। उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियो को तोडा है और वह अहिंसा एव सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है। यह बात दूसरी है कि वह उच्च साधक की तरह तीव्र गति से दौड नही सकता मन्द गति से टहलता हुआ ही चलता है।

सूत्रकृताग सूत्र मे अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध मे एक बडी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि मे पडे है वे आर्य-जीवन वाले नही है किन्तु जिन्होने हिंसा और असत्य के बन्धन कुछ अशो मे तोड डाले हैं जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते है और असत्य आदि के बन्धनो को पूरी तरह तोडने की उच्च भावना रखते है और क्रमश

की कसौटी पर गृहस्थ-जीवन को कसकर देखें तो विदित होगा कि विवेकवान् गृहस्थ यदि साधु के गुणस्थानो से नीचा है तो प्रथम चार गुणस्थानो से ऊँचा भी है। सकुचित दृष्टिकोण होने के कारण दुर्भाग्य से हमारा ध्यान निचाई की ओर तो जाता है, पर ऊँचाई की ओर कभी नही जाता।

इमीलिए कुछ लोगो ने एक मनगढन्त सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ का स्तर नीचा है, इसलिए उसका सत्कार-सम्मान करना, उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना, दूसरे गृहस्थ के लिए भी ससार का मार्ग है। वह हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का निन्दनीय मार्ग है और पतन की पगडडो है। मेरे विचार से इस हीन विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नही है। सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी इसी अज्ञान के कुपरिणाम हैं। गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नही है, साधु को देना ही एकमात्र धर्म है। इस प्रकार की कल्पनाएँ सकुचित विचारो द्वारा ही आ गई हैं। इस प्रकार एकान्तत छोटे-बडे के आधार पर धर्म और अधर्म का निष्पक्ष निर्णय कभी नही हो सकता। आखिर साधु भी, जोकि छठे गुणस्थान में है, सातवें गुणस्थान वाले से नीचा है। इसी प्रकार सातवें गुणस्थान वाला आठवे गुणस्थान वाले से नीचा है। केवल-ज्ञानी की भूमिका से तो सभी सामान्य साधु नीचे ही हैं। हाँ, तो मैं पूछता हूँ कि तेरहवे गुणस्थान वाले अरिहन्त की भूमिका छोटी है या बडी ?

यदि बारहवें गुणस्थान से वह ऊँची है तो चौदहवें गुणस्थान से नीची भी है। तो इस प्रकार की अपेक्षाकृत ऊँचाई और निचाई भले ही रहे परन्तु उसी को व्यय की चर्चा का आधार बनाने मे कोई महत्त्व नही है। नीचे की भूमिकाओ को पार करके ऊँची भूमिका में प्रतिष्ठित होना ही महत्त्वपूर्ण बात है। अस्तु हमे देखना चाहिए कि जीवन ऊपर की ओर गतिशील है या नीचे की ओर ? साधक कही नीचे की ओर तो नही खिसक रहा है ?

अब तनिक श्रावक की भूमिका पर विचार कीजिए। वह मिथ्यात्व के प्रगाढ अन्धकार को चीरकर अनन्तानुबन्धी रूप तीव्र कषाय की फौलादी दीवार को लाघ कर, अव्रत के असीम सागर को पार करके और अपरिमित भोगो की लिप्साओ से ऊँचा उठकर आया है। उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियो को तोड़ा है और वह अहिंसा एव सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है। यह बात दूसरी है कि वह उच्च साधक की तरह तीव्र गति से दौड नही सकता मन्द गति से टहलता हुआ ही चलता है।

सूत्रकृताग सूत्र मे अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध मे एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि मे पड़े हैं वे धार्म-जीवन वाले नही हैं किन्तु जिन्होने हिंसा और असत्य के बन्धन कुछ अशो मे तोड डाले हैं, जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और असत्य आदि के बन्धनो को पूरी तरह तोड़ने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमश

तोडते भी जाते है, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य है। उनका कदम ससार के शृखलाबद्ध मार्ग की ओर है या मोक्ष के मुक्ति मार्ग की ओर ? महज विवेक-बुद्धि से विचार करने वाला तो अवश्य ही कहेगा—मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय मे ही सूत्रकृताग कहता है —

"एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मे साहू।*"

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशसा मे आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेगे—कहाँ गृहस्थ और कहाँ साधु ? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे आपसे एक प्रश्न करना होगा। मै पूछता हूँ—गृहस्थ श्रावक मर कर कहाँ जाता है ?

'देवलोक मे।'

'और साधु ?'

'छठे से ग्यारहवे गुणस्थान वाला साधु भी मरने के बाद देवलोक मे जाता है।'

इस प्रकार जैसे दोनो की गति देवलोक की है, उसी प्रकार दोनो में एकान्त आर्यत्व भी है। इसका मूल कारण यही है कि श्रावक का दृष्टिकोण साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बधनो के पाश को तोडने की ओर ही है।

जबकि सूत्रकृताग के क्रिया स्थानक में, जहाँ क्रियाओ का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की भाँति ही एकान्त आर्य बताया

---

* सूत्रकृताग, द्वि० श्रुतस्कध अ० २, सू० ३९

है तब ऐसी स्थिति मे यदि साधु भोजनादि क्रियाएँ करे तो पाप नही और यदि श्रावक वही विवेक-पूर्वक भोजनादि क्रियाएँ करे तो एकान्त पाप ही पाप चिल्लाना भला किस प्रकार शास्त्र सगत हो सकता है ? वही कार्य करता हुआ श्रावक पापी और कुपात्र कैसे हो गया ? इस पर हमे निष्पक्षतापूर्वक विचार करना होगा।

पाप करना एक चीज है और पाप हो जाना दूसरी चीज है। पाप तो साधु से भी होना सम्भव है। वह भी कभी किसी प्रवृत्ति मे भूल कर बैठता है। पर, यह नही कहा जा सकता कि साधु जान-बूझकर पाप करता है। वास्तव मे वह पाप करता नही है अपितु हो जाता है। इसी प्रकार श्रावक भी कुछ अशो मे तटस्थ वृत्ति लेकर चलता है। परिस्थिति-वश उसे आरम्भ करना भी होता है परन्तु वह प्रसन्नभाव से नही उदासीन भाव से मूल मे हेय समझता हुआ करता है। यद्यपि कोई गृहस्थ आसक्ति भाव से आर म्भादि पाप कर्म करता है पाप कर्म के लिए उत्साहित होकर कदम रखता है तो वह अनार्य है तथापि जो गृहस्थ काम तो करता है पर उसमे मिथ्यादृष्टि जैसी आसक्ति नही रखता वह उसमे से आसक्ति के विष को कुछ अशों मे कम करता जाता है तो वह अनार्य नही कहा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो भगवान् उसे एकान्त सम्यक एव आर्य क्यो कहते ?

इतना समझ लेने पर अब मूल विषय पर आइए और विचार कीजिए। एक ओर भगवान् ने श्रावक के जीवन को

तोडते भी जाते है, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य है। उनका कदम ससार के शृखलावद्ध मार्ग की ओर है या मोक्ष के मुक्ति मार्ग की ओर ? सहज विवेक-बुद्धि से विचार करने वाला तो अवश्य ही कहेगा—मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय मे ही सूत्रकृताग कहता है —

"एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगन्तसम्मे साहू।*"

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशसा मे आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की वात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेगे—कहाँ गृहस्थ और कहाँ साधु ? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे आपसे एक प्रश्न करना होगा। मै पूछता हूँ—गृहस्थ श्रावक मर कर कहाँ जाता है ?

'देवलोक मे।'

'और साधु ?'

'छठे से ग्यारहवे गुणस्थान वाला साधु भी मरने के वाद देवलोक मे जाता है।'

इस प्रकार जैसे दोनो की गति देवलोक की है, उसी प्रकार दोनो में एकान्त आर्यत्व भी है। इसका मूल कारण यही है कि श्रावक का दृष्टिकोण साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बधनो के पाश को तोडने की ओर ही है।

जबकि सूत्रकृताग के क्रिया स्थानक में, जहाँ क्रियाओ का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की भाँति ही एकान्त आर्य वताया

---

* सूत्रकृतांग, द्वि० श्रुतस्कध अ० २, सू० ३९

विचार प्रवाह में यह भी कहा जा सकता है कि 'आनन्द' महारंभी था और कृषि कार्य उसके परिवार का परम्परागत धन्धा था। किन्तु श्रावक बनने के बाद उसने कृषि-योग्य भूमि की मर्यादा निर्धारित की और शेष का त्याग कर दिया।

इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यही हुआ कि खेती महारम्भ तो है परन्तु उसकी मर्यादा की जा सकती है। परन्तु क्या कहीं महारंभ की भी मर्यादा हो सकती है? अथवा महारंभ की मर्यादा करने के बाद भी क्या कोई अणुव्रती श्रावक की कोटि में गिना जा सकता है? महारंभ की मर्यादा करने पर यदि श्रावक की कोटि प्राप्त की जा सकती है तो बध-शाला की मर्यादा करने वाला भी श्रावक की कोटि में आसानी से आ सकेगा। यदि भगवान् महावीर के पास कोई व्यक्ति आकर कहता-'प्रभो! मैं सौ कसाई खाने चला रहा हूँ और अभी तक श्रावक की भूमिका में नहीं आ सका हूँ। अब मैं मर्यादा करना चाहता हूँ कि सौ से अधिक बध-शालाएँ नहीं चलाऊँगा। मुझे सौ से अधिक बध-शालाओं का त्याग करा दीजिए और अपने अणुव्रती श्रावक-संघ की सदस्यता प्रदान कीजिए। तो क्या भगवान् उसे अपने अणुव्रती श्रावक-संघ के सदस्यों में परिगणित कर सकते थे? कदापि नहीं। उस अवसर पर भगवान् यही कहते—अणुव्रती श्रावक का पद प्राप्त करने से पहले तुम्हें महारंभ का पूरी तरह त्याग करना होगा। तात्पर्य यही है कि बध-शाला जुए के अड्डे, वेश्यालय या शराब की भट्टियाँ चलाकर और उनकी

एकान्त सम्यक् आर्य-जीवन कहा है और दूसरी ओर आप खेती-वाडी का धन्धा करने वाले श्रावक को अनार्य समझते हैं। ये दोनो एक-दूसरे के परस्पर विरोधी बातें कैसे मेल खा सकती हैं ? आप दिन को दिन भी कहें और साथ ही उसे रात भी कहते जाएँ, भला यह असगत बात, बुद्धि कैसे स्वीकार कर सकती है ? श्रावक की भूमिका अल्पारभ की है, महारभ की नही। महारभ का मतलब है—घोर हिंसा और घोर पाप। महारभी की गति नरक है, यह बात शास्त्रो मे स्पष्ट रूप से कही है —

"महारभयाए, महापरिग्गहयाए, पचिंदियवहेण, कुणिमाहारेण।"
—औपपातिक सूत्र

यहाँ नरक-गति के चार कारणो मे पहला कारण महारभ कहा गया है। आप एक ओर तो श्रावक को अल्पारभी स्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ खेती-वाडी करने के कारण उसे महारभी की उपाधि से भी विभूषित करते जाते हैं। भला, यह विपरीत भाव कैसे युक्ति सगत कहलाएगा।

आपको मालूम होगा, गृहस्थ-जीवन मे 'आनन्द' ने जो किया, वह एक आदर्श की चीज थी। 'आनन्द' जैसा उच्च एव आदर्श जीवन व्यतीत करने वाला श्रावक महारभ का कार्य नही कर सकता था। 'आनन्द' श्रावक-अवस्था में भी खेती करता था, इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता। 'आनन्द' श्रावक था, अतएव अल्पारभी था। फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यही है कि खेती श्रावक के लिए अनिवार्यत: वर्जनीय नही है, वह अल्पारम्भ में ही है।

विचार प्रवाह मे यह भी कहा जा सकता है कि 'आनन्द' महारंभी था और कृषि कार्य उसके परिवार का परम्परागत धन्धा था। किन्तु श्रावक बनने के बाद उसने कृषि-योग्य भूमि की मर्यादा निर्धारित की और शेष का त्याग कर दिया।

इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यही हुआ कि खेती महारंभ तो है, परन्तु उसकी मर्यादा की जा सकती है। परन्तु क्या कहीं महारंभ की भी मर्यादा हो सकती है? अथवा महारम्भ की मर्यादा करने के बाद भी क्या कोई अणुव्रती श्रावक की कोटि मे गिना जा सकता है? महारम्भ की मर्यादा करने पर यदि श्रावक की कोटि प्राप्त की जा सकती है तो वध-शाला की मर्यादा करने वाला भी श्रावक की कोटि में आसानी से आ सकेगा। यदि भगवान् महावीर के पास कोई व्यक्ति आकर कहता— प्रभो! मै सौ कसाई खाने चला रहा हूं और अभी तक श्रावक की भूमिका मे नहीं आ सका हूं। अब मैं मर्यादा करना चाहता हूं कि सौ से अधिक वध-शालाएं नहीं चलाऊंगा। मुझे सौ से अधिक वध-शालाओं का त्याग करा दीजिए और अपने अणुव्रती श्रावक-संघ की सदस्यता प्रदान कीजिए। तो क्या भगवान् उसे अपने अणुव्रती श्रावक-संघ के सदस्यों मे परिगणित कर सकते थे? कदापि नहीं। उस अवसर पर भगवान् यही कहते—अणुव्रती श्रावक का पद प्राप्त करने से पहले तुम्हें महारंभ का पूरी तरह त्याग करना होगा। तात्पर्य यही है कि वध-शाला, जुए के अड्डे, वेश्यालय या शराब की भट्टियाँ चलाकर और उनकी

कुछ मर्यादा बाँध कर यदि कोई अणुव्रती श्रावक का स्थान प्राप्त करना चाहे तो वह प्राप्त नही कर सकता। ऐसा होना कदापि सम्भव नही है।

इस प्रकार की मर्यादाएँ तो प्राय होती ही रहती हैं। पजाव मे जव हम यात्रा करते हैं और कोई मासाहारी या शिकारी गृहस्थ मिलता है तो उसे मासाहार या शिकार को छोडने का उपदेश देते हैं। यदि वह पूरी तरह नही छोडता तो वृद्धि न करने की सलाह देते हैं। परन्तु क्या इससे उसका गुण-स्थान वदल गया? एक हजार हरिण मारने वाला यदि पाँच-सौ हरिणो तक ही अपनी मर्यादा स्थापित कर ले, तो भले ही उसे कल्याण की धुँधली राह मिली हो, किन्तु इतने मात्र से उसको अणुव्रती श्रावक की भूमिका नही मिल सकती।

कृषि के सम्बन्ध में विचार करते समय हमे भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। पहले कल्प-वृक्षो से युगलियो का निर्वाह हो जाता था। उस समय उनके सामने अन्न का कोई सकट नही था। भले ही युगलिया तीन पल्योपम की आयु वाले हो, परन्तु अन्तिम समय मे ही उनके सन्तान होती थी, अर्थात्—पहला जोडा जव विदा होने लगता, तब उघर दूसरा जोडा उत्पन्न होता था। इसलिए उनकी सख्या में कोई विशेष अन्तर नही होता था। परन्तु भगवान् ऋषभ-देव के समय मे कल्प-वृक्ष, जो उत्पादन के एकमात्र साधन थे, घटने लगे और जन-सख्या वढने लगी। अतएव कल्प-वृक्षो से उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति में बाधा उपस्थित हो

गई। जहाँ उत्पादन कम है और खाने वाले अधिक हो जाते हैं वहाँ संघर्ष अनिवार्य है।

नल पर पानी भरने के लिए तू-तू मैं-मैं क्यों होती है? कारण यही है कि पानी कम आता है और उसके भी जल्दी बन्द हो जाने का डर रहता है और लोगों को आवश्यकता अधिक होती है। इसीलिए आपस में लड़ाई-झगड़े होते हैं और कभी-कभी भयंकर दुर्घटना का रूप धारण कर लेते हैं। एक चाहता है मैं पहले भर लूँ और दूसरा चाहता है कि सबसे पहले मैं भरूं। परन्तु जल से परिपूर्ण कुओं पर ऐसा नहीं होता। वहाँ जितना चाहिए उतना पानी मिल सकता है अतएव संघर्ष तथा दुर्घटना की स्थिति पैदा नहीं होती। जहाँ अभाव होता है और भरण-पोषण के साधन पर्याप्त नहीं होते वहीं संघर्ष तथा दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं। परन्तु जहाँ उत्पादन अधिक होता है और उपभोक्ताओं की संख्या कम हो वहाँ अभावमूलक संघर्ष नहीं होता न वहाँ विषमता ही प्रवर्धित होती है और न संग्रहवृत्ति ही पनपती है।

हाँ तो हमें सोचना यह है कि भूखों मरते और संकट में पड़े हुए युगलियों को भगवान् आदिनाथ ने जो खेती करना और दूसरे धन्धे करना सिखाया वह क्या था? उत्पादन की कला सिखाकर उन्होंने हिंसा को बढ़ाया या अहिंसा की राह बतलाई? उन्होंने ऐसा करके जीवन-दान दिया या पाप-कर्म किया?

इस सम्बन्ध में मुझे आप से यही कहना है कि केवल दान देना ही अहिंसा नहीं है परन्तु यदि कोई रचनात्मक

मनोवृत्ति वाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन मे वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति में सक्रिय सहयोग देता है भूख से तडपते त्रस्त व्यक्तियो के दुख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला बताता है, तो वह भी एक प्रकार का दान है और वह दान भी अहिंसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।*

कल्पना कीजिए—एक मनुष्य नदी मे डूब रहा है। वह तैरना नही जानता, किन्तु आप तैरना जानते हैं और झटपट उसे निकाल देते हैं। इस प्रकार आप जब तब डूबते हुओ का का उद्धार करते रहते हैं, किन्तु किसी को तैरना नही सिखलाते हैं। एक दूसरा व्यक्ति है, जो तैराक है और डूबते हुए को देखते ही निकाल लेता है, साथ ही उसे तैरने की कला भी सिखाता है। इन दोनों मे किस का कार्य अधिक महत्व-पूर्ण है ?

'तैरना सिखाने वाले का।'

बिल्कुल ठीक है, क्योकि तैराक अपने सामने डूबते को तो निकाल सकता है, परन्तु यदि वह व्यक्ति फिर कही अन्यत्र डूब जाए तो कौन निकालने आएगा ? वह कहाँ-कहाँ उसके पीछे लगा रहेगा ? यदि वह तैरने की कला भी उसे सिखा देता है और स्वावलम्बी बना देता है तो वह कही भी नही डूबेगा और सदैव निर्भय रहेगा। वह स्वय तैर सकेगा, दूसरो को

* कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।
—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, २ वक्षस्कार

तैरना सिखाएगा और यथावसर यत्र-तत्र डूबते हुए अन्य व्यक्तियों को भी बचा सकेगा। यदि कोई तैराक दूसरों को तैरना न सिखाएगा और सिर्फ डूबने वालों को पकड़-पकड़ कर निकाला ही करेगा तो डूबने वालों को बचाने की जटिल समस्या कभी हल न होगी।

आपके घर पर कोई स्वधर्मी भाई आया है। वह उस समय बड़े संकट में है क्योंकि उसके घर में अन्न के लाले पड़ रहे हैं। और वह बरोजी से ग्रस्त है। उस अवसर पर आपने उसे तात्कालिक सहायता दी अर्थात्—दो-एक बार भोजन करा दिया। पर, क्या इतना करने मात्र से उसके जीवन निर्वाह की समस्या हल हो गई? उसके सामने दूसरे ही दिन फिर वही भूख की संकटपूर्ण समस्या खड़ी होगी। इसके विपरीत किसी भाई ने उसे दुखी देख कर और दया से प्रेरित होकर किसी काम पर लगा दिया कोई व्यवसाय सिखा दिया और अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। तो पहले की अपेक्षा दूसरा व्यक्ति अधिक उपकारक गिना जाएगा।

इसीलिये देश के नेतागण प्रायः अपने भाषणों में नव-युवकों को अपने देश के महत्त्वपूर्ण उद्योग सीखने की प्रेरणा देते हैं। उद्योगों का विकास करते हैं और देश की आर्थिक तथा खाद्य समस्या को हल करते हैं। इसी को कहते हैं तैरने की कला सिखलाना।

वस्तुतः भगवान् ऋषभदेव ने भी उन युगमियों को तैरने की कला सिखाई थी। उनके समय में मनुष्यों की संख्या बढ़ रही थी। इधर माँ-बाप भी जीवित रहते थे और

मनोवृत्ति वाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन मे वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति में सक्रिय सहयोग देता है भूख से तडपते त्रस्त व्यक्तियो के दुख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला बताता है, तो वह भी एक प्रकार का दान है और वह दान भी अहिंसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।*

कल्पना कीजिए—एक मनुष्य नदी मे डूब रहा है। वह तैरना नही जानता, किन्तु आप तैरना जानते हैं और झटपट उसे निकाल देते हैं। इस प्रकार आप जब तब डूबते हुओ का का उद्धार करते रहते हैं, किन्तु किसी को तैरना नही सिखलाते हैं। एक दूसरा व्यक्ति है, जो तैराक है और डूबते हुए को देखते ही निकाल लेता है, साथ ही उसे तैरने की कला भी सिखाता है। इन दोनो में किस का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है ?

'तैरना सिखाने वाले का।'

बिल्कुल ठीक है, क्योकि तैराक अपने सामने डूबते को तो निकाल सकता है, परन्तु यदि वह व्यक्ति फिर कही अन्यत्र डूब जाए तो कौन निकालने आएगा ? वह कहाँ-कहाँ उसके पीछे लगा रहेगा ? यदि वह तैरने की कला भी उसे सिखा देता है और स्वावलम्बी बना देता है तो वह कही भी नही डूबेगा और सदैव निर्भय रहेगा। वह स्वय तैर सकेगा, दूसरो को

* कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।
—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, २ वक्षस्कार

सङ्कुचित दृष्टिकोण के कारण यह आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हें भोजन नहीं दे सकते थे? जबकि देव और उनका अधिपति स्वयं इन्द्र उनकी आज्ञा मे था। वे आज्ञा देते तो उन्हें भोजन मिलने मे क्या देर लग सकती थी? परन्तु ऐसा करने से युगलों की आवश्यकताएँ तब तक पूरी होती रहती जब तक भगवान् रहते। इसीलिए भगवान् ने सोचा—मेरे जाने के बाद यही द्वन्द्व संघर्ष, लड़ाई-झगड़ा और मारकाट मचेगी। फिर यही समस्या खड़ी होगी। अतएव भगवान् ने उन्हें हाथो से परिश्रम करना सिखाया। उन्होंने कहा—'तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी सृष्टि का सुन्दर निर्माण कर सकते हैं और यह निर्माण तुम्हारे सुखद जीवन का आधार होगा।

इस प्रसंग पर मुझे अथर्व वेद-कालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आ रही है जिसने कहा था —

"अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः।

अर्थात्—"यह मेरा हाथ ही भगवान् है बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढ़ कर है। वास्तव मे हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भंडार है यदि उसकी उपयोगिता को भली-भाँति समझ लिया जाए।

इस प्रकार भगवान् ने युगलियो के हाथो से ही उनकी अपनी समस्या सुलझाई। मै तो यहाँ तक कहता हूँ—भगवान् ने केवल उन युगलियो की समस्या को ही नही सुलझाया बल्कि आज के मानव-जीवन की जटिल समस्या को भी अधिकांशतः हल किया है। भगवान् की इस अपरिमित अनुकम्पा के प्रति

उधर सन्तान की सख्या मे भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। केवल एक जोडा सन्तान उत्पन्न होने का प्राकृतिक नियम उस समय टूट गया था, फलत सन्तानें बढ चली थीं। स्वय ऋषभदेव भगवान् के सौ पुत्र और बहुत-से प्रपुत्र थे। परन्तु दूसरी ओर कल्प-वृक्षो मे, अर्थात्—उत्पादन के साधन में कमी होती जा रही थी। यदि उस समय का इतिहास पढेंगे तो आपको मालूम होगा कि जिन युगलियो को पहले वैर-विरोध ने कभी छुआ तक न था, वे भी खाद्य के लिए आपस मे गाली-गलौज करने लगे, जिससे परस्पर द्वन्द्व होने लगे थे। लाखो वर्षो तक कल्प-वृक्षो का बँटवारा नही हुआ था, किन्तु अब वह भी होने लगा और वृक्षो पर अपना-अपना पहरा विठाया जाने लगा। एक जत्था दूसरे जत्थे के कल्प वृक्ष से फल लेने आता तो सघर्ष हो जाता। एक वर्ग कहता—यह कल्प-वृक्ष मेरा है, मेरे सिवा इसे दूसरा कौन छू सकता है ? दूसरा वर्ग कहता—यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नही ले सकता। उस समय सब के मुख पर यही स्वर गूँज रहा था—मै पहले खाऊँगा। यदि तू इसे ले लेगा, तो मै क्या खाऊँगा ?

इस प्रकार सग्रह-वृत्ति बढने लगी थी। उस समय यदि भगवान् ऋषभदेव सरीखे मानवता के कुशल कलाकार प्रकट न होते, तो युगलिये आपस में लड-झगड कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हे मानव-जीवन की सच्ची राह बतलाई और अपने सदुपदेश से उनके सघर्ष को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

सङ्कुचित दृष्टिकोण के कारण यह आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हें भोजन नहीं दे सकते थे? जबकि देव और उनका अधिपति स्वयं इन्द्र उनकी आज्ञा में था। वे आज्ञा देते तो उन्हें भोजन मिलने में क्या देर लग सकती थी? परन्तु ऐसा करने से भूखों की आवश्यकताएँ तब तक पूरी होती रहती जब तक भगवान् रहते। इसीलिए भगवान् ने सोचा—मेरे जाने के बाद वही द्वन्द्व संघर्ष लड़ाई झगड़ा और मारकाट मचेगी। फिर वही समस्या खड़ी होगी। अतएव भगवान् ने उन्हें हाथों से परिश्रम करना सिखाया। उन्होंने कहा—'तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी सृष्टि का सुन्दर निर्माण कर सकते हैं और यह निर्माण तुम्हारे सुखद जीवन का आधार होगा।

इस प्रसंग पर मुझे अथर्व वेद-कालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आ रही है जिसने कहा था —

"अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तर।

अर्थात्—"यह मेरा हाथ ही भगवान् है बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढ़ कर है। वास्तव में हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भंडार है यदि उसकी उपयोगिता को भली-भाँति समझ लिया जाए।

इस प्रकार भगवान् ने युगलियों के हाथों से ही उनकी अपनी समस्या सुलझाई। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ—भगवान् ने केवल उन युगलियों की समस्या को ही नहीं सुलझाया बल्कि आज के मानव-जीवन की जटिल समस्या को भी अधिकांशतः हल किया है। भगवान् की इस अपरिमित अनुकम्पा के प्रति

किन शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की जाए ? मानव-जाति के उस महान् त्राता की प्रतिभा और दयालुता का वर्णन किन शब्दो में किया जाए ? जब तक मनुष्य जाति इस पृथ्वी तल पर मौजूद रहेगी और सारी मानव सृष्टि मासभोजी नही हो जाएगी, भगवान् की उस असीम दया के प्रति आभारी रहेगे ।

प्राय हमारे कई साथी कहते हैं—खेती तो महारभ है। क्योकि भगवान् स्वय गृहस्थाश्रम मे थे, इसलिए उन्होने जनता को महारभ की शिक्षा दी ।

पर, हमारा दिल इसे स्वीकार करने को तैयार नही है। गृहस्थाश्रम मे होने के कारण यदि उन्होने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओ को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होने क्यो नही कह दिया कि ये लाखो-करोडो पशु-पक्षी मौजूद हैं। इन्हे मारो और खा जाओ। उन्होने शिकार करके जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यो नही दी ? पशु-पक्षियो को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ मानने वाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते है ?

पशुओ को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियो को मार कर खाने की, अथवा दोनो उपायो को यथा-आवश्यकता प्रयोग मे लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नही किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए ? वह

नहीं है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव मे खेती महारम्भ नहीं है अल्पारम्भ है। भगवान् ने अल्पारम्भ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा—यदि ऐसा प्रयोग न किया गया जनता को अल्पारम्भ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारम्भ की ओर अग्रसर हो जाएगी। लोग आपस मे लड़-झगड़ कर मर मिटेंगे एक-दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारम्भ की अनिवार्य एव व्यापक सम्भावना को खेती-बाड़ी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य-कर्म की सही दिशा दिखाई। मास खाना शिकार खेलना आदि अनार्य-कर्म भगवान् ने नहीं सिखाए, क्योंकि वे हिंसात्मक महारम्भ के प्रतीक थे जबकि कृषि-उद्योग अहिंसात्मक अल्पारम्भ का प्रतीक है।

कई साथियो का यह भी कहना है—जिस समय भगवान् युगलियो को खेती करना सिखा रहे थे उस समय दौंय करते बखत (खलिहान में धान्य के सूखे पौधो को कुचलवाते समय) बैल अनाज खा जाते थे। अत भगवान् ने बैलो के मुँह पर मुसीका (छीका) बाँधने की सलाह दी। उसी के कारण भगवान् को अन्तराय-कर्म का बन्धन हुआ फलत उन्हें एक वर्ष तक आहार नहीं मिला। परन्तु यह एक कल्पना है। इसके पीछे किसी विशिष्ट एव प्रामाणिक ग्रन्थ का आधार भी नहीं मालूम होता। क्योंकि विवेक के अभाव-वश मनुष्य की सोचने की बुद्धि प्राय कम हो जाती है अत इस तरह की मनगढन्त कहानियाँ गढ ली जाती है। यदि भगवान् एक वर्ष तक खाने के फेर मे पडे रहते तो एकनिष्ठ तपस्या

किन शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की जाए ? मानव-जाति के उस महान् त्राता की प्रतिभा और दयालुता का वर्णन किन शब्दो मे किया जाए ? जब तक मनुष्य जाति इस पृथ्वी तल पर मौजूद रहेगी और सारी मानव सृष्टि मासभोजी नही हो जाएगी, भगवान् की उस असीम दया के प्रति आभारी रहेगे ।

प्राय हमारे कई साथी कहते हैं—खेती तो महारभ है। क्योकि भगवान् स्वय गृहस्थाश्रम में थे, इसलिए उन्होने जनता को महारभ की शिक्षा दी ।

पर, हमारा दिल इसे स्वीकार करने को तैयार नही है । गृहस्थाश्रम मे होने के कारण यदि उन्होने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओ को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे । फिर उन्होने क्यो नही कह दिया कि ये लाखो-करोडो पशु-पक्षी मौजूद हैं । इन्हे मारो और खा जाओ । उन्होने शिकार करके जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यो नहीं दी ? पशु-पक्षियो को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ मानने वाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं ?

पशुओ को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियो को मार कर खाने की, अथवा दोनो उपायो को यथा-आवश्यकता प्रयोग में लाने की शिक्षा दे सकते थे । परन्तु भगवान् ने ऐसा नही किया । इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए ? वह

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

अर्थात्— 'श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है जनता उसी को प्रमाण मान लेती है और उसी का अनुकरण करने लगती है।

ग्रन्थो मे वर्णन आता है कि जिस तीर्थकर ने अपने जीवन-काल मे अधिक से अधिक समय का जितना तप किया है उसके अनुयायी साधक भी उतनी ही सीमा तक तप कर सकते हैं। भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा छह मास तक सुदीर्घ तप किया था अत उनके शिष्य भी छह महीने तक का तप कर सकते है उससे ज्यादा नही। भगवान् ऋषभदेव ने सब से बड़ा तप अर्थात्—एक वर्ष तक का किया था। यदि एक वर्ष तक के तप की मर्यादा न होती तो आज यह 'वर्षी' तप कैसे प्रचलित होता ? तनिक गहराई से विचार तो कीजिए—क्या भगवान् महावीर सात महीने की तपस्या नही कर सकते थे ? अवश्य कर सकते थे। पर, उन्होने सोचा मै जितना ही आगे बढ़ूँगा मेरे शिष्य भी मेरा आग्रह पूर्वक अनुकरण करेंगे और वे व्यर्थ ही क्लेश मे पड़ जाएँगे। ऐसा सोचकर भगवान् महावीर ने छह महीने का तप किया।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी एक वर्ष का ही तप किया था। आहार के लिए भटकते नही रहे। यदि प्रति दिन आहार के लिए भटकते फिरते तो वह तप ही कैसे कहलाता ? वह अन्तराय था या तप था ? इस दृष्टि से मै समझता हूँ आपके मन का समाधान हो जाना चाहिए।

कैसे कर पाते ?

आचार्य अमरचन्द्र ने पद्मानन्द महाकाव्य के रूप में जो ऋषभ-चरित्र लिखा है, उसके एक-एक अध्याय को जब आप पढेंगे तो आनन्द-विभोर हो जाएँगे। उन्होने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव के साथ चार हजार अन्य लोगो ने भी दीक्षा ली थी। उन्हे मालूम हुआ कि भगवान् तो कुछ बोलते नही है, कहाँ और कैसे भोजन करे, कुछ मालूम ही नही होता है। निस्पृह भाव से वन मे ध्यानस्थ खडे हैं। तब वे सभी घबराकर पथ-भ्रष्ट हो गए, साधना के पथ से विचलित हो गए। अस्तु, भगवान् ने देखा कि भूख न सह सकने के कारण सारे साधक गायब हो गए हैं। फलत मुझे अब आने वाले साधको के मार्ग-प्रदर्शनार्थ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि भगवान् चाहते तो क्या एक वर्ष के बदले दो वर्ष और तप साधना नही कर सकते थे ? पर, अन्य साधारण साधकों के हित की दृष्टि से ही वे आहार के लिए चले*, क्योकि जनता महापुरुष का पदानुसरण करती है। गीता मे भी योगेश्वर कृष्ण के कहा है —

---

* गृह्णामि यदि नाहार, पुनरद्याऽप्यभिग्रहम्,
तनोमि तपसैव स्यात्, प्रशम कर्मणामिति।
तदा कच्छादय इव, निराहारतयाऽर्दिता,
भग्नव्रता भविष्यन्ति भविष्यन्तोऽपि साधव।
एव विचिन्त्य चित्तेन, चिर प्रचलित प्रभु,
निर्दोषभिक्षामाकाङ्क्षन् पुर गजपुर ययौ।
—पद्मानन्द महाकाव्य १३। २००-२०२

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

अर्थात्—"श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है जनता उसी को प्रमाण मान लेती है और उसी का अनुकरण करने लगती है।

ग्रन्थों मे वर्णन आता है कि जिस तीर्थंकर ने अपने जीवन-काल मे अधिक से अधिक समय का जितना तप किया है उसके अनुयायी साधक भी उतनी ही सीमा तक तप कर सकते हैं। भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा छह मास तक सुदीर्घ तप किया था अतः उनके शिष्य भी छह महीने तक का तप कर सकते हैं उससे ज्यादा नहीं। भगवान् ऋषभदेव ने सब से बड़ा तप अर्थात्—एक वर्ष तक का किया था। यदि एक वर्ष तक के तप की मर्यादा न होती तो आज यह 'वर्षी' तप कैसे प्रचलित होता ? तनिक गहराई से विचार तो कीजिए—क्या भगवान् महावीर सात महीने की तपस्या नहीं कर सकते थे ? अवश्य कर सकते थे। पर, उन्होने सोचा मै जितना ही आगे बढ़ूं गा मेरे शिष्य भी मेरा आग्रह मूलक अनुकरण करेंगे और वे व्यर्थ ही क्लेश मे पड़ जाएँगे। ऐसा सोचकर भगवान् महावीर ने छह महीने का तप किया।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी एक वर्ष का ही तप किया था। आहार के लिए भटकते नहीं रहे। यदि प्रति दिन आहार के लिए भटकते फिरते तो वह तप ही कैसे कहलाता ? वह अन्तराय था या तप था ? इस दृष्टि से मैं समझता हूँ आपके मन का समाधान हो जाना चाहिए।

इतने विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने खेती-बाड़ी आदि के जो भी उद्योग-धन्धे सिख-लाए, वे सभी आर्य-कर्म थे, अनार्य-कर्म नही। उन्होंने विवाह प्रथा तो चलाई पर वेश्यावृत्ति नही। खेती सिखाई, पर शिकार नही। इसके अतिरिक्त उन्होने जो कुछ भी सिखाया, वह सब प्रजा के हित के लिए ही था।

साराश मे यही कथन पर्याप्त समझता हूँ कि कोई भी अहिंसावादी महापुरुष किसी भी परिस्थिति मे महारम्भ के कार्य की शिक्षा नही दे सकता। एक महापुरुष कहलाने वाला व्यक्ति यदि ऐसे कार्य की शिक्षा देता है तो अपने अनुयायियो के साथ वह भी नरक का राही बनेगा, क्योकि हजारो-लाखो व्यक्ति उसके अनुकरण मे तदनुरूप काम करते रहते हैं।

अस्तु, मै स्पष्ट रूप से चेतावनी देना चाहता हूँ कि व्यर्थ के कदाग्रह मे पडकर लोग भगवान् ऋषभदेव के उज्ज्वल चरित्र और महान् जीवन पर प्रकारान्तर से कीचड न उछाले। उन्हे महारभ का शिक्षक कहना, उनकी महानतम आसातना करना है। तीर्थङ्कर की आसातना करने से बढ कर दूसरा पाप-कर्म और क्या हो सकता है?

———

— ६ —

अहिंसा और कृषि

(प्रकीर्णक प्रश्न)

पिछले प्रकरणों में जिस विषय की चर्चा की जा रही थी और जिस विषय पर आपके साथ काफी विचार-विनिमय भी होता रहा है उस विषय को लेकर यहाँ और बाहर भी कुछ हलचल-सी दिखाई देती है। अतः मन में सोचने की कुछ गर्मी-सी पैदा हुई है। जब किसी भी शास्त्रीय विषय को लेकर पक्ष या विपक्ष में कोई चर्चा चल पड़ती है तो समझना चाहिए कुछ प्रतिक्रिया हो रही है। ऐसी चर्चा से और उत्तेजना से यदि वह सही तरीके से हो तो विचारों की जड़ता दूर होती है विचारों में गति आती है और ज्ञान की वृद्धि होती है।

कृषि के सम्बन्ध में अब तक जो चर्चा की गई है उसे अब समाप्त करना चाहते हैं। यह जो मूलतः प्रवचन या विवेचन है वह व्याख्यान के सीधे तरीके पर नहीं होगा। आज मैं उन छुटपुट प्रश्नों पर ही प्रकाश डालूँगा जो अब तक की चर्चा करने से रह गये हैं। आप लोगों के दिमाग में

भी जो प्रश्न आए हो, उन्हे आप नि सकोच भाव से व्यक्त कर सकते हैं, साक्षात् पूछ कर या पर्चे मे लिख कर आप उन्हे प्रकट कर सकते हैं । मैं उन प्रश्नो पर भी चर्चा करूँगा । जिस किसी भी विचार को लेकर आपके मन मे शका रह गई हो, या कोई प्रश्न उलझा रह गया हो, उसे नि सकोच भाव से प्रकट कर देना चाहिए । किसी सकोच-वश यदि कोई शका अथवा भ्रम आपके मन और मस्तिष्क में रह गया, तो वह नई उलझन पैदा करेगा ।

व्याख्यान का मतलब रिकार्ड की तरह लगातार बोलते जाना नही है कि आप कहे—ठहरिए, और मैं बिना ठहरे बोलता ही चला जाऊँ । कम से कम मेरी स्थिति रिकार्ड जैसा नही है । मैं बीच-बीच में विचार भी करूँगा, नया प्रश्न सामने आने पर उसे सुनूंगा भी और उसका समाधान करने का भी प्रयत्न करूँगा ।

मेरे सामने आज एक प्रश्न उपस्थित किया गया है । यद्यपि वह एकदम नया नही है, उसके सम्बन्ध में सामान्य रूप से चर्चा की जा चुकी है और मैं अपना दृष्टिकोण या जैन-धर्म का दृष्टिकोण बतला भी चुका हूँ, फिर भी जब प्रश्न सामने आया है तो दुबारा उस पर चर्चा करना आवश्यक हो गया है ।

भगवान् ऋषभदेव ने कृषि तथा उद्योग-धन्धो की शिक्षा दी और विकट परिस्थिति मे उलझी हुई उस वक्त की सतप्त जनता को अपने हाथो अपना जीवन-निर्माण करने की कला सिखलाई । भगवान् ने उस समय जो कुछ सिखलाया, उसके लिए हम

आज गौरव का अनुभव करते हैं। जब ऐसे प्रसग पडते है तो आप और हम कलकित नही होते अपितु गौरवान्वित ही होते है। जब कभी भी भारत के विद्वानो के सामने चाहे वे राजनीतिक नेता रहे हो या सामाजिक नेता इस प्रसग को रखा है तो उनके हृदय मे मैंने जैन-धर्म के प्रति अगाध आदर और गौरव का भाव जागृत होते देखा है। विवेक और विचार की ज्योति चमकते देखी है। इस रूप मे मै कहता हूँ कि भगवान् ऋषभदेव का जीवन जैन-समाज को इतना गौरवशाली जीवन मिला है कि उसकी उद्घोषणा केवल बीस-तीस के सीमित दायरे मे ही नही करना चाहिए, अपितु अखिल विश्व मे घर-घर उस पवित्र वाणी को पहुँचाना चाहिए। जहाँ-जहाँ हमारी यह आवाज पहुँचेगी हमे नीचा नही ऊँचा ही दिखलाएगी। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि वह आपके गौरव को चार चाँद लगा देगी और उत्थान के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर देगी।

जो लोग मानव-जीवन का निर्माण करने और सुधारने की बात सोचते हैं जब उन्हे जैन-धर्म की तरफ से यह प्रकाश मिलता है तो वे गद्‌गद् हो जाते हैं और मुक्त कठ से स्वीकार करते हैं कि जैन-धर्म ने समाज की रूढ़ियो का उन्मूलन किया है, समाज को प्रगति के पथ पर प्रशस्त किया है और भारत की महान् सेवाएँ की है।

जैन-धर्म गाँव की तलैया नही है। गाँव के बाहर की तलैया में इधर-उधर से आकर गन्दा पानी जमा हो जाता है और फिर वह तलैया सड़ने लगती है। वह सूख सकती है

और अपनी सडाद से आस-पास के लोगो का सर्वनाश भी कर डालती है। हाँ, तो एक वह तलैया है, जिसे बस अवरुद्ध ही रहना है और निरन्तर सडते ही रहना है, कभी साफ निर्मल नही होना है। और दूसरी ओर गगा का वहता हुआ निर्मल पानी है। गगा जहाँ भी जाएगी, लोगो को सुख-सुविधा भेट करती जाएगी। उसे सडना नही है, वदवू नही फैलाना है, अपितु लोगो को सुखद जीवन ही देना है।

हाँ, तो जैन-धर्म गगा का वहता हुआ निर्मल प्रवाह है। यदि उसे चारो ओर से समेट कर, एकागी वनाकर एक सकुचित दायरे मे रोककर रखा जाएगा तो वह अवश्य सडेगा, फलत उसमे चमक एव स्वच्छता नही रह जाएगी। वह तो गगा के समान वहता हुआ पानी होना चाहिए और इतना स्वच्छ होना चाहिए कि जितना-जितना जनता के सामने ले जाया जाए, लोग प्रसन्न हो जाएँ और उसे इज्जत की निगाह से देखे। परन्तु ऐसा करते समय हम उसकी ठोस सचाइयो को अपने सामने रखे और उन्ही के वल पर उसे और अपने आपको आदर का पात्र वनाएँ।

भगवान् ऋषभदेव जैसा आदर्श जीवन यदि किसी दूसरे समाज के सामने होता तो धूम मच जाती और वह समाज उसके लिए गौरव का अनुभव करता। किन्तु वह आपको मिला है और उनको मिला है जो दुर्भाग्य से आज भी यह कहने को उतावले हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थ दशा मे जो कुछ भी किया वह सब ससार का काम था। उन्होने कोई सत्कर्म नही किया। वे तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस

करते है कि उन्होंने गृहस्थ-दशा मे विवाह भी किया राजा भी बने और ससार की समस्त क्रियाएँ भी की।

ऐसा कहने वाले घर मे रखी हुई सुन्दर-सुन्दर वस्तुओ की ओर न देखकर गदी मोरियाँ ही तलाश करते है। यह कहना कितना भ्रमपूर्ण है कि भगवान् ने चूँकि गृहस्थवास मे ही यह कहा है साधु होकर नही इसलिए वह पाप था और गुनाह था। उनमे जो अपरिमित बुराइयाँ उस समय मौजूद थी उनमे से यह भी एक थी। यह तो ससार का मार्ग है जो भगवान् ने बता दिया है।

क्या यह भाषा जैन-धर्म की भाषा है? श्वेताम्बर दिगम्बर एव स्थानकवासियो की भाषा है या किसी पड़ौसी समाज की भाषा है? यह जो कहने का ढग है वह आपका है या और किसी का है? क्या यह प्राचीन जैन-धर्म की सास्कृतिक भाषा है या कुछ वर्षो से जो नई परम्परा चल पड़ी है उसके बोलने की आधुनिक भाषा है?

खोज करने पर मालूम हुआ कि यह उन नए विचारको की भाषा है जो कहते हैं कि यह तो भगवान् का जीतकल्प था करना ही पड़ता। अब प्रश्न सामने आता है कि उन्होने जो कर्षी काम किया वह किस अवस्था मे किया? उसका उत्तर है कि गृहस्थावस्था मे ही किया और वह भी किया क्या देना ही पड़ा! मैं 'पड़ा' शब्द को जैन-धर्म की ओर से न बोलकर उन नए विचारको की तरफ से बोल रहा हूँ जो यह कहते है कि 'करना पड़ा' और वह उनका 'जीतकल्प था'। अब जो ऐसी असगत भाषा का प्रयोग करते है तो मै भी उनकी

ओर स मात्र निर्देशन ही कर रहा हूँ ।

वे तो ऐसा कहते ही है, पर क्या आप भी ऐसा ही कहते है ? आप तो तीर्थङ्करो के द्वारा दिए हुए वर्षी दान की महिमा गाते हैं, उसके प्रति गौरव का अनुभव करते हैं और मानते है कि भगवान् लगातार वर्ष भर दान देते रहे और इस रूप मे उन्होने जनता की बडी भारी सेवा की है। परन्तु वे उस दान को धर्म नही कहते । उनका कहना है, गृहस्थो मे रहने जैसे विवाह किया, राजा बने, वैसे ही दान भी दिया । विवाह करना धर्म नही हैं, राजा बनना धर्म नही है, उसी प्रकार दान देना भी धर्म नही है ।

अतीत की कुछ बातो को आप प्राय सुनते रहते है और ठीक ही सुनते है कि भगवान् महावीर ने अपने माता-पिता की कितनी बडी सेवा की ? पर इसके लिए भी उनकी ओर से उसी भाषा का प्रयोग किया जाता है कि वे गृहस्थवास मे थे, अत सेवा करनी ही पडी । साथ ही यह भी कहते है कि माता-पिता की सेवा मे धर्म है, तो साधु बनकर भी क्यो नही की ? इससे सिद्ध है कि सेवा करना ससार का कार्य है और उससे पाप का ही बन्ध होता है ।

यदि आप भी इसी भाषा का प्रयोग करते हैं, अर्थात् तीर्थङ्करो के वर्षी दान मे और माता-पिता की सेवा मे यदि आप भी एकान्त पाप मानते हैं तो यही कहना पडेगा कि फिर उनमे और आप मे क्या अन्तर है ? बस फिर तो झगडा सिर्फ ऊपर के शब्दो पर है किन्तु अन्दर मे बात एक ही हैं । आगे वे यह भी कहते है कि यदि एक वर्ष तक दान दिया

तो बारह वर्ष तक घोर उपसर्गों और परीषहों के रूप मे उसका कटुक फल भी भोगना पड़ा। इस प्रकार भगवान् महावीर को जो विभिन्न प्रकार के कष्ट सहने पड़े वे सब दान के फल उन्होंने बतला दिए है। पर आपका मन्तव्य तो इससे सर्वथा भिन्न है न ?

जीव रक्षा के सम्बन्ध मे भी उनका यही अभिमत है कि भगवान् महावीर ने जब गोशालक को बचाया तब वे छद्मस्थ थे केवल ज्ञानी होने पर नही बचाया। अत मरते जीव को बचाना भी एकान्त पाप है।

इसी प्रकार आप भी भूल से कहते है कि भगवान् ऋषभदेव ने कृषि आदि कलाओं का जो उपदेश दिया वह गृहस्थवास मे ही दिया था केवल-ज्ञानी होकर नही अतएव कृषि मे महारंभ है—घोर पाप है।

उपर्युक्त विचार विषमताओ का अध्ययन करने पर यही उचित जान पड़ता है कि इस सम्बन्ध मे साफ-साफ निर्णय हो जाना चाहिए। मेरे और दूसरे साथी विचारको के मन मे किसी प्रकार का सन्देह नही है। परन्तु आप एक भ्रान्त विचार शृंखला मे बद्ध है। छद्मस्थ अवस्था मे किये हुए तीर्थङ्करो के कृत्यो को—दान को माता पिता की सेवा को और जीव रक्षा आदि सत्कार्यों को—आप पाप नही मानते हैं। परन्तु जब कृषि का प्रश्न उपस्थित होता है तो तुरन्त पाप मानने वालो की पंक्ति मे खड़े हो जाते है। क्या यही निष्पक्ष निर्णय की स्थिति है ? नही है आपको सही निर्णय पर आना चाहिए।

यदि तीर्थङ्करो ने एक वर्ष तक दान दिया तो बड़ा भारी पुण्य किया, सत्कर्म किया, किन्तु समस्त आगम-साहित्य मे एक भी ऐसा शब्द नही है कि उन्होने किस उद्देश्य से दिया। कोई विशेष स्पष्टीकरण भी नही है कि उक्त दान के पीछे उनका क्या लक्ष्य था, कौन-सा सकल्प था और क्या भावनाएँ थी ? अस्तु, हम आगम और आगमेतर साहित्य के विश्लेषण द्वारा जाँचते है कि उक्त वर्षी-दान की पृष्ठ-भूमि मे भगवान् की सद्भावना ही थी, दुर्भावना नही। और जब हम कहते है कि भगवान् के दान के पीछे जनता के हित की भावना थी, तो यह जैन-धर्म की प्रकृति के अनुरूप हमारी ओर से किया हुआ प्रामाणिक अनुमान है, परन्तु कृषि के सम्बन्ध मे तो आगम मे स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है।

इस सम्बन्ध मे जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति का पाठ भी आपके सामने पेश कर चुका हूँ और वह पाठ है—'पयाहियाए उवदिसई।' अर्थात्—भगवान् ने प्रजा के हित के लिए, सुख-सुविधा के लिए, कृषि आदि का उपदेश दिया था। फिर भी आप कृषि को महापाप मे गिनते हैं ? ऐसी स्थिति मे शास्त्र की आवाज कुछ और है और आपकी आवाज कुछ दूसरे ही ढग की है।

अभिप्राय यही है कि तीर्थंकरदत्त दान के सम्बन्ध मे आगम मे कोई ऐसा स्पष्टीकरण नही है कि—वह किस लिए दिया गया ? फिर भी उसे आप सत्कर्म या धर्म समझते है। किन्तु कृषि के सम्बन्ध मे, जबकि प्रामाणिक स्पष्टीकरण

मौजूद है तब भी आप उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। यदि आपका निर्णय यही है कि तीर्थंकरों ने छद्मस्थ दशा में जो कुछ भी किया है वह सब पाप था अधर्म था और प्रजा के हित के लिए की हुई उनकी प्रवृत्ति भी पापमय थी तब तो आपको निश्चित रूप से दूसरी कतार में खड़ा हो जाना चाहिए। वामपक्ष वालों के लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

परन्तु आपका यह निर्णय निष्पक्ष निर्णय नहीं कहलाएगा। ऐसा मनमाना निर्णय कर लेना तीर्थंकर भगवान् की पवित्र प्रेरणा पर प्रतिक्रियावादी प्रतिबन्ध लगाना है और उनकी विशुद्ध आत्मा को अपमानित करना है। विचार विषमता और संकीर्णताओं से अपने मन एवं मस्तिष्क को शुद्ध बनाकर आपको आस्तिक भाव से यह जान लेना चाहिए कि तीर्थंकर की आत्मा अनेक जन्मों के संचित पवित्र संस्कारों को लेकर ही अवतीर्ण होती है अस्तु उनके सम्बन्ध में यह समझ लेना कि जनता के अहित के लिए वे प्रवृत्ति करते हैं या जगत् को पाप सिखाने के लिए कोई कुत्सित कार्य करते हैं भीषण अज्ञान है। यह तीर्थङ्कर का अवर्णवाद है।

गृहस्थावस्था में उनके राजा बनने को एकान्त पाप बतलाना भी गलत है। विवेक बुद्धि से सोचना यह चाहिए कि यदि वे राजा बने तो किस उद्देश्य से बने ? दुनिया का आनन्द लूटने के लिए, भोग-वासना में लिप्त होने के लिए, और सिंहासन के राजसी सुख का आस्वादन करने के लिए

राजा बने ? अथवा प्रजा मे फैली हुई अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीति-मर्यादा को कायम करने के लिए, और प्रजा मे फैली हुई कुरीतियो का उन्मूलन करने के लिए ही राजा बने ?*

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—जैसे बडी मछली छोटी मछलियो को निगल जाती है, उसी प्रकार कभी बडे आदमी भी अपनी स्वार्थ-क्षुधा में छोटो को निगल जाते है। प्रश्न आता है, क्या तीर्थङ्कर भी मनुष्य समाज की इस विषमता को दूर करने के लिए राजा नही बने ? राज-सिंहासन को स्वीकार करने मे जो धार्मिक दृष्टिकोण है, उसे तो आप ध्यान में नही लाते और अपनी मनो-भावनाओ के अनुरूप यह कल्पना कर बैठते हैं कि वे राजा बने तो केवल भोग-विलास की परिपूर्ति लिए। उन लोकोत्तर महापुरुषो का राजदड ग्रहण करना, वर्त्तमान युग के राजा महाराजाओ से

---

* शिष्टानुग्रहाय, दुष्टनिग्रहाय, धर्मस्थितिसंग्रहाय च, ते च राज्य-स्थितिश्रिया सम्यक प्रवतमाना क्रमेण परेपा महापुरुपमार्गोपदेशकतया चौर्यादिव्यसननिवर्तनतो नारकातिर्येर्यानिवारकतया ऐहिकामुष्मिकसुख-साधकतया च प्रशस्ता एवेति। महापुरुपप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वव्याप्ता वहुगुणाल्प दोपकार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति। स्थानाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि—'धम्म च ण चरमाणस्स पच निस्सा ठाणा पण्णत्ता, तजहा—छक्काया १ गणे २ राया ३ गाहावई ४ सरीर ५ मित्याद्यालापकवृत्तौ राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा नरपतिस्तस्य धर्मसहायकत्व दुष्टेभ्य साधुरक्षणादित्युक्तमस्तीति परम-करुणापरीतचेतस परमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रितययुक्तस्य भगवतो राजधमप्रवतकत्वे न कापि अनौचिती चेतसि चिन्तनीया। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, दूसरा वक्षस्कार।

सर्वथा भिन्न था अर्थात्—वे प्रजा के शोषक नहीं पोषक थे! शासक नहीं सेवक थे!! उन्होंने सिंहासन को स्वीकार करके प्रजा में होने वाले अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार किया बड़ों के द्वारा होने वाले छोटे आदमियों के अनैतिक शोषण का अन्त किया और जनता की अनेक प्रकार से सेवाएँ की। इन सब बातों पर क्यों धूल फेंकने का दुस्साहस करते है?

इस प्रकार अपने दृष्टिकोण को साफ करना होगा। भगवान् ने जब दान दिया तब उनमें तीन ज्ञान थे चौथा ज्ञान नहीं था। और जब कृषि का उपदेश दिया तब भी तीन ही ज्ञान थे। इन पवित्र ज्ञानों के होते हुए वे कृषि या दान के रूप में क्रोध मान माया या लोभ के वश प्रवृत्ति नहीं कर सकते थे। उन्होंने इस ओर जो प्रवृत्ति की है उसमें उनकी अपनी निजी वासना-पूर्ति का कोई लक्ष्य नहीं था केवल प्रजा के कल्याण की ही पुण्यमयी भावना थी। ऐसी स्थिति में जो लोग उनके दान को एकान्त पाप और कृषि को महारंभ कहते है उन्हें गहरा विचार करना होगा।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखनी होगी। जो कार्य महारंभ या महापाप का होता है, उसका उपदेश करने वाला भी महारंभी और महापापी होता है। एक मांस खाने वाला है और दूसरा मांस खाने का उपदेश देने वाला है। तो खाने वाला ही नहीं उपदेश देने वाला भी महापापी है। अत जब खेती करने वाला महापापी है तो उसका उपदेश देने वाला भी महापापी क्यों नहीं होगा? बल्कि स्वयं मांस खाने की तो कोई सीमा हो सकती है पर उपदेश की

कोई सीमा नही होती । उपदेशक के उपदेश मे न जाने कितने लोग, कहाँ-कहाँ और कब तक माँग खाएँगे ! अतएव पापोपदेश देने वाला, पाप करने वाले से भी बड़ा पापी होता है। क्या आप कभी ऐसा मानने के लिए भी तैयार है कि भगवान् 'महारभी' और 'महापापी' थे ? यदि ऐसा मानने को तैयार नही हैं तो निर्णय होने मे तनिक भी देर नही लगेगी । यदि आपका अन्त करण स्वच्छ है और आपकी आत्मा पक्षपात मे मग्न नही है तो आपको यह समझने मे देर नही लगनी चाहिए कि—"शुद्ध जनहित के लिए भगवान् ने जो प्रवृत्ति की है, उसमे महापाप या एकान्त पाप कदापि नही हो सकता ।"

हमने जितना शास्त्र-अध्ययन किया है, वहाँ हमे सर्वत्र भगवान् ऋषभदेव की महान् करुणा, दया, प्रेम ही मिला है। जो युगलिये आपस में लड रहे थे, अनार्यो के रूप में परिवर्तित हो रहे थे और पशुओ को मार कर खाने की ओर अग्रसर हो रहे थे, उन्हे भगवान् ने कृषि की शिक्षा दी और इस प्रकार उन्हे महारभ से अल्पारभ की ओर लाए ।

अकर्म-भूमि मे सभी लोग युगलिया थे । उस समय कोई अनार्य नही था । फिर आर्य और अनार्य का यह भेद क्यो हो गया ? कुछ देश अनार्य क्यो हो गए ?

कोई कह सकता है, आर्य-भूमि मे रहने के कारण लोग आर्य हो गए और अनार्य-भूमि मे रहने वाले अनार्य रह गए। परन्तु यह समाधान युक्ति-सगत नही है । जो लोग भूमि मे भी आर्यत्व और अनार्यत्व की कल्पना करते हैं, मै समझता

है कि उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि—जिनको जीवन के अच्छे साधन मिल गए जिनके पास कृषि का सन्देश पहुँच गया और जिन्होंने उसे ग्रहण कर लिया वे आर्य रहे। और जहाँ यह सन्देश नहीं पहुँचा वहाँ भूख से पीड़ित लोगों ने पशु मारकर खाना आरम्भ कर दिया मांस खाकर अपने पेट का गड्ढा भरने लगे फलत वे अनार्य होते गए।

भगवान् ने कृषि की शिक्षा आर्य बनाने के लिए दी या अनार्य बनाने के लिए? यदि अनार्य बनाने के लिए ही खेती सिखाई तो ऐसी क्या मजबूरी थी कि दुनिया को अनार्य बनाया जाए? यह कौन सा जीतकल्प है या तीर्थङ्कर कल्प है कि उस भूखी जनता को महारम्भ के कुमार्ग पर और महापाप के गाढ़ अन्धकार में धकेल दिया जाए!

नहीं अनन्त करुणा के सागर तीर्थङ्कर ऐसा तो कदापि नहीं कर सकते थे। उन्होंने तो पथ भ्रष्ट जनता को ठीक राह बतलाई है। वस्तुत वे तो मांसाहार के कुमार्ग की ओर जाती हुई जनता को शाकाहार की ओर ही लाए। इस सिद्धान्त को ठीक तरह न समझने के कारण ही हमारी दृष्टि विपरीत दिशा की तरफ जाती है।

आज हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह भी है कि साधुओं को इस सम्बन्ध में कहने या विवेचना करने की क्या आवश्यकता है? आइए, इस प्रश्न पर भी थोड़ा-सा विचार कर लें।

पुत्र को माता पिता की सेवा का उपदेश देना दान का

व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है ? मै व्याख्यान नही दूँगा तो आप घर से यहाँ तक आएँगे भी नही, फलत आने-जाने का आरम्भ भी नही होगा। जब मै व्याख्यान देता हूँ तभी तो आप आते हैं। फिर तो यह आरम्भ मेरे व्याख्यान से ही सम्बन्धित हुआ न ? जब आप साधु-दर्शन को जाते हैं और प्रवचन सुनते हैं तो इस विषय मे क्या मानते हैं ? साधु के पास आने मे हिंसा हुई है, किन्तु जो प्रवचन सुना है, उपदेश सुना है, उससे तो धर्म हुआ। उस धर्म का भी कोई अर्थ है या नही ?

भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक कितने समारोह के साथ गया था ? ऐसा करने मे यदि एक अश मे पाप भी हुआ, तो दूसरी ओर भगवान् के दर्शन करने के फलस्वरूप अपूर्व धर्म भी हुआ, यह भी तो बताया गया है। इसे क्यो भूल जाते हैं ?

मैंने आप से शास्त्र स्वध्याय के लिए कहा और आप स्वाध्याय करने लगे। इस सत्प्रवृत्ति मे भी मन, वचन और काय की चचलता एव चपलता होती ही है न ? और जहाँ चचलता है, वहाँ आस्रव है, उस अश मे सवर नही है। यदि योगो का सर्वथा निरोध हो जाए तो चौदहवे गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाए, और तब तो मोक्ष प्राप्ति मे देर न लगे। ऐसी स्थिति मे विचार करना ही होगा कि शास्त्र स्वाध्याय करते समय जो योग है, वह शुभ योग है या अशुभ योग ? इसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने जो कुछ भी सिखाया, वह शुभ योग मे सिखाया या अशुभ योग मे ? यदि वे अशुभ योग

में सिखाते तो क्रोध मान माया और लोभ की दुष्प्रवृत्ति होनी चाहिए थी। पर शास्त्र तो यह बताता है कि उन्होंने प्रजा के हित के लिए ही शिक्षा दी थी। ऐसी स्थिति में शुभ योग आ गया।

जब आप शास्त्र-श्रवण करेंगे या भगवान् की स्तुति करेंगे तब भी आस्रव का होना अनिवार्य है परन्तु वह होगा शुभ अंश में ही। साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि ऐसा करते समय धर्म का अंश कितना है?

आशय यही है कि जब कोई भी क्रिया की जाए, या किसी भी क्रिया के सम्बन्ध में कहा जाए, तो उसके दोनों ही पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए।

साधु जब कृषि के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं तो वे कृषि का समर्थन या अनुमोदन नहीं करते हैं। वे तो केवल वस्तु स्वरूप का ही विवेचन करते हैं। वे यही बतलाते हैं कि खेती अल्पारम्भ है महारम्भ नहीं है। जानवरों को मार कर जीवन-निर्वाह करना महारम्भ है और खेती करना उसकी अपेक्षा अल्पारम्भ है। श्रावक के लिए महारम्भ त्याज्य है और अल्पारम्भ का त्याग उसकी भूमिका में सर्वथा अनिवार्य नहीं है। सभी जगह साधुओं की भाषा का ऐसा ही अर्थ होता है। हम व्याख्यान श्रवण का तो समर्थन करते हैं किन्तु तदर्थ आने-जाने का समर्थन नहीं करते।

एक मनुष्य तीर्थंकर के दर्शन के लिए जा रहा है और दूसरा वेश्या के यहाँ जा रहा है तो कहाँ शुभ योग है और कहाँ अशुभ योग? जाने की दृष्टि से तो दोनों ही का

या कर्त्तव्य का उपदेश देना, पति-पत्नी और अध्यापक के कर्त्तव्य का निर्देशन करना , यदि ये सब सासारिक कार्य हैं तो फिर इन सब बातो से भी साधु को क्या मतलब है ? फिर तो आप साधु को ही दान दिया करो, भले ही आपके माता-पिता भूखे मरते रहे और सडते रहे । साधु को ससार से क्या लेना है और क्या देना है ? जब ससार से कोई सम्बन्ध ही नही है, तो साधु इस रूप मे क्यो उपदेश देता है ? माता, पिता, भाई-बहन आदि की सेवा और स्वधर्मी की वत्स-लता के सम्बन्ध मे क्यो कहता है ? परन्तु बात ऐसी नही है। साधु की एक मर्यादा है और वह सुनिश्चित है । वह विवेक को शिक्षा देता है कि अमुक कार्य क्या है, कैसा है ? कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य है ? साधु किसी व्यावहारिक काम को करने की साक्षात् प्रेरणा नही देता, परन्तु उस काम को करने का सुफल एव कुफल बताता है, क्योकि यह उसका कर्त्तव्य है।

साधु के सामने प्रश्न रखा जा सकता है कि मास खाना नैतिक है, अथवा फलाहार से गुजारा करना नैतिक है ? दोनो मे से किस मे ज्यादा, और किस मे कम पाप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर, क्या साधु को चुप्पी साध कर बैठ रहना चाहिए ? कोई पूछता है—छना पानी पीने मे ज्यादा पाप है, या अनछना पानी पीने मे ? आप ही बताइए, साधु उक्त प्रश्न का क्या उत्तर दे ? वह मौन रहे क्या ? नही, ऐसा नही हो सकता । जिज्ञासु का स्पष्टत सही समाधान करना ही होगा ।

हाँ, तो विवेक की व्यापकता को और जैन-धर्म की

वास्तविकता को तो बताना ही पड़ेगा कि अमुक कार्य में ज्यादा पाप है और अमुक में कम। पाप में जितनी-जितनी कमी आएगी उतना-उतना ही धर्म का अंश बढ़ता जाएगा। प्रश्न होने पर साधु को यह भी बतलाना होगा कि मांसाहार में ज्यादा पाप है और फलाहार मे कम। यह जो पाप की न्यूनता है इस अर्थ में वह क्या है—पाप या धर्म।

कल्पना कीजिए—किसी आदमी को १ ४ डिग्री ज्वर चढ़ा हुआ था। औषधि से या स्वभावत दूसरे दिन वह १ डिग्री रह गया। किसी ने उससे पूछा—क्या हाल है ? तब वह कहता है कि आराम है। आप कहेंगे अब सौ डिग्री ताप है तो आराम कहाँ है ? हाँ जितना ज्वर है उतना तो है ही उससे इन्कार नहीं है परन्तु जितनी कमी हुई है उतना तो आराम ही हुआ या नहीं ?

दुर्भाग्य से जो पाप है उसकी तरफ तो हमारी दृष्टि जाती है किन्तु जितना पाप कम होता जाता है उतने ही अंशो में पाप से बचाव भी होता है इस कमी की ओर हमारी दृष्टि ही नहीं है ! एक आदमी मांसाहार से फलाहार पर आजाता है तो उसमें भी पाप है पर वह अल्प है। सिद्धान्तत मांसाहार नरक का द्वार है और फलाहार नरक का द्वार नहीं है। जब वह नरक का द्वार नहीं है तो उसमें उतने ही अंशो में पवित्रता आ जाती है जैसे—१ ४ से १ डिग्री ज्वर रहने पर कथित रोगी को आराम होता है। इस तथ्य को स्वीकार करने में हिचक क्यो होती है ?

यदि साधु को दुनिया से कोई मतलब नहीं तो मुझे

व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है ? मै व्याख्यान नही दूँगा तो आप घर से यहाँ तक आएँगे भी नही, फलत आने-जाने का आरम्भ भी नही होगा। जब मैं व्याख्यान देता हूँ तभी तो आप आते हैं। फिर तो यह आरम्भ मेरे व्याख्यान से ही सम्बन्धित हुआ न ? जब आप साधु-दर्शन को जाते है और प्रवचन सुनते हैं तो इस विषय मे क्या मानते है ? साधु के पास आने में हिंसा हुई है, किन्तु जो प्रवचन सुना है, उपदेश सुना है, उससे तो धर्म हुआ। उस धर्म का भी कोई अर्थ है या नही ?

भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक कितने समारोह के साथ गया था ? ऐसा करने मे यदि एक अश मे पाप भी हुआ, तो दूसरी ओर भगवान् के दर्शन करने के फलस्वरूप अपूर्व धर्म भी हुआ, यह भी तो बताया गया है। इसे क्यो भूल जाते हैं ?

मैंने आप से शास्त्र स्वध्याय के लिए कहा और आप स्वाध्याय करने लगे। इस सत्प्रवृत्ति मे भी मन, वचन और काय की चचलना एव चपलता होती ही है न ? और जहाँ चचलता है, वहाँ आस्त्रव है, उस अश मे सवर नही है। यदि योगो का सर्वथा निरोध हो जाए तो चौदहवे गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाए, और तब तो मोक्षप्राप्ति मे देर न लगे। ऐसी स्थिति मे विचार करना ही होगा कि शास्त्र स्वाध्याय करते समय जो योग है, वह शुभ योग है या अशुभ योग ? इसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने जो कुछ भी सिखाया, वह शुभ योग मे सिखाया या अशुभ योग मे ? यदि वे अशुभ योग

मे सिखाते तो क्रोध मान माया और लोभ की दुष्प्रवृत्ति होनी चाहिए थी। पर शास्त्र तो यह बताता है कि उन्होने प्रजा के हित के लिए ही शिक्षा दी थी। ऐसी स्थिति मे शुभ योग आ गया।

जब आप शास्त्र-श्रवण करेगे या भगवान् की स्तुति करेगे तब भी आस्रव का होना अनिवार्य है परन्तु वह होगा शुभ अश मे ही। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना होगा कि ऐसा करते समय धर्म का अश कितना है?

आशय यही है कि जब कोई भी क्रिया की जाए, या किसी भी क्रिया के सम्बन्ध मे कहा जाए तो उसके दोनो ही पहलुओ पर ध्यान देना चाहिए।

साधु जब कृषि के सम्बन्ध मे कुछ कहते है तो वे कृषि का समर्थन या अनुमोदन नही करते है। वे तो केवल वस्तु-स्वरूप का ही विवेचन करते है। वे यही बतलाते है कि खेती अल्पारम्भ है महारम्भ नही है। जानवरो को मार कर जीवन-निर्वाह करना महारम्भ है और खेती करना उसकी अपेक्षा अल्पारम्भ है। श्रावक के लिए महारम्भ त्याज्य है और अल्पारम्भ का त्याग उसकी भूमिका मे सर्वथा अनिवार्य नही है। सभी जगह साधुओ की भाषा का ऐसा ही अर्थ होता है। हम व्याख्यान श्रवण का तो समर्थन करते है, किन्तु तदर्थ आने-जाने का समर्थन नही करते।

एक मनुष्य तीर्थंकर के दर्शन के लिए जा रहा है और दूसरा वेश्या के यहाँ जा रहा है तो कहाँ शुभ योग है और कहाँ अशुभ योग? जाने की दृष्टि से तो दोनो ही जा

रहे है, किन्तु एक के जाने मे शुभ योग है और दूसरे के जाने मे अशुभ योग है। हाँ, तो जाना-आना मुख्य नही है, शुभ योग या अशुभ योग ही मुख्य हैं। अत इस प्रकार प्रवृत्ति करना, या न करना मुख्य नही है, किन्तु उस प्रवृत्ति के पीछे यदि शुभ योग है तो वह शुभास्रव है, पुण्य है, और प्रवृत्ति न करने पर भी यदि योग अशुभ है तो वहाँ अशुभास्रव है, पाप-बंध है।

देहातो मे अग्रवाल, ओसवाल, पोरवाड, जाट आदि अनेक जातियाँ जैन हैं। उनमे बहुत से व्रतधारी श्रावक भी हैं, और वे खेती का व्यवसाय करते हैं। अब आप उनको श्रावक कहना चाहेगे या नही ? हमारे सामने आज मुख्य प्रश्न एक ही है, और वह यह कि—क्या श्रावकत्व और खेती का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि जहाँ खेती है, वहाँ श्रावकत्व नही रह सकता ? और जहाँ श्रावकत्व है, वहाँ खेती नही रह सकती ? यदि ऐसा ही है तो एक बात अवश्य आएगी कि उन जैन परम्पराओ के अनुयायियो को स्पष्ट रूप से कह देना होगा कि आपको इस भूमिका मे नही रहना चाहिए, क्योंकि खेती करना महारंभ है। और जहाँ महारम्भ विद्यमान है वहाँ श्रावकत्व स्थिर नही रह सकता। अस्तु, मैं उन साथियो से साफ-साफ कहूँगा कि वे दुनिया को धोखे मे क्यो रख रहे हैं ?

प्रतिवाद में वे यह कह सकते हैं कि हम तो मर्यादा करा देते हैं। किन्तु उपासकदशाँग सूत्र मे स्पष्ट कहा गया है कि—'पन्द्रह कर्मादानो मे मर्यादा नही है —

"पण्णरसकम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं ।"

अर्थात्—पन्द्रह कर्मादान जानने योग्य अवश्य है किन्तु आचरण करने योग्य नही हैं ।

वस्तुत महारंभ एव कर्मादान मे मर्यादा नही होती । और यदि खेती भी कर्मादान मे है महारम्भ मे है तो उसकी भी मर्यादा नही हो सकती । भगवती सूत्र के अनुसार पन्द्रह कर्मादानो का त्याग तीन करण से किया जाता है* । उसमे आंशिक त्याग या मर्यादा की गु जाइश ही कहाँ है ? अतएव जहाँ कर्मादान होगा वहाँ श्रावकत्व स्थिर नही रह सकता । तब आप उन हजारो खेती करने वाले भाइयो से कह दीजिए कि आप श्रावक नही हैं ।

इस प्रकार खेती-बाड़ी को महारम्भ भी कहना कर्मादान भी समझना और फिर उसके साथ अणुव्रती श्रावकत्व भी कायम रखना कदापि सम्भव नही है । यदि कर्मादान की कोई सम्भव मर्यादा हो सकती है तब तो कसाईखाने चलाने की भी मर्यादा निर्धारित की जा सकती है ? एक कसाई किसी जैन-साधु के पास आता है और कहता है कि मै सौ कसाईखाने चला रहा हूँ । उन्हे ही चलाऊँगा मर्यादा निर्धारित करा दीजिए । तो क्या वह कसाई अणुव्रतधारी श्रावक की कोटि मे आ सकेगा ? जिस प्रकार कसाईखाने की मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नही आ सकता क्योकि कसाईखाना चलाना महारंभ है उसी प्रकार खेती करना भी यदि महारम्भ है, कर्मादान है तो उसकी मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नही माना

* देखिए भगवती सूत्र ८, ५

चाहिए। जबकि खेती करने वाले श्रावक होते हैं तो फिर खेती को कर्मादान और महारंभ किस प्रकार कहा जा सकता है?

इस कथन से आप यह भी भली-भांति समझ सकते हैं कि जैन-साधु कृषि के सम्बन्ध में क्या कहते हैं? वे कृषि का समर्थन नहीं करते, किन्तु इस बात का समर्थन करते हैं कि खेती की गिनती कर्मादानों में नहीं है, अतः जो खेती करता है वह श्रावक नहीं रह सकता, यह धारणा बिल्कुल गलत और निराधार है।

'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का आशय क्या है? यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इस विषय में एक भाई ने प्रश्न किया है—कोई मनुष्य स्वयं खेती करता है और अपने खेत में कुंआ भी खुदवाता है। कुंआ खुदवाने के लिए उसे सुरंग लगवानी पड़ती है। तो यह सुरंग लगवाना क्या 'फोडीकम्मे' है? इसका उत्तर यह है कि—नहीं! उसका सुरंग लगवाना 'फोडीकम्मे' नहीं है। वह खेती की सिंचाई के लिए या जनता के कल्याणार्थ पानी उपलब्ध करने के लिए कुंआ बनवाता है। उसने व्यावसायिक हित के लिए उसका उपयोग नहीं किया है। और कर्मादान का मतलब है—व्यवसाय करना। जो सुरंग लगाने का धन्धा करता है, वह 'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का सेवन करता है। और जो अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए कार्य करता है वह कर्मादान का सेवन नहीं करता। बहिनें भोजन बनाती हैं और जली हुई लकड़ी के कोयले बनाकर रख लेती हैं तो क्या उसे 'इंगालकम्मे' कर्मा-

दान कह सकेंगे ? नहीं यह 'इगालकम्मे' नहीं है। कोयला बना-बनाकर बचना और कोयले बनाने का धन्धा करना 'इगाल कम्मे' अवश्य है।

इसी प्रकार सुरग लगा-लगाकर विस्फोट करने का व्या पार करना फोडीकम्मे कर्मादान है। अपनी या जनता की आवश्यकता पूर्ति के लिए कुआ खुदवाना कर्मादान नहीं है।

एक बार प्रश्न किया गया था कि नन्दन मणियार ने एक बावडी बनवाई तो वह मेढक बना। सामान्यत इसका आशय तो यही निकला कि जो बावडी बनवाएगा वह मेढक होगा ?

कहीं-कहीं दूर-दूर तक पानी नहीं मिलता और लोग पानी के लिए बडी तकलीफ पाते हैं। अत मरधर प्रदेश मे प्राय ऐसा देखा गया है कि लोग अपनी गाढी कमाई का पैसा कुंआ वगैरह खुदवा कर जनता की सुख-सुविधा में लगाते है। उन्हे उससे कोई स्वार्थ नहीं साधना होता है। यह भी वे नहीं जानते कि जहाँ जलाशय बनवाया है वहाँ वे जीवन म कभी आएँगे भी या नहीं ? तो आप उन सबको यह सूचना दे दीजिए कि तुम लोगो ने जो जलाशय बनवाए हैं उसके प्रतिफल मे तुम सब अपने-अपने जलाशयो मे मेढक बनोगे !

बिहार की तरफ मैने देखा कि वहाँ कुंआ की बहुत कमी है। गाँव के बाहर तलैया होती है। सब लोग उसी का पानी पीते हैं। उसमे मलेरिया के असख्य कीटाणु पैदा हो जाते हैं पानी सड जाता है और लोग वही सडा पानी पीकर

रोग के शिकार होते है। वहाँ के गांवो की यह दुर्दशा देखकर कुछ लोगो ने सोचा—तलैया का सडा पानी पीना, एक प्रकार से जहर ही पीना है। यह जहर समूचे गांव के स्वास्थ्य को बुरी तरह वर्बाद कर रहा हे। ऐसा सोचकर उन्होने एक कुँआ बना लिया और तब मलेरिया का जोर कम हो सका। तो क्या, वे कुँआ वनवाने वाले अगले जन्म मे मेढक होगे ?

यदि ऐसा नही है तो नन्दन मणियार क्यो मेढक हुआ ? वास्तव मे बात यह है कि नन्दन बावडी बनवाने से मेढक नही हुआ। यदि ऐसा होता तो वह किसी दूसरी बावडी मे मेढक के रूप में उत्पन्न हो सकता था। सिद्धान्त तो यह है कि उसे अपनी बावडी के प्रति ममता उत्पन्न हो गई थी और मृत्यु की अन्तिम घडी तक उसमे उसकी आसक्ति बनी रही थी। जब बावडी मे उसकी ममता और आसक्ति थी तो उसे उसमे जाना ही पडा। उसका धर्म उसे बावडी मे मेढक बनाने के लिए नही ले गया, बल्कि उसकी आसक्ति और ममता ने ही उसे बावडी मे घसीटा और मेंढक बनाया।

शास्त्रकार, इसीलिए तो कहते है कि जो भी सत्कर्म करना हो, उसे यथा शीघ्र कर लो, किन्तु उसके फल मे आसक्ति मत रखो। यह बावडी मेरी है, इसका पानी मेरे अतिरिक्त दूसरे क्यो पीएँ ? इस पर पैर रखने का भी दूसरो को क्या अधिकार है ? हम जिसे चाहे उसे ही पानी लेने देगे और जिसे नही चाहे उसे नही लेने देंगे ! इस प्रकार की क्षुद्र ममता ही मेंढक बनाने वाली है। ज्ञातासूत्र या कोई दूसरा सूत्र उठाकर देखते हैं तो उसमे एक ही बात पाते हैं

कि— 'मनुष्य तू सत्कर्म कर ! पर ममता और आसक्ति मत रख । मन्दम मणियार को कृषि ने मेंढक नहीं बनाया उसके सत्कर्म ने भी मेंढक नहीं बनाया । यदि ऐसा होता तो चक्रवर्ती सम्राटों ने देश के हित के लिए जलाशय निर्माण आदि अनेक काम किये हैं तो उन सबको भी मेंढक और मछली बनना चाहिए था ! परन्तु वे तो मेंढक नहीं बने । इससे प्रमाणित होता है कि मेंढक बनाने वाला कारण कुछ और ही है सत्कर्म नहीं ।

इस प्रकरण में कृषि के सम्बन्ध में मैंने कतिपय प्रश्नों पर चर्चा की है । इससे पहले भी मैं काफ़ी कह चुका हूँ । जो कुछ कहा गया है उस पर निष्पक्ष बुद्धि से वास्तविकता को समझने की विशुद्ध भावना से विचार कीजिए । आपका भ्रम दूर होगा और आप सत्य के सुनिश्चित मार्ग पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते जाएँगे ।

— ७ —

एक प्रश्न

जीवन-निर्वाह के लिए व्यवसाय के रूप मे मनुष्य जब प्रयत्न करता है तो वह चाहे जितनी यतना करे, फिर भी हिंसा तो होती ही है। वह हिंसा, केवल इसीलिए कि जीवन के लिए वह अनिवार्य है, अहिंसा नही बन सकती। फिर भी गृहस्थ श्रावक के लिए हिंसा और अहिंसा की एक मर्यादा है। यहाँ हमे यही देखना है कि कौन-सी हिंसा श्रावक की भूमिका मे परिहार्य है और कौन-सी हिंसा अपरिहार्य है ? कौन-सी हिंसा श्रावक की मर्यादा मे है, और कौन-सी हिंसा ऐसी है, जो श्रावक को अनिवार्य रूप से त्याग देना ही सर्वथा वाछनीय है ?

आखिर, जीवन मे यह विचार करना आवश्यक है कि कौन-सी मर्यादा का पालन करते हुए श्रावक, श्रावक की भूमिका में रह सकता है ? यदि जीवन-व्यापार चला रहे हैं तो उसमे कहाँ तक न्याय और मर्यादा रहती है ? कहाँ तक औचित्य की रक्षा हो रही है ?

पन्द्रह कर्मादान सकल्पजा हिंसा मे नही, औद्योगिक हिंसा मे ही हैं, परन्तु जो औद्योगिक हिंसा, मानव को सकल्पजा हिंसा

की ओर प्रेरित करती हो वह कहाँ तक मर्यादानुकूल है? वह श्रावक की भूमिका में यथावसर करने योग्य है या नहीं? इस प्रश्न पर विचार कर लेना अति आवश्यक है।

शास्त्रकारों ने इस विषय पर गहरा चिन्तन और मनन किया है। तीर्थङ्करों तथा आचार्यों ने जनता की मर्यादा को ध्यान में रखकर जो प्रवचन किया है वह आज भी हमारे लिए पथ प्रदर्शक के रूप में प्रकाश-स्तम्भ है।

सच पूछो तो हम आज के प्रगतिशाली वैज्ञानिक युग में भी अन्धे जैसे हैं। अन्धा जब चलता है तो कहीं भी ठोकर खाकर गिर सकता है। वह गड्ढे में गिर सकता है पानी में डूब सकता है और दीवार से भी टकरा सकता है। किन्तु यदि उसके हाथ में लाठी दे दी जाए तो समझ लीजिए कि आपने बहुत बड़ा पुण्य और परोपकार कर लिया। उस लाठी के सहारे वह मार्ग को टटोल कर चलता है और उसे गड्ढे का दीवार का और पानी का पता सहज ही लग जाता है। जब दीवार आएगी तो पहले लाठी टकराएगी और वह बच जाएगा।

इस प्रकार जो बात आप अन्धे के विषय में सोचते हैं, वही बात हम लोगों के विषय में भी है। वस्तुतः धर्म-शास्त्र हमारी लाठी है। जैसे अन्धा सीधा नहीं देख सकता और लाठी के द्वारा ही वह देखता है, उसी प्रकार हम लोग भी केवल अपनी बुद्धि से सीधे नहीं देख सकते शास्त्रों के सत् उपदेश द्वारा ही अपना मार्ग देखते हैं।

जिस प्रकार लाठी अन्धे का अवलम्बन है उसी प्रकार

धर्म-शास्त्र हमारा अवलम्बन है। अतएव हम जो कुछ भी कहे और समझे, वह शास्त्र के आधार पर और शास्त्र की मर्यादा के अन्तर्गत ही होना चाहिए। जहाँ शास्त्र स्वय कोई स्पष्ट मार्ग का निर्देश न करता हो, वहाँ उसके प्रकाश मे अपने विशुद्ध विवेक का, अपनी नैसर्गिक बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु उस उपयोग मे हमारी विचार परम्परा शास्त्रो से सर्वथा अलग न होने पाए। आपका क्या विचार है, मेरा क्या विचार है, या अमुक व्यक्ति का क्या अभिमत है, शास्त्रो के समक्ष इसका कोई मूल्य नही है। अतएव शास्त्र हमें जो प्रकाश दे रहे है, उसी प्रकाश मे हमें देखना है कि जीवन-व्यवहार मे कहा महा-हिसा है और कहाँ अल्प-हिसा है? हमारी कौन-सी प्रवृत्ति महारभ मे परिगणित होने योग्य है और कौन-सी प्रवृत्ति अल्पारभ मे गिनी जा सकती है?

शास्त्रो में महारभ को नरक का द्वार बतलाया है। अस्तु, श्रावक को यह सोचना पडेगा कि जो कार्य मै कर रहा हूँ, क्या वह महारभ है, शास्त्रो की मान्यता मे नरक का द्वार है, अथवा अल्पारभ है और नरक से अलग करने वाला है?

जीवन मे हिसा तो अनिवार्य है। उससे पूरी तरह बचा नही जा सकता। यदि इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है तो उसका कोई तर्क माना नही जा सकता। जीवन-सघर्ष मे खेती आदि जो व्यापार चल रहे हैं उनमें हिसा नही है, ऐसा कहने वाले की बात ज्ञान शून्यता का प्रमाण है। जब शास्त्र जीवन-व्यवहार मे हिसा के अस्तित्व को स्वीकार करता है तो एक व्यक्ति

का यह कथन कि—जीवन-व्यवहार हिंसा से शून्य है क्या महत्व रखता है ? ऐसी स्थिति में हमें केवल यही देखना चाहिए कि उस काम में हिंसा और अहिंसा का कितना भाग है ? और क्या वह कार्य महारम्भ है नरक का कारण है अथवा अल्पारम्भ है स्वर्ग की सीढ़ी है ।

विचारों में भेद होना स्वाभाविक है । परन्तु जब विचार का आधार शास्त्र है और शास्त्र भी एक ही है और किसी ओर से दुराग्रह भी नहीं है तो यह भी आशा रखनी चाहिए कि एक दिन प्रस्तुत विचार-भेद भी समाप्त होकर रहेगा । परन्तु जब तक विचार-भेद समाप्त नहीं हो जाता तब तक प्रत्येक विचारक को समभाव से सहिष्णुतापूर्वक चिन्तन-मनन करते रहना चाहिए । विचार विभिन्नता को अधिक महत्व देने से झगड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिससे सत्य को उपलब्ध करने का मार्ग रुक जाता है । मैं तो यहाँ तक कहने का साहस करूँगा कि किसी ने यदि कोई बात कही और वह बिना सोचे-समझे ही मान ली गई तो उसका भी कोई महत्व नहीं है । जो बात विचारपूर्वक और चिन्तनपूर्वक स्वीकार की गई है या इन्कार की गई है वही महत्व रखती है । परन्तु आग्रह के रूप में स्वीकार या अस्वीकार करने में कोई कीमत नहीं है । वास्तविक तथ्य तो यह है कि विवेक-पूर्वक सत्य के प्रति दृढ़ आस्था रखकर, चिन्तन-मनन किया जाए और उसके बाद किसी बात को स्वीकार या अस्वीकार किया जाए ।

जैन-धर्म मनुष्य के विचारों को बलात् धक्का देने के लिए,

या कुचल देने के लिए नहीं है। वह तो व्यक्ति के विचारो को सत्य-मार्ग की ओर मोड देने के लिए है। जो विचार प्रवाह आज गलत दिशा मे वह रहा है, उसे चिन्तन और मनन के द्वारा सही दिशा की ओर घुमा देना ही, जैन-धर्म का काम है। विचारो को सही मोड देने के लिए प्राय सघर्ष करना पडता है। इसीलिये जब कभी विचार-सघर्ष होता है तो मुझे आनन्द आने लगता है और मेरी विचार-वीणा के तार सत्य का वादन करने के लिए स्वत झनकार उठते हैं। जो 'व्याख्यान', सुनने के बाद वायु मे विलीन हो जाय और जिस प्रवचन से विचारो मे नई हलचल और कम्पन पैदा न हो, वह किस काम का? कुछ हलचल अवश्य होनी चाहिए, कुछ उथल-पुथल होनी ही चाहिए, कुछ विचार सघर्ष भी होना चाहिए। तभी तो मानस-तल मे वद्धमूल भ्रान्त सस्कारो की जड हिलेगी, तभी वे ढीले पडेगे और अन्त मे उखड कर नष्ट हो सकेंगे। यद्यपि वह हलचल, उथल-पुथल और सघर्ष विचारो तक ही सीमित रहना चाहिए। उसमे प्रतिपक्ष के प्रति द्वेष अणुमात्र भी न होना चाहिए। विचार सघर्ष ने यदि झगडे का रूप धारण कर लिया तो परिणाम अशुभ एव अवाछनीय होता है।

सत्य की उपलब्धि करना ही जिसका लक्ष्य है और जो सत्य के लिए समर्पित है, वह झगडे की स्थिति उत्पन्न नही होने देता। वह जानता है कि विचारो के सघर्ष से ही सत्य का मक्खन प्राप्त हो सकता है। परन्तु उस सघर्ष ने यदि द्वेषपूर्ण प्रतिद्वन्द्व का रूप ग्रहण कर लिया तो मक्खन के बदले विष ही हाथ लगेगा। अतएव सत्य का अन्वेषक जब

विचार-संघर्ष का प्रारम्भ करता है तब भी प्रसन्न मुद्रा में रहता है और जब संघर्ष का अन्त करता है तब भी उसी द्विगुणित प्रसन्न मुद्रा में दिखाई देता है। निर्दोष विचार-संघर्ष का यही स्वच्छ स्वरूप है।

यदि आप भी इसी मार्ग पर चलते हैं तो निस्सन्देह आपको भी सत्य की उपलब्धि हो जाएगी। कृषि के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए पर्याप्त समय बीत चुका है अतः अब उसका उपसंहार कर देना ही उचित है। कृषि के अतिरिक्त अन्य दूसरी बहुत-सी बातों पर भी विचार किया जा चुका है और इन विचारों का बहुत कुछ निचोड़ आपके सामने रख दिया गया है। फिर भी कुछ बातें और कुछ विचार शेष रह गए हैं।

वास्तव में हमारी बुद्धि पूर्व धारणाओं में प्रबद्ध होने के कारण सीमित हो गई है। इसीलिए किसी विषय पर विचार करते-करते वह थक जाती है और ऐसा लगने लगता है कि बस विचार हो चुका। अब और क्या शेष रहा है! किन्तु विचारों का मार्ग तो असीम है। नित्य नए-नए प्रश्न सामने आते हैं और उन पर विचार करना भी आवश्यक है। आज दिन एक नया प्रश्न हमारे सामने आया है। सोचता हूँ उस पर भी चर्चा प्रारम्भ करूँ।

जो प्रश्न आज दिन सामने आया है उसके अतिरिक्त भी यदि किसी भाई को कोई बात पूछना हो, कोई नवीन बात जानना हो तो वे निस्संकोच भाव से रात्रि के समय या मध्याह्न के समय मुझ से मिल सकते हैं। धर्म-तत्त्व के प्रचार के अतिरिक्त मुझे दूसरी कोई दुकानदारी नहीं करनी

है। नरक-गति का कारण जो महारंभ है, उसी को लक्ष्य में रखकर सवाल किया गया है, या और किसी दूसरे अभिप्राय से है ? स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ महारंभ या अनार्य-कर्म आया, वहीं आपको नरक की राह ध्यान में रखना होगा। शास्त्रों में महारंभ का सम्बन्ध नरक के साथ जोड़ा गया है। अनेक स्थलों पर शास्त्रों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं। ऐसी स्थिति में प्याज की अथवा गाजर-मूली आदि की खेती को आप महारंभ मानते हैं, तो उसे नरक-गति का कारण भी मानना होगा।

कदाचित् आप यह कहें कि उसे महारंभ तो मान लें, किन्तु नरक-गति का कारण न मानें, तो यह अन्तर नहीं होने का। मैं कहता हूँ, और मैं क्या, शास्त्र ही कहते हैं कि जो महारंभ है वह नरक-गति का कारण बने बिना नहीं रह सकता। महारंभ भी हो और नरक-गति का कारण न हो, ऐसा कोई असंगत समझौता नहीं हो सकता। फिर आलू आदि जमीकन्दों की खेती क्या नरक-गति का कारण है ? आप कहेंगे, क्यों नहीं, जमीकन्द में अनन्त जीव जो ठहरे।

कल्पना कीजिए—एक आदमी भूख से तड़प रहा है और उसके प्राण निकल रहे हैं। वहाँ दूसरा आदमी आ पहुँचता है। उसके पास आलू, गाजर आदि कंदमूल हैं और वह दया से प्रेरित होकर उस भूखे को खाने के लिए दे देता है। भूखा आदमी उसे खाता है और उसके प्राण बच जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि उस कन्दमूल देने वाले को एकान्त पाप होता है, या कुछ पुण्य भी होता है ? आप इस प्रश्न का क्या

उत्तर देते हैं ?

हमारे कुछ पड़ोसियों ने तो यह निर्णय कर रखा है कि दया से प्रेरित होकर भूखे के प्राण बचाने मे भी एकान्त पाप होता है। उनकी धर्म-पुस्तको मे और आचार्यों की वाणी ने एकान्त पाप का फतवा दे रखा है। क्योंकि एक ओर एक जीव है और दूसरी ओर एक भाटू मे नही उसके एक टुकड़े मे भी नही सुई के अग्र भाग पर समा जाने वाले जरा से भाटू के कण में भी अनन्त जीव होते हैं और जब वह खाने के लिए दे दिया जाता है तो उन सभी की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार एक जान को बचाने के लिए अनन्त जीवों की हिंसा की गई है। उनके विचार से अनन्त जीवों की हिंसा तो पाप है ही साथ ही उनकी हिंसा करके एक आदमी को बचा लेना भी पाप ही है और बचाने वाले की दया-भावना भी पाप है। इस प्रकार उस भूख से मरते को बचा लेने में एकान्त पाप ही है। परन्तु आपका विचार क्या है? आप मनुष्य के प्राणों की रक्षा करना पाप नही मानते और रक्षा करने की दया की जो पुनीत भावना हृदय मे उत्पन्न होती है उसे भी पाप नहीं मानते। ऐसी स्थिति मे आप उक्त प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं? आपके सामने यह एक विकट प्रश्न है जिसका आपको निर्णय करना है।

सम्भव है आप इस प्रश्न का उत्तर देने में टालमटूल कर जाएँ। यदि ऐसा हुआ तो दूसरी जगह पकड़ मे आ जाएँगे। मान लीजिए एक प्यासा आदमी प्यास से मर रहा है और किसी उदारमना ने उसे पानी पिला दिया। पानी की एक

है । सत् शास्त्रों की चर्चा करना ही मेरा कार्य है और यही घन्धा मै आजीवन चलाते रहना पसन्द करता हूँ ।

"विचारो को सुलझने मे कुछ देर लगती है । आप एक सूत की लडो को सुलझाने बैठते हैं और जब वह जल्दी नही सुलझती है तो मन उचट जाता है और झट उसे पटक देते हैं । सोचते हैं—सूत क्या, आफत की पुडिया है । किन्तु मन स्थिर होते ही फिर उसे हाथ मे लेते हैं और फिर सुलझाने की चेष्टा करते हैं । विचारो की उलझन सूत से भी बडी जटिल है । विचार जब उलझ जाते हैं तो उन्हे सुलझाने मे वर्षों लग जाते हैं । कभी-कभी सदियाँ गुजर जाती हैं । आखिर, एक दिन वे सुलझ जाते हैं, किन्तु वे विवेक एव विचार के द्वारा ही सुलझते हैं । चाहे समय कितना ही लगे, हमें उनको सुलझाने का ही ध्येय सामने रखना चाहिए और धैर्य के साथ शान्त मन से सुलझाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

हाँ, तो आपके हृदय मे जब कभी उलझन पैदा हो, आप अपनी शका से मुझे अवगत करा सकते हैं । जब आप मुझे अवगत करगे तो मेरे हृदय मे किसी प्रकार की कटुता पैदा नही होगी । मैं आपके सामने जो विचार रख रहा हूँ, सम्भव है, उसमें आपको कही भ्रम मालूम दे ।'उस समय आप तटस्थ भाव से सोचे, विचार करें । चिन्तन मनन के द्वारा विभिन्न विचार वाले जल्दी ही यदि एक सुनिश्चित राह पर आ जाएँ तो खुशी की बात होगी । यदि न आएँ तो भी कोई चिन्ता नही, फिर सोचेंगे, फिर मिलेंगे, फिर बातें करेंगे और विचार करते-करते अन्तत एक लक्ष्य पर आएँगे ही । इस प्रकार की मनोवृत्ति

रख कर निष्पक्ष और निष्कषाय होकर वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करने मे अपूर्व रस मिलता है।

इस अवसर पर एक भाई के प्रश्न पर विचार है। यद्यपि यह प्रश्न एक व्यक्ति ने प्रस्तुत किया है पर यह दूसरो के मन मे भी पैदा होना स्वाभाविक है। इसीलिये प्रत्यक्ष रूप मे उसकी चर्चा करता हू।

प्रश्न है प्याज (कांदे) की खेती करना अल्पारंभ है या महारंभ ?

यह प्रश्न साधारण खेती के सम्बन्ध म नही प्याज की खेती क सम्बन्ध मे है। अतएव यह मान लेना चाहिए कि अनाज की खेती क सम्बन्ध में अब कोई प्रश्न शेष नही रह गया है। अनाज की खेती अल्पारंभ है या महारम्भ ? इसका निर्णय हो चुका है। पिछले प्रकरणो मे अन्न की खेती के विषय मे मैंने शास्त्रो क अनेक पाठ उपस्थित किए है और विभिन्न आचार्यों की प्राचीन परम्पराएँ भी आपके सामने रखी हैं। आचार्य समन्तभद्र हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि के प्रमाणित कथन भी प्रस्तुत किए जा चुके हैं। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि अन्न की खेती के सम्बन्ध मे विचार स्पष्ट हो चुका है। वह महारंभ या अनार्य-कर्म है' यह गलतफहमी पूर्णतः दूर हो चुकी है। इसीलिए प्रस्तुत प्रश्न अन्न की खेती के विषय मे न होकर प्याज की खेती के सम्बन्ध मे किया गया है।

भगवती-सूत्र स्थानाङ्ग-सूत्र और उववाई-सूत्र में नरक-गति के चार कारण बतलाए गए हैं। उनमें पहला कारण महारंभ

है। नरक-गति का कारण जो महारभ है, उसी को लक्ष्य मे रखकर सवाल किया गया है, या और किसी दूसरे अभिप्राय से है ? स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ महारभ या अनार्य-कर्म आया, वही आपको नरक की राह ध्यान मे रखना होगा। शास्त्रो मे महारभ का सम्बन्ध नरक के साथ जोडा गया है। अनेक स्थलो पर शास्त्रो मे एेसे उल्लेख मिलते हैं। ऐसी स्थिति मे प्याज की अथवा गाजर-मूली आदि की खेती को आप महारभ मानते हैं, तो उसे नरक-गति का कारण भी मानना होगा।

कदाचित् आप यह कहे कि उसे महारभ तो मान ले, किन्तु नरक-गति का कारण न माने, तो यह अन्तर नही होने का। मैं कहता हूँ, और मैं क्या, शास्त्र ही कहते हैं कि जो महारभ है, वह नरक-गति का कारण बने बिना नही रह सकता। महारभ भी हो और नरक-गति का कारण न हो, ऐसा कोई असगत समझौता नही हो सकता। फिर आलू आदि जमीकन्दो की खेती क्या नरक-गति का कारण है ? आप कहेगे, क्यो नही, जमीकन्द मे अनन्त जीव जो ठहरे।

कल्पना कीजिए—एक आदमी भूख से तडप रहा है और उसके प्राण निकल रहे हैं। वहाँ दूसरा आदमी आ पहुँचता है। उसके पास आलू, गाजर आदि कदमूल हैं और वह दया से प्रेरित होकर उस भूखे को खाने के लिए दे देता है। भूखा आदमी उसे खाता है और उसके प्राण बच जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि उस कन्दमूल देने वाले को एकान्त पाप होता है, या कुछ पुण्य भी होता है ? आप इस प्रश्न का क्या

उत्तर देते हैं ?

हमारे कुछ पड़ौसियों ने तो यह निर्णय कर रखा है कि दया से प्रेरित होकर मूल के प्राण बचाने मे भी एकान्त पाप होता है। उनकी धर्म-पुस्तको ने और आचार्यों की वाणी मे एकान्त पाप का फतवा दे रखा है। क्योकि एक ओर एक जीव है और दूसरी ओर एक आलू मे नही उसके एक टुकड़े मे भी नही सुई के अग्र भाग पर समा जाने वाले जरा से आलू के कण में भी अनन्त जीव होते हैं और जब वह खाने के लिए दे दिया जाता है तो उन सभी की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार एक जीव को बचाने के लिए अनन्त जीवो की हिंसा की गई है। उनके दिमाग में अनन्त जीवो की हिंसा तो पाप है ही साथ ही उनकी हिंसा करके एक आदमी को बचा लेना भी पाप ही है और बचाने वाले की दया भावना भी पाप है। इस प्रकार उस भूख मे मरते को बचा लेने में एकान्त पाप ही है। परन्तु आपका विचार क्या है ? आप मनुष्य के प्राणो की रक्षा करना पाप नही मानते और रक्षा करने की दया की जो पुनीत भावना हृदय मे उत्पन्न होती है उसे भी पाप नही मानते। ऐसी स्थिति मे आप उक्त प्रश्न का क्या उत्तर देते है ? आपके सामने यह एक विकट प्रश्न है जिसका आपको निर्णय करना है।

सम्भव है आप इस प्रश्न का उत्तर देने में टालमटूल कर जाएँ। यदि ऐसा हुआ तो दूसरी जगह पकड़ मे आ जाएँगे। मान लीजिए, एक प्यासा आदमी प्यास से मर रहा है और किसी उदारमना ने उसे पानी पिला दिया। पानी की एक

बूँद मे असख्य जीव है, अस्तु एक गिलास पानी पिला दिया तो क्या हुआ ? एकान्त पाप हुआ या कुछ पुण्य भी हुआ ? पानी पिलाने से बचा तो एक केवल व्यक्ति, और मरे असख्य जीव ।

इस प्रश्न का कदाचित् आप यही उत्तर देंगे—यद्यपि पानी पिलाने से पाप हुआ है किन्तु पुण्य भी हुआ है । और वह पुण्य, पाप की अपेक्षा अधिक है । ठीक है, जो तथ्य हो उसे स्वीकार कर लेना ही बुद्धिमता है ।

इस निर्णय से यह फलित हुआ कि जीवो की सख्या के आधार पर पुण्य-पाप का निर्णय नही हो सकता । सख्या अपने में सही कसौटी नही है । इस कसौटी को, पानी पिलाने मे एकान्त पाप न मानकर, हमने अस्वीकार कर दिया है । हमने पुण्य-पाप को परखने के लिए दूसरी कसौटी अपनायी है और वह है कर्त्तव्य की भावना ।

वस्तुत असख्य एक बहुत बडी सख्या है । असख्य के अन्तिम अश मे यदि एक और जोड दिया जाए तो वह सख्या अनन्त हो जाती है । तो जहाँ बहुत असख्य जीव हैं, वहाँ अनन्त के लगभग जीव हो जाएँगे । और जहाँ पानी है वहाँ वनस्पति, [illegible] त्रस आदि दूसरे प्रकार के जीव भी होते हैं । इसे [illegible] से जीवो की सख्या मे भी अत्यधिक वृद्धि हो जाती है ।

हाँ, तो एक गिलास पानी पिलाने से अनन्त के लगभग जीव मरे और बचा सिफ एक मनुष्य ही । फिर भी भावना की प्रधानता के कारण पानी पिलाने वाले को पाप की

अपेक्षा पुण्य अधिक हुआ। जो जीव मरे है वे मारने की हिंसक भावना से नही मारे गए हैं। पानी पिलाने वाले की भावना यह कदापि नहीं होती कि पानी के ये जीव मर नही रहे हैं। अत यदि कोई अतिथि आ जाए तो उसे पानी पिलाकर इन्हे मार डालूँ। उसकी एकमात्र भावना तो पचेन्द्रिय जीव को मरने से बचाने की है।

इस सम्बन्ध मे सिद्धान्त भी यह स्पष्टीकरण करता है कि एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव को मारने से असख्य गुना अधिक पाप बढ जाता है। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढते-बढते चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय को मारने मे असख्य गुना पाप अधिक होता है।

जब तक हम इस दृष्टि-बिन्दु पर ध्यान रखेंगे तब तक भगवान् महावीर की अहिंसा और दया हमारे ध्यान में रहेगी। यदि हम इस दृष्टिकोण से विचलित हो गए तो अहिंसा और दया से भी विचलित हो जाएँगे। फिर हमे या तो कोई और दृष्टि पकडनी पडेगी या हस्ति-तापसो की दृष्टि अगीकार करनी पडेगी। हस्ति-तापसो के सम्बन्ध मे सामान्यत उल्लेख अन्य प्रवचन मे किया जा चुका है। उनका मन्तव्य है कि अनाज के प्रत्येक दाने मे जब एक-एक जीव मौजूद है तो बहुत-से दाने खाने से बहुत जीवो की हिंसा होती है। उससे बचने के लिए हाथी जैसे एक स्थूल काय जीव को मार लेना अधिक उपयुक्त है कि जिससे एक ही जीव की हिंसा से बहुत से व्यक्तियो का या बहुत दिनो

तक एक व्यक्ति का निर्वाह हो सके।*

भगवान् महावीर ने इस दृष्टिकोण का डटकर विरोध किया था। कारण यही है कि पाप का सम्बन्ध जीवो की गिनती के साथ नही, कर्त्तव्य की भावना के साथ है। सोचिए, पचेन्द्रिय जीव का घात करने मे कितनी निर्दयता और कितनी क्रूरता होती है। एक गिलास पानी मे जीवो की सख्या भले ही असख्य हो, फिर भी पानी को पीने वाले और पिलाने वाले मे वैसी निर्दय और क्रूर भावना नही होती। क्योकि पानी पीने वाले और पिलाने वाले, दोनो का लक्ष्य-बिन्दु 'रक्षा' है। जो लक्ष्य-बिन्दु 'रक्षा' का पवित्र प्रतीक है, वहाँ दया की विद्यमानता सुनिश्चित है, और जो कार्य-विशेष 'रक्षा' और 'दया' की सीमाओ के अन्तर्गत है, वह अहिंसक है।

इस प्रकार पानी के विषय मे जब निर्णय कर लिया तो इसी निर्णय के प्रकाश मे अब मूल प्रश्न की जाँच करें।

जिस प्रकार अन्न की हिंसा की अपेक्षा प्याज की या अन्य अनन्तकाय की हिंसा बडी है, उसी प्रकार अन्न की खेती की अपेक्षा इस खेती मे ज्यादा पाप है। फिर भी वह महारभ नही है, क्योकि सहार करने के लक्ष्य से, हिंसा के सकल्प से, या क्रूर भावना से, जिस उद्योग मे त्रस जीवो का हनन किया जाता है, वही महारभ की भूमिका मे आता है।

जिस देश मे अन्न की काफी जरूरत है, जिसे आधे से अधिक अन्न सुदूर विदेशो से मगाना पडता है, जिस देश के

---

* हत्थितावसत्ति ये हस्तिन मारयित्वा तेनव बहुकाल भोजनतो यापयन्ति।
—औपपातिक सूत्र टीका

के लिए अमेरिका और आस्ट्रेलिया से रद्दियाँ आती हैं और उनके बदले में करोड़ों रुपयों की गाढ़ी कमाई की सम्पत्ति बाहर चली जाती है और उस सम्पत्ति के बदले में सत्वहीन सड़ा-गला एवं निकम्मा अनाज मिलता है जिसको खाकर लोग तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो रहे हैं और उधर भी अभाव में लाखों आदमी मर गए और आज भी मर रहे हैं उस देश में प्याज की खेती का प्रश्न बहुत विचारणीय नहीं है। वहाँ तो पहले अन्न का समस्या है और उसी के समुचित समाधान के लिए सर्वप्रथम विचार करना होगा।

कल्पना कीजिए—किसी के खेत में अन्न नहीं उपजता। ऐसा मार्ग में से एक अपने खेत में आलू बो रहा है और दूसरा तम्बाकू बो रहा है तो तम्बाकू बोने में ज्यादा हिंसा है क्योंकि तम्बाकू व्यसन की वस्तु है जीवन-निर्वाह की वस्तु नहीं है। तम्बाकू जहर पैदा करता है और स्वास्थ्य का नष्ट करने वाला मादक पदार्थ है और उसे पैदा करने वाला केवल अपने स्वार्थ की भावना से ही पैदा करता है। उससे किसी प्रकार के परोपकार की आशा नहीं है किसी के जीवन-निर्वाह की सम्भावना नहीं है। भूख से मरने वाले को तम्बाकू खिलाकर जीवित नहीं रखा जा सकता। तम्बाकू खाने से मृत्यु दूर नहीं होगी बल्कि निकट ही आएगी।

आलू या प्याज को व्यसन की वस्तु नहीं बताया गया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आलू और प्याज की खेती में आरम्भ नहीं है। आरम्भ तो अवश्य है और अन्न की अपेक्षा विशेष आरम्भ है फिर भी वह महारम्भ

की भूमिका में नहीं है, अर्थात्—वह नरक-गमन का हेतु नहीं है।

एक आदमी के मन में आलू की उपज होने हैं और वह सोचता है कि लोगों को खुराक नहीं मिल रही है, तो मैं आलू उत्पन्न करके यथाशक्ति पूर्ति क्यों न करूँ? यही सोच-कर वह आलू की खेती करता है। दूसरा सोचता है कि तम्बाकू से दूसरों का स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो भले हो। उसे किसी के स्वास्थ्य से क्या मतलब! उसे तो पैसा चाहिए। इसीलिए वह तम्बाकू की खेती करता है। स्पष्ट है कि आलू की अपेक्षा तम्बाकू की खेती में अधिक पाप है। इस प्रकार आलू की खेती में अन्न की खेती की अपेक्षा अधिक पाप है और तम्बाकू की खेती की अपेक्षा अल्प पाप है। यही अनेकान्त का निर्णय है।

अभिप्राय यही है कि किसी भी कार्य में एकान्त रूप से आरम्भ की अल्पता या अधिकता का निर्णय होना कठिन है। 'अल्प और अधिक' दोनों ही ऐसे सापेक्ष शब्द हैं कि उन्हें कोई दूसरा चाहिए। हिन्दी भाषा में जैसे 'छोटा' और बड़ा शब्द सापेक्ष है। दूसरे की अपेक्षा ही कोई छोटा या बड़ा कहलाता है, अपने आप में कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। यही बात 'अल्प' और 'अधिक' के विषय में भी है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए एक उदाहरण ले लीजिए। किसी ने आपसे प्रश्न किया कि—त्रीन्द्रिय जीव की हिंसा में अल्प पाप है, या अधिक पाप है? तो आप उसे क्या उत्तर देंगे? कोई भी शास्त्र का ज्ञाता यही कहेगा कि

एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय की अपेक्षा अधिक पाप है और चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय की अपेक्षा अल्प पाप है।

हमारे कुछ साथी कृषि करने में महारंभ समझते हैं। यदि उनका मन्तव्य पूर्वोक्त अनेकान्तवाद के आधार पर हो तो मतभेद के लिए गुंजाइश ही नहीं है। यदि वे महा' की अधिक में सदारणा करके यह कहने कि कृषि-कार्य में वस्त्रादि के द्वारा आजीविका चलाने की अपेक्षा अधिक आरंभ है और कत्लखाना चलाने या सट्टा करने की अपेक्षा अल्प आरंभ' है तो कोई विवाद न रहता। अपेक्षाकृत अधिक आरंभ' और अल्प आरंभ मानने में कौन इन्कार कर सकता है? परन्तु जब कृषि में महारंभ बताया जाता है और वह महारंभ बतलाया जाता है जोकि नरक-गति का कारण है तो अनेकान्तवाद का परित्याग कर दिया जाता है और मतभेद खड़ा हो जाता है।

———

—: ८ :—

जीवन के चौराहे पर

जरा अपने से बाहर इस विराट विश्व की ओर दृष्टि-पात कीजिए। देखिए, जगत् मे कितने अगणित जीव-जन्तु भरे पडे हैं। नाना प्रकार के पशु-पक्षी, कीडे-मकोडे तो हैं ही, लाखो प्रकार की वनस्पति और दूसरे भी छोटे-वडे असख्य प्रकार के प्राणी आपको दिखाई देगे। उनकी आत्मा मे कोई मूलभूत अन्तर नही है। अन्तर है केवल शरीर का और आत्मिक शक्तियो के विकास का। इसी अन्तर ने मनुष्य मे और दूसरे प्राणियो मे बडा भेद पैदा कर दिया है। इसी लिए शास्त्र मानव-जीवन की गौरव-गाथा गाता है और मानव भी अपनी स्थिति पर गर्व करता है, अपने को धन्य मानता है। पर, मनुष्य को यह भी सोचना है कि इस जीवन के लिए उसे कितनी तैयारी करनी पडी है? किस प्रकार की साधनाएँ करनी पडी है?

बडी-बडी तैयारियाँ और साधनाएँ करने के बाद जो दिव्य-जीवन मिला है उसकी क्या उपयोगिता है? क्या, यह जीवन भोग-विलास मे लिप्त रहने के लिए है, धन सचय या मान प्रतिष्ठा के पीछे भटकते-भटकते समाप्त हो जाने के

लिए है ? क्या इसलिए है कि एक दिन संसार में यों ही आए और यों ही चल गए ?

जो आया है वह जाएगा तो अवश्य ही। चाहे कोई भिखारी हो दरिद्र हो अथवा राजा हो सेठ हो। यह आवागमन का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है आज भी चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा। प्रकृति के इस क्रम को रोकना आपके वश की बात नहीं है। चक्रवर्ती सम्राट् की शक्तिशाली सत्ता भी इसे बन्द नहीं कर सकती। यहाँ तक कि असंख्य देवी-देवताओं पर शासन करने वाला देवाधिपति इन्द्र भी इसे रोकने में असमर्थ है। संसार में कोई ऐसी जगह नहीं कि जहाँ हम जम कर बैठ गए तो अब उठेंगे ही नहीं। यद्यपि आप नहीं चाहते हैं कि हम न उठें किन्तु आपके चाहने की यहाँ कोई कीमत नहीं है। आप तो क्या बड़े-बड़े शक्तिशाली यहाँ आए और चले गए। जिनकी मदमाती सत्ता ने एक दिन संसार में भूकम्प पैदा कर दिया था जिनकी सेनाओं ने हिन्दुस्तान के कोने-कोने को रौंद डाला था और अपना खजाना भर लिया था उनकी शक्ति भी यहाँ विफल हो गई। लाखों वीरों की सुदृढ़ सेना एक ओर वीर भाव से खड़ी रही और जो बड़े-बड़े मंत्री यह कहते थे कि बाल की खाल निकाल देंगे और कोई न कोई रास्ता निकालेंगे परन्तु आवागमन के प्राकृतिक कार्य क्रम को रोकने में उनकी विलक्षण बुद्धि भी कुछ काम न दे सकी। देवी-देवता खड़े रहे उनसे भी कुछ नहीं बना। सारांश में हम देखते हैं एक साधारण आदमी संसार से विदा होता है तो लाचार और

बेबस होकर जाता है। और जब धनी या सम्राट् विदा होते हैं, तो वे भी लाचार और बेबस होकर ही विदा होते हैं।

बिना वर्ग-भेद के सभी के लिए यदि एक राह नहीं होती तो दुनिया का फैसला होना मुश्किल हो जाता। यही राह गरीब और अमीर को एक करने वाली है, और झोपड़ियों तथा महलो तक का एक जैसा फैसला कर देती है। दुनिया में और कितनी ही राह क्यो न हो, पर श्मशान की राह तो एक ही है, जिस पर सब को चलना है और जहाँ भिखारी से लेकर सम्राट् तक को जलकर मिट्टी मे मिल जाना है। यहाँ दो राह नही बन सकती, दो मंजिल नही हो सकती हैं। सब के लिए एक ही राह है, एक ही मंजिल है और उसी मे से सब को गुजरना है।

यह देखा गया है कि इन्सान की जिन्दगी मे अभिमान, प्रतिष्ठा, आदि जो भौतिक अलंकरण हैं, वे सब यही समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य, आगे क्या लेकर जाता है? महल, सोना-चाँदी, जेबर वगैरह सब यही रह जाते है। कुटुम्ब-कबीला, समाज और राष्ट्र सभी यहाँ छूट जाते हैं।

मानव-जीवन की सब से बडी जो विशेषता है, वह यही है कि मनुष्य सोच सकता है कि उसे यहाँ से क्या ले जाना है, क्या नही ले जाना है? खाली हाथ दरिद्र होकर लौटना है, या सम्राट् की तरह ऐश्वर्य की विराट साज-सज्जा के साथ वापिस होना है।

भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में एक सुन्दर

उदाहरण कहा है और उसके सहारे एक बहुत बड़ा सत्य प्रकाशित किया है। दूसरे शब्दो मे यह कहना चाहिए कि एक लघुकाय शब्द-सूत्र के सहारे करोड़ो मन सत्य का भार उतार दिया है। यह एक छोटा-सा दृष्टान्त अवश्य है किन्तु उसके पीछे एक बहुत बड़ी सचाई, जीवन का महत्त्वपूर्ण अध्याय छिपा पड़ा है। उत्तराध्ययन सूत्र मे आता है —

> जहा य तिन्नि वाणिया, मूल घेत्तूण निग्गया।
> एगोत्थ लहइ लाहं एगो मूलेण आगओ॥
> एगो मूल पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ।
> ववहारे उवमा एसा एव धम्मे वियाणह॥

भगवान् महावीर ने व्यापार करने वाले वणियो का उदाहरण दिया है और सौभाग्य से २५ वर्ष बाद आज वे ही मेरे सामने भी बैठे हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। उनमे से वैश्य ही वाणिज्य-व्यवसाय करते हैं और उनकी ही बात उदाहरण रूप मे यहाँ चलती है।

मानव की जिन्दगी मे व्यापार का क्रम तो चलता ही रहता है। जिस आत्मा ने दुनिया की इस मडी मे आकर व्यापार नही किया उसने क्या किया?

एक सेठ के तीन पुत्र थे। तीनो बुद्धिमान् और विचार शील थे पर वे घर मे ही पड़े रहते थे अत उनकी बुद्धि को परखने का प्रसग नही मिलता था। उनके विचारो को, चारित्र को और व्यक्तित्व को ठीक तरह पनपने का और विकसित होने का अवसर उपलब्ध नही होता था।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जो बडे होते है, उनके सामने छोटे पनपने नही पाते। कभी-कभी पिता अपने सिर पर सब कामो का भार लादे रहता है और पुत्रो को कोई भी काम स्वाधीनता के साथ करने का अवसर नही देता। बात-बात मे वह निर्देशन करता है—इस काम को ऐसे नही, ऐसे करो, यो नही, त्यो करो। इस वातावरण मे लडको को अपनी बुद्धि को जांचने और विकसित करने का मौका नही मिलता और वे बराबर सलाह लेने के ही आदी हो जाते हैं। फिर वे हर एक कार्य के लिए पूछते ही रहते है कि क्या करू, कैसे करू ? किसी भी सामान्य प्रश्न को स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने मे उनकी बुद्धि कु ठित-सी हो जाती है और फिर जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी यही परमुखापेक्षी प्रवृत्ति बनी रहती है।

किसी बडे वृक्ष के आस-पास कोई पौधा लगा दिया जाता है, तो वह बडा वृक्ष उसे पनपने नही देता। इसका अर्थ यह नही कि पिता, पुत्र की बुद्धि को विकसित नही होने देना चाहता। वह चाहे भले ही, पर वात्सल्य की गलत पद्धति के कारण वैसा हो नही पाता। पुत्र, पिता की सहायता का आदी हो जाता है और वह स्वतन्त्र रूप से अपने पैरो पर खडा नही हो पाता।

हाँ, तो वह सेठ बडा बुद्धिमान था। उसने सोचा—देखना चाहिए, कौन लडका कैसा है और आगे चलकर मेरे वश का उत्तरदायित्व कौन कितना निभा सकता है ? कौन मेरे कुल की प्रतिष्ठा को स्थायी रूप से सुरक्षित रख सकता है ?

मैं दुनिया भर की परीक्षा करता हूँ तो अपने लड़कों की परीक्षा भी क्यों न करूँ ?

सेठ ने एक दिन तीनों लड़कों को बुलाया और कहा—तुम सब समझदार और योग्य हो गए हो। जीवन के कार्य क्षेत्र में काम कर सकते हो। जो कुछ मैं करता हूँ वह तो तुम्हारा है ही। उसे मुझे कहीं अन्यत्र ले नहीं जाना है। किन्तु तुम मुझे यह विश्वास दिला दो कि तुम मेरे पीछे मेरी जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभा सकोगे।

लड़कों ने कहा—पिताजी फरमाइये क्या करें ?

हाँ तो 'क्या करें' ? इसी सवाल को हल करने के लिए तो पिता ने उन्हें बुलाया था। कमाने के लिए वह अपने लड़कों को बाहर नहीं भटकाना चाहता था। उसके पास आजीविका के सभी साधन मौजूद थे। परन्तु क्या करें' ? यह जो परमुखापेक्षी वृत्ति बन जाती है और बार-बार जो यह प्रश्न मन में पैदा हो-होकर रह जाता है इसी का उसे समुचित समाधान करना था।

सेठ ने कहा—करना क्या है ? चले जाओ। नाव को समुद्र में बहने दो और लंगर खोल दो डाँड तो तुम्हारे हाथ में है। वस्तुतः सफल जीवन का यही अर्थ है कि तुम कितने पुरुषार्थ से कितनी योग्यता से जीवन-नौका को सकुशल तट पर ले जाते हो ! जिस नाव में बैठे हो उसका लंगर यदि नहीं खोला है तो उसके चलाने का कोई अर्थ नहीं। खोल दिया जाए जीवन-नौका का लंगर और छोड़ दिया जाए लहरों पर ! जब जीवन-नौका लहरों के थपेड़े खाएगी

कभी-कभी ऐसा होता है कि जो बडे होते है, उनके सामने छोटे पनपने नही पाते । कभी-कभी पिता अपने सिर पर सब कामो का भार लादे रहता है और पुत्रो को कोई भी काम स्वाधीनता के साथ करने का अवसर नही देता । बात-बात में वह निर्देशन करता है—इस काम को ऐसे नही, ऐसे करो , यो नही, त्यो करो । इस वातावरण मे लडको को अपनी बुद्धि को जाँचने और विकसित करने का मौका नही मिलता और वे बराबर सलाह लेने के ही आदी हो जाते है । फिर वे हर एक कार्य के लिए पूछते ही रहते है कि क्या करूँ, कैसे करूँ ? किसी भी सामान्य प्रश्न को स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने मे उनकी बुद्धि कुंठित-सी हो जाती है और फिर जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी यही परमुखापेक्षी प्रवृत्ति बनी रहती है ।

किसी बडे वृक्ष के आस-पास कोई पौधा लगा दिया जाता है, तो वह बडा वृक्ष उसे पनपने नही देता । इसका अर्थ यह नही कि पिता, पुत्र की बुद्धि को विकसित नही होने देना चाहता । वह चाहे भले ही, पर वात्सल्य की गलत पद्धति के कारण वैसा हो नही पाता । पुत्र, पिता की सहायता का आदी हो जाता है और वह स्वतन्त्र रूप से अपने पैरो पर खडा नही हो पाता ।

हाँ, तो वह सेठ बडा बुद्धिमान था । उसने सोचा—देखना चाहिए, कौन लडका कैसा है और आगे चलकर मेरे वश का उत्तरदायित्व कौन कितना निभा सकता है ? कौन मेरे कुल की प्रतिष्ठा को स्थायी रूप से सुरक्षित रख सकता है ?

सूख आई, पर लक्ष्मी का नशा तनिक भी नहीं आया। वह दुश्चरित्र नहीं बना।

मजा तो यह है कि समुद्र मे डुबकी तो लगाए, किन्तु सूखा निकल आए। कोई तट पर बैठा रहे और कहे कि मैं सूखा हूँ भीगा नहीं तो ऐसे सूखेपन का कोई मूल्य नहीं है। यदि समुद्र मे गोता लगा दे और वापिस सूखा निकल आए भीगे नहीं तब कहा जा सकता है कि वास्तव मे जादू है चमत्कार है। इसी प्रकार यदि कोई धन वैभव पाकर भी सच्चरित्र बना रहे उसे नशा न चढे तब हम कहेंगे कि समुद्र मे गोता तो लगाया किन्तु फिर भी सूखा ही निकला। जब चारो ओर लक्ष्मी की झनकार हो रही हो फिर भी लक्ष्मी की मादकता से टकराकर न लगे और वासना की बौछार से बिना भीगे बाहर आ जाए तब तो कह सकते हैं कि यह एक कला है। आनन्द श्रावक ने ससार-समुद्र मे गोते लगाए थे फिर भी वह सूखा ही निकला। महावीर के परम भक्त राजा श्रेणिक आदि सभी ने ससार-समुद्र मे गोते लगाए हुए थे किन्तु सभी सूखे थे। चक्रवर्ती भरत भी ससार-समुद्र मे गोते लगाकर भी सूखे ही रहे थे। साराश मे यही अभिमत पर्याप्त होगा कि सासारिक कार्यों मे सलग्न रहते हुए भी फल की प्राप्ति मे लिप्त नहीं रहना चाहिए।

"न लिप्पइ भवमज्झे वि सतो जलेण वा पोक्खरिणीपलासो।

और—

जलं पोम्मं चले जाय नोवलिप्पइ वारिणा।"

यदि तुम्हें सफल जीवन की कला सीखना है तो कमल

और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होगे, तब पता लगेगा कि तुम्हारे अन्दर कितनी योग्यता है। यदि समुद्र मे तूफान आया है तो नाव को कैसे ले जाएँ, और कहाँ मन्द गति और कहाँ तीव्र गति दी जाए, आदि-आदि योग्यताएँ ही तो जीवन के सफल सचालन के लक्षण हैं।

पिता की बात सुनकर पुत्रो ने कहा - बात ठीक है। आपका विचार सही है। हम अपनी योग्यता की जाँच करेगे।

अब उनको योग्य पूँजी दे दी गई। टीकाकार कहते है कि एक-एक लाख रुपया तीनो को दे दिया और उनसे कह दिया गया कि-तीनो, तीन दिशाओ मे अलग-अलग चले जाएँ। अपनी दिशाएँ इच्छा के अनुरूप निश्चित कर सकते हैं।

तीनो पुत्रो ने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न देशो मे जाकर बडी-बडी पेढियाँ स्थापित की।

उनमे एक बडा चतुर और बुद्धिमान् था। उसने अपनी पूँजी ऐसे व्यवसाय मे लगाई कि वारे-न्यारे होने लगे। दिन दूना और रात चौगुना धन बढने लगा। वह बडा सच्चरित्र था। जैसे-जैसे लक्ष्मी आती गई, वह नम्र होता गया। उसने आस-पास के व्यापारियो मे अपनी धाक जमा ली। जहाँ कही भी रहा, बेगाना बनकर नही रहा। ऐसे रहा, मानो उन्ही के घर का आदमी हो और किसी को लूटने नही आया, किन्तु अपने-पराये सब का समुचित सरक्षण करने आया है। इस तरह उसने अपनी चारित्रिक प्रतिष्ठा जमा ली। उसके पास लक्ष्मी

खूब भाई पर लक्ष्मी का नशा तनिक भी नहीं आया। वह दुश्चरित्र नहीं बना।

मजा तो यह है कि समुद्र में डुबकी तो लगाए, किन्तु सूखा निकल आए। कोई तट पर बैठा रहे और कहे कि मैं सूखा हूँ भीगा नहीं तो ऐसे सूखेपन का कोई मूल्य नहीं है। यदि समुद्र में गोता लगा दे और वापिस सूखा निकल आए भीगे नहीं तब कहा जा सकता है कि वास्तव में जादू है चमत्कार है। इसी प्रकार यदि कोई धन वैभव पाकर भी सच्चरित्र बना रहे उसे नशा न चढ़े तब हम कहेंगे कि समुद्र में गोता तो लगाया किन्तु फिर भी सूखा ही निकला। जब धारा और लक्ष्मी की झनकार हो रही हो फिर भी लक्ष्मी की मादकता से ठोकर न लगे और वासना की बौछार से बिना भीगे बाहर आ जाए, तब तो कह सकते हैं कि यह एक कला है। आनन्द श्रावक ने ससार-समुद्र में गोते लगाए वे फिर भी वह सूखा ही निकला। महावीर के परम भक्त राजा चेटक आदि सभी ने ससार-समुद्र में गोते लगाए हुए थे किन्तु सभी सूखे थे। चक्रवर्ती भरत भी ससार-समुद्र में गोते लगाकर भी सूखे ही रहे थे। साराश में यही अभिमत पर्याप्त होगा कि सासारिक कार्यों में सलग्न रहते हुए भी फल की प्राप्ति में लिप्त नहीं रहना चाहिए।

"न लिप्पइ भवमज्झे वि सतो जलेण वा पोक्खरिणीपलासो।"

और—

"कम्मं णो कुज्जं कज्जे भाव भोगलिप्पइ वारिज्जा।"

यदि तुम्हें सफल जीवन की कला सीखना है तो कमल

और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होगे, तब पता लगेगा कि तुम्हारे अन्दर कितनी योग्यता है। यदि समुद्र मे तूफान आया है तो नाव को कैसे ले जाएँ, और कहाँ मन्द गति और कहाँ तीव्र गति दी जाए, आदि-आदि योग्यताएँ ही तो जीवन के सफल सचालन के लक्षण हैं।

पिता की बात सुनकर पुत्रो ने कहा - बात ठीक है। आपका विचार सही है। हम अपनी योग्यता की जाँच करेगे।

अब उनको योग्य पूँजी दे दी गई। टीकाकार कहते है कि एक-एक लाख रुपया तीनो को दे दिया और उनसे कह दिया गया कि-तीनों, तीन दिशाओ में अलग-अलग चले जाएँ। अपनी दिशाएँ इच्छा के अनुरूप निश्चित कर सकते हैं।

तीनो पुत्रो ने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न देशो मे जाकर बडी-बडी पेढ़ियाँ स्थापित कीं।

उनमे एक बडा चतुर और बुद्धिमान् था। उसने अपनी पूँजी ऐसे व्यवसाय मे लगाई कि वारे-न्यारे होने लगे। दिन दूना और रात चौगुना धन बढने लगा। वह बडा सच्चरित्र था। जैसे-जैसे लक्ष्मी आती गई, वह नम्र होता गया। उसने आस-पास के व्यापारियो मे अपनी धाक जमा ली। जहाँ कही भी रहा, बेगाना बनकर नही रहा। ऐसे रहा, मानो उन्ही के घर का आदमी हो और किसी को लूटने नही आया, किन्तु अपने-पराये सब का समुचित सरक्षण करने आया है। इस तरह उसने अपनी चारित्रिक प्रतिष्ठा जमा ली। उसके पास लक्ष्मी

आखिर, उसे भी यह कला सीखनी ही पड़ेगी। यह अपार संसार है यह दुर्गम दुनिया है। इसी में से अन्न-पान भी लेना है, ओढ़ना पहनना भी है और महसा में भी जाना है। आँख बन्द करके नहीं चल सकते, नाक बन्द करके नहीं जी सकते, और हाथ-पैर बाँधकर निष्क्रिय बैठ भी नहीं सकते। सब इन्द्रियाँ अपने गुण-कर्म स्वभाव के अनुरूप अपना काम करती ही रहेंगी। फिर साधु तो ऐसी कला सीखते हैं कि खाते पीते सुनते और देखते हुए भी मोह-वासना के कीचड़ में नहीं फँसते। दैनिक व्यवहार में प्रायः वे निन्दा भी सुनते हैं, स्तुति भी सुनते हैं, अच्छा या बुरा जैसा भी रूप आँखों के सामने से गुजरता है उसे देखते भी हैं। किन्तु निर्लिप्त भावना के कारण वे मोह-जन्य वासना के कुचक्र में नहीं फँसते, सदैव उससे परे ही रहते हैं क्योंकि सांसारिक मोह-वासना का कुचक्र साधु-जीवन को अध:पतन के गर्त में ले जाने वाला है।

अस्तु, कमल की यही कला आपको भी सीखना है। यदि भागना भी चाहोगे तो कब तक भागोगे? भगवान् महावीर का यह अटल सिद्धान्त है कि—'जिस किसी भी स्थिति में रहो किन्तु यह कला सीख लो कि कमल जल में रहता है और जल में रह कर भी सूखा ही रहता है।' यदि यह दिव्य दृष्टि जीवन में मिल गई, तो समझ लो कि जीवन की सफल कला मिल गई। जिसे जीवन की यह मंगलमयी कला मिल गई, वह साधक उत्तरोत्तर ऊपर ही उठता जाता है और सांसारिक मोह-वासना का कोई विकार उसकी प्रगति में बाधक नहीं होता।

से सीखो। जीवन-व्यापार को मफलता पूर्वक चलाने की महत्त्वपूर्ण कला जल मे खडे कमल से ही सीखी जा सकती है। कमल कीचड मे पैदा होता है, पत्थर की चट्टान, रेत या टीले पर नही। निस्मन्देह वह गहरे सरोवरो मे जन्म लेता है, फिर भी वह पानी से नही भीगता, क्योकि वह पानी से ऊपर रहता है। कमल की यह विशेषता है कि यदि उसके ऊपर पानी डाला जाए, या वर्षा का पानी पडे, तव भी उसमे ऐसी चिकनाहट होती है कि सब पानी वह जाएगा और वह अपने निर्लिप्त गुण के कारण सूखा का सूखा ही रहेगा। हाँ, तो जैसे कमल पानो मे पैदा होता है, फिर भी पानी के प्रभाव से सवथा अलग रहता है। इसी प्रकार सफल जीवन का भी आदर्श होना चाहिये।

एसा भूलकर भी न समझो कि कमल पानी मे भीगने के भय से बाहर क्यो नही भागता। यदि भागने का प्रयत्न करे तो वह एक क्षण भी जिन्दा नही रह सकता। इसी प्रकार तुम भी ससार के बाहर कैसे भाग सकते हो? और भाग कर जाओगे भी कहाँ? इस विश्व से बाहर कहाँ तुम्हारा ठिकाना है? कही भी जाओ, रहोगे तो ससार के वायुमडल मे ही। इसलिए, जब तक गृहस्थ हो, समार मे रहते हुए ही, कमल की भाँति निर्लिप्त रहने की कठिन साधना करो। ससार-सागर मे जीवन जहाज को सफलता पूर्वक चलाने के लिये इसके सिवाय और कोई दूसरा चारा नही है।

यदि साधु गोचरी के लिए जाए और वहाँ किसी आकर्षण वश उसका मन डगमगाने लगे तो, यह कैसे चलेगा?

श्राखिर, उसे भी यह कला सीखनी ही पड़ेगी। यह अपार संसार है यह दुर्गम दुनिया है। इसी में से अन्न-पान भी लेना है, श्रेष्ठ स्त्रियों और महलों में भी जाना है। आँख बन्द करके नहीं चल सकते, नाक बन्द करके नहीं जी सकते और हाथ पैर बाँधकर निष्क्रिय बैठ भी नहीं सकते। सब इन्द्रियाँ अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप अपना काम करती ही रहेंगी। फिर साधु तो ऐसी कला सीखते हैं कि खाते पीते सुनते और देखते हुए भी मोह वासना के कीचड़ में नहीं फँसते। दैनिक व्यवहार में प्राय वे निन्दा भी सुनते हैं स्तुति भी सुनते हैं अच्छा या बुरा जैसा भी रूप आँखों के सामने से गुजरता है उसे देखते भी हैं। किन्तु निर्लिप्त भावना के कारण वे मोह-जन्य वासना के कुचक्र में नहीं फँसते सदैव उससे परे ही रहते हैं क्योंकि सांसारिक मोह-वासना का कुचक्र साधु-जीवन को अध पतन के गर्त में ले जाने वाला है।

अस्तु, कमल की यही कला आपको भी सीखना है। यदि मायना भी चाहोगे तो कब तक मागोगे ? भगवान् महावीर का यह अटल सिद्धान्त है कि— "जिस किसी भी स्थिति में रहो किन्तु यह कला सीख लो कि कमल जल मे रहता है और जल में रह कर भी सूखा ही रहता है।" यदि यह दिव्य-दृष्टि जीवन में मिल गई तो समझ लो कि जीवन की सफल कला मिल गई। जिसे जीवन की यह मंगलमयी कला मिल गई, वह साधक उत्तरोत्तर ऊपर ही उठता जाता है और सांसारिक मोह-वासना का कोई विकार उसकी प्रगति में बाधक नहीं होता।

हाँ, तो उस सेठ के लड़के ने लाखों-करोड़ों कमाए। वह धन भी कमाता रहा और सदाचारी भी बना रहा। वह धन कमाकर जब घर लौटा तो नगर के लोग उसके स्वागत के लिए उमड़ पड़े। सेठ भी अपने परिवार के साथ हर्षोल्लास से गद्गद स्वागतार्थ दौड़ा। बड़े सम्मान के साथ, इज्जत के साथ और धूमधाम के साथ उसने नगर में प्रवेश किया। वह तो प्रफुल्लित था ही, साथ ही हर एक नगर निवासी भी हर्षोल्लास से भरपूर था।

सेठ का दूसरा लड़का भी बाहर गया, उसने भी किसी व्यवसाय में पूँजी लगाई। किन्तु वह अपनी बुद्धि एवं प्रतिभा का अच्छी तरह उपयोग न कर सका, फलतः उसने कुछ पाया नहीं, किन्तु साथ ही खोया भी नहीं। पिता की दी हुई पूँजी को बराबर बनाए रखा। यही उसकी बहुत बड़ी बुद्धिमानी थी। उसने ठीक ही सोचा—यदि पूँजी में बढ़ोतरी नहीं होती है तो अब चल देना चाहिए। घर पहुँचने पर यद्यपि उसका बड़े भाई की भाँति स्वागत नहीं हुआ, किन्तु अनादर भी नहीं हुआ। पिता ने उससे कहा—बेटा, खेद की कोई बात नहीं। तुम जैसे गए थे, वैसे ही लौट आए। कुछ खोकर तो नहीं आए यह भी तो एक कमाई है। कुछ न खोना भी तो कमाने के ही बराबर है।

सेठ का तीसरा लड़का लक्ष्मी की गर्मी में और नशे में पागल हो गया, फलतः वह दुराचार में फँस गया। उसने सारी पूँजी भोग-विलास और ऐश-आराम में उड़ा दी। जब सर्वस्व लुट चुका तो खाने को भी मुहाल हो गया। अन्त

में उसने भी घर लौटने की सोची किन्तु झोमझोम पोशाक की जगह चीथड़े पहिने हुए था प्रसन्नता की जगह आँसू बहा रहा था और स्वादिष्ट भोजन के नाम पर भीख माँगता आया था। जब उसने गाँव मे प्रवेश किया तो कोई सूचना नहीं भेजी और बीच बाजार से न होकर अन्धेरी गली मे से ही घर की ओर भागा। उसने मुँह पर कपड़ा ढँक लिया था जिससे कोई पहचान न सके। आखिर घर मे आकर वह रो पड़ा। घर वाला ने कहा—अरे मूर्ख ! तू तो मूल पूँजी को भी गँवा आया ?

हाँ तो यह संसार जीवन-व्यापार का एक बाजार है। हम मानव गति-रूप गाँव मे पहुँच गए हैं और व्यापार करने के लिये यहाँ बाजार मे एक स्थान मिल गया है। जो पहले नम्बर का व्यापारी होगा वह यहाँ और वहाँ अर्थात्—लोक और परलोक दोनों जगह आनन्द पाएगा। जब लौटेगा तो पहले से उसके स्वागत की तैयारियाँ होगी। जब यहाँ रहेगा तब यहाँ भी जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देगा और जहाँ कहीं अन्यत्र भी जाएगा वहीं मुबारक सन्देश सुनाता रहेगा। उसके लिए सर्वत्र आनन्द-मंगल और जय-जयकार होंगे। वह स्वर्गीय जीवन का अधिकारी है।

जो मूल पूँजी लेकर आया है अर्थात्—जिसने इन्सान की यह जिन्दगी पाई है और जो आगे भी इन्सान की जिन्दगी पाएगा उसके लिए कह सकते हैं कि उसने कुछ नया कमाया नहीं तो कुछ अपनी गाँठ का गँवाया भी नहीं।

परन्तु जो आता है इन्सान बनकर और वापिस लौटता है

कूकर-सूकर बनकर, वह फिर क्या हुआ ? यदि वहां पचास, या सौ वर्ष रहा, और लौटा तो कीड़ा-मकोड़ा बना, गधा-घोड़ा बना, या नरक का मेहमान हुआ तो वह हारा हुआ व्यापारी है। वस्तुत वह ऐसा व्यापारी है, जिसने अपने जीवन के लक्ष्य का अच्छी तरह निर्णय नही किया है।

हां, तो भारतीय चिन्तन की गूढ भाषा मे भावार्थ यह है कि इन्सान की जिन्दगी श्रेष्ठतम जिन्दगी है। अत जो करना है और जो करने योग्य है, वह सब यहां ही कर लेना चाहिए। यदि ऐसा नही किया गया, तब फिर कहां करेंगे ?

" इह चेदवेदीदय सत्यमस्ति, न चेदिहावेदी महती विनष्टि ।"

—केनोपनिषद्

"यहां का नाश सबसे बडा नाश है ! यहां की हार सब से बडी हार है !! यहां यदि अच्छी बाते न हुई तो यहां-वहां सर्वत्र सब से बडा अनादर है, अपमान है ।"

मानव, जीवन के चौराहे पर खडा है। यहां से एक रास्ता—स्वर्ग एव मोक्ष को जाता है , दूसरा—नरक को जाता है, तीसरा—पशु-पक्षी की योनि को , और चौथा—मनुष्य-गति को जाता है। अब यह तय करना है कि किस रास्ते पर चलना है ? चारो रास्तो के दरवाजे खुले पडे हैं। चारो ओर सडके चल रही है। एक ओर प्रकाश चमक रहा है, तो दूसरी ओर अन्धकार घिर रहा है। अब तू विचार ले कि अपनी जिन्दगी को किधर ले जाना चाहता है ! यदि तू सत्य और अहिंसा के सन्मार्ग पर चलेगा तो तू यहां भी आनन्द-

मगम पाएगा और आगे जहाँ कहीं भी जाएगा जन-ससार को दु ख के बजाय सुख की ही जिन्दगी देगा । देख ! यह दिव्य प्रकाश का आदर्श मार्ग है । यह वह प्रकाश है जो कभी बुझता नहीं पडता अन्धकार से नहीं घिरता ।

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है कि— 'हृदय मे जब धर्म के आचरण करने की पवित्र भावना उत्पन्न हो और सकल्प भी पक्का हो तो फिर टालमटोल करने की क्या आवश्यकता है ? 'मा पडिबध करेह' अर्थात्—'देरी मत करो । भूखे को जब भूख के समय भोजन मिल जाए तब क्या भूखा इन्तजार करेगा ? नहीं उसी वक्त खाएगा और दौडकर खाएगा ।

हाँ तो जब आध्यात्मिक भूख लगी हो जीवन-निर्माण की सच्ची लालसा जागृत हुई हो तो उस समय जीवन का जो महत्त्वपूर्ण मार्ग है सच्चाई का मार्ग है समाज एव राष्ट्र के हित का कल्याण-पथ है सत्यनिष्ठ होकर उसी पर चल पडो ! तनिक भी इन्तजार मत करो !! इस रूप मे तत्क्षण कारिता ही जीवन-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श है जो साक्षात् रूप मे हमारे सामने है । परन्तु लोग बहुधा कहा करते है जी हाँ बात ठीक है ! पर, अभी अवकाश नहीं है । यह क्या विचित्र चिन्तन है ? हृदय की इस मनोमय दुर्बलता को जितना भी जल्दी हो दूर कर देना चाहिए और जो कुछ भी सत्कर्म करना हो उसे यथाशीघ्र कर लेना चाहिए । क्योंकि समय की गति तेज है वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता किन्तु अवसर को अवश्य प्रकट कर देता है । अवसर भी

साकार रूप में प्रकट नहीं होता, पक्षी की भाँति अपने पंख ही फड़फड़ाता है। जो अपनी कुशाग्र बुद्धि से अवसर के पंख को पहिचान लेता है और अपने अभीष्ट कार्य को उस पंख से सुसम्बद्ध कर देता है, वह समय की द्रुतगामी गति के साथ प्रगति करता हुआ एक दिन अवश्य ही उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है।